चक्रवाल

रामधारीसिंह दिनकर

विषय-सूची

भूमिका

मैंने जब कविता लिखना आरम्भ किया, उस समय छायावाद अपने परिपाक के पास पहुँच चुका था और साहित्य में समीक्षा की भारतीय शैली के साथ उसकी पाश्चात्य शैली का भी प्रचलन होने लगा था। प्रत्युत्, कहना चाहिए कि रस और अलंकार-शास्त्र पर अवलम्बित रहने की बात तब तक ढीली पड़ने लगी थी और कविगण अधिकाधिक पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धान्त से प्रभाव ग्रहण करने लगे थे।

कला का प्रत्येक नया आन्दोलन कला-सम्बन्धी धारणाओं में परिवर्तन उपस्थित करता है और साहित्य में जब भी नये कवियों का उत्थान होता है तब उनके पीछे आनेवाली आलोचना भी नवीन हो उठती है। छायावाद के आविर्भाव के पूर्व हिन्दी में आलोचना की जो परिपाटी थी, छायावाद के आगमन के बाद वह बदलने लगी और कविताओं का अध्ययन उस पद्धति से किया जाने लगा जो पाश्चात्य आलोचना की पद्धति थी। वैसे तो, पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियों की चर्चा हिन्दी में द्विवेदी-युग में अथवा उससे कुछ पूर्व ही आरम्भ हो गयी थी, किन्तु, जिसे, सचमुच साथ होना कहते हैं, उस अर्थ में पाश्चात्य आलोचना द्विवेदी-युग के बाद ही हिन्दी-कविता के साथ हुई।

इसी प्रकार, जो कविता द्विवेदी-युग के बाद प्रचलित हुई, वह हिन्दी के लिए नवीन तो थी, किन्तु, उस दिशा में भी संकेत छायावाद-युग के पूर्व से ही मिलने लगे थे। ये संकेत मथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय, जगमोहन सिंह और श्रीधर पाठक में ही नहीं, प्रत्युत्, कहीं-कहीं भारतेन्दु और उनसे भी पूर्व घनानन्द में मिलते हैं। किन्तु, इतना होने पर भी, छायावाद यदि पूर्वयुगों से छिन्न मालूम होता है तो इसका एक बड़ा कारण यह है कि भारतेन्दु के बाद हिन्दी कविता की भाषा बदल गयी। यदि घनानन्द ने खड़ीबोली में लिखा होता तो सरलता से वे छायावाद के पूर्व-पुरुष मान लिये गये होते। किन्तु, यह नहीं हुआ। कुछ तो कविता की भाषा बदल जाने के कारण और कुछ पाश्चात्य प्रभावों के, प्रायः, सहसा ही पुंजीभूत हो उठने के कारण छायावाद-काल की कविता ने ऐसा रूप ले लिया जो उसे पूर्व-युगों से भिन्न कर देता है। फिर भी, जो नियम अन्य भाषाओं में घटित होनेवाली साहित्यिक क्रान्तियों पर लागू होते हैं, हिन्दी भाषा की साहित्यिक क्रान्तियाँ उनका सर्वथा अपवाद नहीं हैं।

साहित्य में प्रत्येक युग अपने पूर्ववर्त्ती युग के अनुभवों से शिक्षा लेकर आगे बढ़ता है और समाप्त होते-होते आगामी युग के लिए अपने अनुभवों का निचोड़ छोड़ जाता है। एक युग से दूसरे युग का यह जो क्रिया या प्रतिक्रिया का सम्बन्ध है उसके उदाहरण अपने साहित्य में, कम से कम, रीतिकाल से स्पष्ट मिलने लगते हैं।

हिन्दी में रीतिकाल की जितनी निन्दा हुई है, उतनी किसी और काल की नहीं। फिर भी, यह ध्यान देने की बात है कि पाश्चात्य जगत् में कविता की जो कसौटी आज मान पा रही है, उस पर हिन्दी के सभी कालों को कसें, तो, कदाचित्, रीतिकाल अन्य सभी कालों से श्रेष्ठ सिद्ध हो जायगा। क्योंकि हिन्दी का आदि-काल कला के लँगड़ाने का काल था और भक्तिकाल में, यद्यपि, विद्यापति, सूरदास, मीरा और तुलसीदास, सभी नियमों के अपवाद होने के कारण, आलोचना की नोंक से परे हो जाते हैं, किन्तु, शेष, कवियों के विषय में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने कला नहीं, धर्म और सदाचार की सेवा की है। किन्तु, इस कसौटी पर रीतिकाल का विरला ही कवि होगा जो खण्डित किया जा सके। आज की आलोचना की भाषा में यदि रीतिकालीन कवियों की काव्यसम्बन्धी धारणाओं को समेटा जाय तो सूत्र यह बनेगा कि कविता में वस्तु चाहिए, विचार नहीं तथा काव्य की शोभा के मुख्य कारण उसमें उठनेवाले चित्र होते हैं और ये चित्र शारीरिक होते हैं जिन्हें मन की आँखें स्पष्टता से देख सकें। यदि चित्रकारी कविता का अन्यतम गुण है तो यह मानने में तनिक भी कठिनाई नहीं रह जाती कि रीतिकाल हिन्दी कविता का अन्यतम काल था।

आलोचकों का जो संप्रदाय चित्रकारी को कविता का सबसे बड़ा गुण मानता है, उसे रीतिकाल की निन्दा करने में कठिनाई होगी। इसी प्रकार, जो आलोचक यह मानते हैं कि कविता विचार नहीं, केवल भाव है, वे भी, अपने सिद्धान्तों में परिवर्तन किये बिना, रीतिकालीन कविता की निन्दा करने में कठिनाई अनुभव करेंगे। किन्तु, हिन्दी में रीतिकाल की निन्दा हुई और इतनी हुई जितनी किसी और काल की नहीं हुई है। और यह निन्दा स्वामी दयानन्द के समय में आकर ही नहीं, प्रत्युत्, उससे पूर्व ही आरम्भ हो गयी थी। कदाचित्, कवियों की संख्या-वृद्धि से अथवा कविता के स्फीत (इंफ्लेटेड) हो जाने से "ठाकुर" अपने युग से अप्रसन्न हो गये और उन्होंने काव्य-रचना को सस्ता प्रयास मान कर कवियों की पंक्ति में दौड़ कर सम्मिलित होनेवाले लोगों को लक्ष्य करके कहा कि

डेल सों बनाय आय डालत सभा के बीच
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है।

उसी काल के एक अन्य कवि अपने समकालीन कवियों से इसलिए अप्रसन्न हो उठे कि कविगण अपनी प्रतिभा का सारा चमत्कार नारी-मूर्त्ति की रचना में दिखा रहे थे। इस कवि ने कवियों को असत्यवादी कहा है और उनके इस दावे का मजाक उड़ाया है कि हम सरस्वती के प्यारे बेटे हैं,

एती झूठी जुगुती बनावै औ कहावै कवि,
ताहू पै कहै कि हमें सारदा को वर है।

इन दो आलोचनाओं से इस बात का कुछ थोड़ा-सा आभास मिलता है कि रीतिकाल के अन्तिम चरण में आकर कविगण स्वयं यह सोचने लगे थे कि कविता की स्थिति ठीक नहीं है, उसमें कुछ न कुछ सुधार या परिवर्तन होना चाहिए। और इन दो कवियों के असंतोष का कारण यह नहीं दीखता कि कविता में चित्रों की भरमार हो गयी थी, प्रत्युत्, यह कि कविता के विषय सिमट कर नारी-अंगों पर आ टिके थे और दीर्घकाल तक एक ही प्रकार के रूपकों और उपमाओं के प्रयुक्त होने से काव्य में नवीनता बहुत कम रह गयी थी।

मात्र नारी-मूर्त्ति के चारों ओर चक्कर काटने में जो ग्लानि या कलंक है, उसका ज्ञान तो हिन्दी-कवियों को स्वामी दयानन्द के पवित्रतावादी आन्दोलन के बाद ही हुआ, किन्तु, उससे पूर्व भी वे कविता की प्रचलित धारा से असंतुष्ट होने लगे थे। रीतिकाल की सबसे बड़ी आलोचना, कदाचित्, यह है कि उसके ठीक बाद आनेवाले महाकवि भारतेन्दु ने अपना स्वर रीतिकाल से न मिला कर भक्तिकाल से मिलाया जो रीतिकाल के ठीक उस पार पड़ता है। रीतिकाल शुद्ध कला का काल था, उसमें विचारों की नहीं, केवल भावों की प्रधानता थी, वह अमिश्रित अथवा खाँटी कविता का काल था एवं उसके कवियों ने कारीगरी का इतना अच्छा उपयोग किया जितना और किसी काल के कवि नहीं कर पाये थे। आज की आलोचना के अनुसार, ये सारे गुण शुद्ध कविता के गुण हैं। फिर भी, ये गुण रीतिकाल को निन्दित होने से न बचा सके। इस स्थिति से दो शिक्षाएँ निकलती हैं। पहली तो यह कि साहित्य की धारा बराबर परिवर्तित होना चाहती है और दूसरी यह कि चित्र और भाव चाहे जितने भी बड़े गुण हों, किन्तु, विचारों का आधार लिये बिना, बहुधा, सुन्दर साहित्य भी निष्प्राण हो जाता है।

रीतिकाल के ठीक बादवाले काल में हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में जो सबसे बड़ी सांस्कृतिक घटना घटी वह स्वामी दयानन्द का पवित्रतावादी प्रचार था। जब स्वामी जी का आविर्भाव हुआ, उसके पूर्व ही, यह देश दासता की जंजीरों में भली

भाँति कस चुका था और अब इस विवश देश को यूरोपीय सभ्यता अपने रस की सूई पर सूई दिये जा रही थी। स्वामी जी इस अन्याय का विरोध करने को आये थे, अतएव, उन्होंने भारतीय मानवता को वीरता और ब्रह्मचर्य का संदेश दिया, संयम और सदाचार की शिक्षा दी, बुद्धिवाद और विवेक का उपदेश दिया। वे देश को पौराणिक संस्कार, रहस्यवाद, श्रृंगारिकता और रसिकता की छाया से निकाल कर बल और बुद्धिवाद की धूप में खड़ा करना चाहते थे। परिणाम यह हुआ कि ज्यों-ज्यों उनके उपदेश हिन्दी-भाषी जनता के हृदय में बसते गये, त्यों-त्यों, साहित्य का वह आदर्श निन्दित होता गया जिसे रीतिकाल के कवियों ने अपने सामने रखा था। भारतेन्दु ने रीतिकाल की निन्दा में कहीं कुछ कहा है या नहीं, इसका उदाहरण मुझे याद नहीं आता, किन्तु, पं० प्रतापनारायण मिश्र की 'केवल सुमुखि-अलक-उपमा लहि नाग-देवता तृप्यंताम्' में रीतिकालीन प्रवत्ति पर स्पष्ट व्यंग्य है। एक समय पंडित मदन मोहन मालवीय जी भी कविताएँ लिखते थे। एवं उनके भी एक सवैये में रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्ति पर चोट है :—

भारत चारहुँ ओर दुखी दुख भोगत बीति गे वर्ष हजारन।
ध्यान रतीक दियो चहिये दुख कौन उपाय सों होय निवारन।
सो सब दूरि रहै 'मकरन्द' समै इन बातन में किहि कारन।
होय सो होय इहाँ नहिं भूलनौ राधिका रानी कदंब की डारन।

कभी-कभी यह सोचने पर कि यदि भारत में यूरोप का आगमन न हुआ होता अथवा यदि स्वामी दयानन्द उस समय न आये होते जब उनका आगमन हुआ, तो रीतिकाल के बाद हिन्दी-कविता किस ओर को जाती, मुझे ऐसा लगता है कि वह या तो उधर को जाती जिस ओर जाने का संकेत उसे घनानन्द ने दिया था, अथवा उस ओर को जिधर उसे भक्त भारतेन्दु ले जा रहे थे। और सच पूछिये तो भक्त भारतेन्दु और प्रेमी घनानन्द, ये एक ही दिशा की ओर इंगित करते हैं जो दिशा विचारों नहीं, भावों की दिशा है, जो दिशा प्रचार नहीं, मात्र आनन्द की दिशा है। देशभक्त भारतेन्दु की कविता में जो विचार उतरे हैं, वे भारत-यूरोप-संघर्ष के परिणाम हैं, वे इस नवीन प्रेरणा से उद्भूत विचार हैं कि जब देश अथवा मनुष्यता पर संकट आया हो तब कवि को भी मात्र आनन्द-सृजन को छोड़ कर समाजोपयोगी ध्येयों की प्राप्ति में लग जाना चाहिए। शुद्ध कलावादियों की भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि रीतिकाल के बाद की हिन्दी-कविता कला की पराजय और जीवन की जय की कविता है।

कला की पराजय और जीवन की जय के सबसे बड़े दृष्टान्त भारतेन्दु-युग के बाद द्विवेदी-युग में दिखायी पड़े। यह वह समय था जब स्वामी दयानन्द के उपदेश हिन्दी-प्रान्तों में भली भाँति घुल चुके थे और चिन्तक तथा साहित्यकार जीवन को उस स्वच्छ दर्पण में देखने के अभ्यासी हो चले थे जो दर्पण स्वामी जी के उपदेशों से तैयार किया जा सकता था। द्विवेदी-युगीन काव्य के लिए हिन्दी में 'इतिवृत्तात्मक' विशेषण चलता है। एक आलोचक ने इस युग की कविता को शुभ्रवसना संन्यासिनी भी कहा है। किन्तु, सच पूछिये तो द्विवेदी-युग के कवि संन्यासी नहीं, गृहस्थ थे। स्वामी विवेकानन्द के मुख से कर्मठ वेदान्त और लोकमान्य तिलक के मुख से कर्मयोग-शास्त्र सुन लेने के बाद वे गृहस्थ के सिवा और कुछ हो भी कैसे सकते थे? द्विवेदी-युगीन कविता में वैराग्य की भावना नहीं है, न उसमें जीवन से भाग खड़ा होने का संकेत है। यही नहीं, प्रत्युत्, उसमें नारियों की भी निन्दा नहीं मिलती जो पहले के सभी वैरागी कवियों की विशेषता रही थी। इतिहास में देखा गया है कि जब भी समाज में वैरागियों और संन्यासियों का आदर बढ़ता है तब गृहस्थ और नारी-जाति के आदर में उसी अनुपात में कमी आ जाती है। इसके विपरीत, जब भी प्रवृत्ति का उत्थान होता है तब गार्हस्थ्य और नारी-जाति, दोनों का सम्मान पहले से अधिक हो जाता है। द्विवेदी-युग की कविता संन्यास नहीं, प्रवृत्ति और कर्मयोग की कविता है तथा वह नारियों के प्रति भी सम्मानशील है। उन्नीसवीं सदी में देश में सांस्कृतिक नवोत्थान की जो लहर उठी थी, उससे प्रेरित कविगण निवृत्ति और मायावाद से भाग रहे थे और वे गृहस्थ (यानी कर्मठ मनुष्य) और नारी, दोनों के मूल्य को समाज में ऊँचा उठाना चाहते थे। रीतिकालीन कविता की उस समय जो निन्दा हुई उसका भी मुख्य कारण यह नहीं था कि उस काल के कवियों ने कविता के सामाजिक उद्देश्य की उपेक्षा की थी, प्रत्युत्, यह कि उन्होंने नारियों को केवल नायिका बना कर छोड़ दिया था और, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, इस सिद्धान्त की उन्होंने पुष्टि कर दी थी कि नारी प्रेम-क्रीड़ा की सामग्री मात्र है।

द्विवेदी-युग की कविता अपेक्षाकृत नीरस और रुक्ष है। इसका एक कारण तो यह है कि इस युग में भाषा तैयार नहीं थी, अतएव, कविगण उसकी संभावनाओं का यथेष्ट लाभ नहीं उठा सके। दूसरे, द्विवेदी-काल को हम रीतिकाल के विरुद्ध उठी हुई प्रतिक्रिया का भी काल कह सकते हैं। चूँकि रीतिकाल के कवियों ने नारी के कामिनी-रूप पर अत्यधिक दृष्टि गड़ायी थी, इसलिए, द्विवेदी-युग के कवि नारी के कामिनी-रूप से भाग चले। द्विवेदी-युग के कवियों

में हम काम-भावना को दमित देखते हैं। नर और नारी के भीतर जो पारस्परिक आकर्षण का तार है, कैसे कहा जाय कि वह तार द्विवेदी-युग में टूट गया था? किन्तु, इस विषय में द्विवेदी-युगीन कवि अत्यन्त सावधान, बल्कि, चौकन्ना मालूम होते हैं, मानों, हर समय वे सोच रहे हों कि स्वामी दयानन्द पास ही खड़े सब कुछ देख रहे हैं। इस संयम का परिणाम यह हुआ कि इस काल की रचनाओं में जो नारियाँ चित्रित की गयीं, वे या तो सती-साध्वी देवियाँ हैं अथवा वीर क्षत्राणियाँ जो अपनी निर्भीकता और तेज से नारी-जाति में नूतन प्रेरणा भरती हैं। नारी का जो कामिनी-रूप है, वह इस काल में जानबूझ कर उपेक्षित छोड़ दिया गया। किन्तु, इसे मैं संन्यास नहीं, गार्हस्थ्य का लक्षण मानता हूँ। गृहस्थ के घर में केवल पत्नी ही नहीं होती, माँ, चाची, बहन और बेटियाँ भी होती हैं। और इन सब के सामने बोलते हुए हम कभी भी ऐसी बातें नहीं बोलते जो एकान्त कक्ष में बोली जाने के योग्य हैं। द्विवेदी-युगीन कवियों ने एकान्त कक्ष की वार्ता को साहित्य में लाने से इनकार कर दिया। इसे कवि की दुर्बलता कहें तो कह सकते हैं, किन्तु, यह ध्यान रखना चाहिए कि अनेक बातों में पुरुष का इस प्रकार लज्जित होना उसके पौरुष का शृंगार है।

शील की दृष्टि से द्विवेदी-युगीन कवियों का चरित्र अत्यंत प्रशंसनीय है। किन्तु, इस शील की अतिशयता के कारण कविता के साथ एक अन्याय हो गया। सारी कलाएँ नारी के कामिनी-रूप के इर्द-गिर्द चक्कर काटती आयी हैं और नारी की भाँवरी भरने का मोह वे आज भी नहीं छोड़ सकी हैं। कलाओं में, जो एक प्रकार की स्त्रैण कोमलता होती है वह, कदाचित्, इसी नारी-आराधना की देन है। द्विवेदी-युगीन कविता इस कोमल आकर्षण से वंचित हो गयी। किन्तु, इससे भी एक और बड़ी बात है जिसके कारण इस युग की कविता में कवित्व की मात्रा क्षीण दीखती है। नारी के कामिनी-रूप को छोड़ कर कवि जब उसके सती-साध्वी अथवा वीर-रूप की पूजा में लगे, तभी अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने यह मान लिया कि रीतिकालीन कविता के समान निरुपयोगी काव्य कोई काव्य नहीं है; श्रेष्ठ काव्य वह है जिसका कोई न कोई सामाजिक उपयोग हो, जो जीवन में पुण्य को बल और पाप को ह्रास देता हो। अर्थात् द्विवेदी-युगीन कवि कला को प्रचार का पर्याय माननेवाले निकले।

किन्तु, रसिक तो कविता को प्रचार नहीं मानते। वे कविता के समीप जाते ही इसलिए हैं कि कविता उन्हें आनन्द देती है, उनकी शिराओं को झंकृत करती है, उन्हें परिचित विश्व से निकाल कर अपरिचित लोक में ले जाती है

तथा क्षण भर को पृथ्वी से मुक्त करके उन्हें परियों और देवताओं के देश में पहुँचा देती है। और यही वह कार्य था जिसे करने में द्विवेदीयुगीन कविता अक्षम और असमर्थ रही। अतएव, जनरुचि ने माँग की कि कविता स्थूल को छोड़ कर सूक्ष्म रूप धारण करे तथा उड़ने में वह इतनी समर्थ हो कि उसके साथ पाठक भी कल्पना-लोक में विचरण कर सकें।

द्विवेदी-युग के बाद, हिन्दी में छायावाद नाम से जो आन्दोलन उठा, वह, मुख्यतः, द्विवेदी-युगीन काव्य की कल्पनाहीनता के विरुद्ध विद्रोह था। किन्तु, उसके और भी पहलू थे। मेरा अनुमान है कि छायावाद के समान कोई आन्दोलन रीतिकाल के अन्तिम चरणों में ही समय के गर्भ में आ चुका था। साहित्य में कोई भी धारा बहुत दिनों तक नहीं ठहरती। कारण, एक शैली के बहुत काल तक प्रचलित रहने से अभिव्यक्ति में एकरसता आ जाती है, एक ही प्रकार के शब्द बार-बार प्रयुक्त होने से अपना जादू खो बैठते हैं और लीक इतनी पिटी-पिटायी और परिचित हो जाती है कि उस पर चलनेवाला कोई भी कवि इस विश्वास से नहीं बोल पाता कि वह कोई नयी बात बोल रहा है। रीतिकाल की दुहराहट से उसी काल के अन्तिम चरण के कवि अधीर हो उठे थे और तभी बोधा और घनानन्द ने सवैयों के ही भीतर से कुछ ऐसे स्वर निकाले जो रीतिकाल के लिए बिलकुल नवीन लगते हैं। यह लक्षण कहीं-कहीं भारतेन्दु में भी मिलता है। जब वे कहते हैं, "स्रवनन पूरो होय मधुर सुर अंजन ह्वै दोउ नैन" तब वे अपनी रीति की पृष्ठभूमि को भूल कर एक नयी शैली का संकेत देते हैं। ऐसा लगता है कि यदि हिन्दी कविता की भाषा ब्रजभाषा से बदल कर खड़ी बोली न हो गयी होती तो छायावाद के समान कोई रोमांटिक आन्दोलन ब्रजभाषा में ही आया होता और हिन्दी कविता उस भंगिमा को प्रचुर मात्रा में उपस्थित करती जो बोधा, घनानन्द और भारतेन्दु में संकेतित हुई थी।

किन्तु, रीतियुग के अन्तिम कवियों का यह संकेत, ब्रजभाषा के साथ बिलकुल अवरुद्ध भी नहीं हुआ। जब खड़ीबोली कविता की भाषा बन गयी तब भी वह संकेत कविता के भीतर चलता रहा जिसके प्रमाण, पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, श्रीधरपाठक, जगमोहन सिंह (श्यामा-स्वप्न के लेखक), मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी की कुछ पंक्तियाँ हैं। किन्तु, अनेक कारणों से, ठीक इसी समय, हिन्दी-कविता में महाक्रान्ति घटित हो गयी जिसके परिणाम-स्वरूप कविता की शैली और भाव, दोनों, परिवर्तित हो गये और इस सत्वरता के साथ परिवर्तित हो गये कि इस आन्दोलन को लोगों ने आकस्मिक मान लिया।

किन्तु, क्या छायावादी आन्दोलन आकस्मिक था? छायावाद के अग्रणी कवियों ने अपने निबन्धों तथा भूमिकाओं में बार-बार यह बात कही है कि छायावाद के मूल भावों का संबन्ध उपनिषदों के भावों से है। जब यह आन्दोलन जीवित था तब अनेक बार छायावादियों ने कबीर, मीरा, रसखान, घनानन्द और बोधा का नाम लेकर यह दिखाने का प्रयास किया था कि यह आन्दोलन हिन्दी-कविता की शृंखला के साथ है। किन्तु, सब कुछ होने पर भी जनता का यह भ्रम बना ही रहा कि यदि बँगला में रवीन्द्रनाथ की प्रसिद्धि न हुई होती तो हिन्दी में यह नया आन्दोलन नहीं आता।

हिन्दी का छायावादी आन्दोलन रवीन्द्रनाथ की प्रसिद्धि से प्रेरित था या हिन्दी-कविता का स्वाभाविक विकास, इस गुत्थी को सुलझाना आसान नहीं है। परिवर्तन जब मन्द-मन्द चलता है तब वह केवल परिवर्तन कहलाता है, किन्तु, जब उसकी गति बहुत तीव्र हो जाती है तब उसे क्रान्ति कहते हैं। घनानन्द, बोधा, भारतेन्दु, श्रीधर पाठक, जगमोहन सिंह, मैथिलीशरण और रामनरेश त्रिपाठी में परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र नहीं थी। तीव्र वह तब हो गयी जब प्रसाद जी ने "प्रेमपथिक" की रचना की और माखनलाल जी की आरंभिक कविताएँ प्रकाश में आने लगीं। किन्तु, इन दो कवियों पर रवीन्द्रनाथ का कोई भी प्रभाव नहीं है। अतएव, यह स्थापना ठीक नहीं दीखती कि हिन्दी का छायावादी आन्दोलन रवीन्द्र की प्रेरणा से आया था। किन्तु, छायावाद के अन्य दो अग्रणी कवियों, निराला और पन्त, पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव स्पष्ट मिलते हैं, यद्यपि, महादेवी वर्मा फिर इस प्रभाव के क्षेत्र से बाहर चली जाती हैं। मिला-जुला कर यह कहना अधिक युक्तियुक्त लगता है कि नये आन्दोलन की तैयारी हिन्दी-कविता के भीतर आप-से-आप होती आ रही थी तथा प्रसाद जी और माखनलाल जी की रचनाओं तक वह हिन्दी की पूर्वागत धारा के समीप थी। हाँ, जब निराला और पन्त आये, उनके साथ कुछ रावीन्द्रिक प्रभाव भी हिन्दी-कविता में सम्मिलित हो गया।

यह भी विचारणीय है कि यद्यपि, सांस्कृतिक नवोत्थान की गूँज हिन्दी-प्रान्तों में स्वामी दयानन्द के समय से ही फैल रही थी, किन्तु, अंगरेजी शिक्षा का परिपाक हिन्दी-प्रान्तों में बीसवीं सदी में ही संभव हुआ। शिक्षा की दृष्टि से हिन्दी-प्रान्त बंगाल, मद्रास और बंबई से पीछे रहे थे। इसके सिवा, हिन्दी-प्रान्तों में नवोत्थान के नेता के रूप में सबसे पहले स्वामी दयानन्द आये, जिनका उद्देश्य यूरोप का अवरोध और पौराणिक हिन्दुत्व एवं ईसाइयत और इस्लाम, सबका

विरोध था। स्मरण रहे कि पौराणिक हिन्दुत्व धर्म की कवित्वपूर्ण व्याख्या है एवं ईसाइयत और इस्लाम में भी जो भक्ति और रहस्यवाद के तत्व हैं वे कवित्व को प्रेरित करनेवाले हैं। किन्तु, जब हिन्दी-प्रान्त स्वामी जी के उपदेशों के प्रभाव में आये तब साहित्य के अतीन्द्रिय संस्कार, जो कल्पना को विचरण का अवकाश देते हैं, दबने लगे। स्वामी जी के उपदेशों का काव्यमय रूप पं० नाथूराम शर्मा शंकर की रचनाओं में प्रकट हुआ। किन्तु, हिन्दी के सबसे बड़े कवि, श्री मैथिलीशरण गुप्त, यद्यपि, सनातन धर्मावलम्बी हैं, किन्तु, स्वामी जी के उपदेशों के संस्कारगत प्रभावों से वे भी न बच सके। साकेत के राम स्वामी दयानंद के "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का नारा लगाते हैं और गुप्त जी का अधिकांश साहित्य उस संयम को ध्यान में रख कर विरचित लगता है जिसका उपदेश स्वामी दयानन्द ने दिया था। इसके विपरीत, बंगाल में नवोत्थान का रूप ब्रह्म-समाज था जिसके भीतर ईसाई भक्ति और हिन्दू वेदान्त, दोनों का मिश्रण हुआ था। साथ ही, ब्रह्म-समाज यूरोपीय संस्कारों का अवरोध न करके उन्हें हिन्दुत्व में पचाना चाहता था। उसके भीतर भक्ति का गहरा पुट था और रहस्यवाद की प्रेरणा भी। कोई आश्चर्य नहीं कि उसके कवि रवीन्द्रनाथ हुए।

स्वामी जी द्वारा प्रवर्तित पवित्रतावादी आन्दोलन यदि समय पाकर शिथिल न हो गया होता तो हिंदी में छायावादी आंदोलन उस जोर से आता या नहीं, इसे संदिग्ध मानना चाहिए। किन्तु, शिथिल होने पर भी, छायावाद-काल में यह आन्दोलन कभी भी इतना शिथिल न हुआ कि कविगण उसके आतंक को बिलकुल भूल जायँ। यह बात छायावादी कवियों की नारी-भावना में खुलती है। रवीन्द्रनाथ में, फिर भी, कलाकारों का यह नैसर्गिक साहस विद्यमान था कि वे "विजयिनी"-जैसी उल्लंग शृंगार की कविता लिखें अथवा "स्तन" शीर्षक देकर पद्यों की रचना कर दें। किन्तु, छायावादी कवि अपनी वासना की अभिव्यक्ति खुल कर नहीं कर सके। जिस भय से द्विवदी युग के कवि कामिनी नारी का ध्यान करने से घबराते थे, उसी भय के मारे छायावादी कवि भी प्रत्यक्ष नारी के बदले "जुही की कली" अथवा "विहंगिनियों" का आश्रय लेकर अपने भावों का रेचन करते रहे। छायावाद-काल की नारी-भावना कुंठित-सी लगती है। यौन-वासना द्विवेदी-युग से दमित चली आ रही थी; छायावाद-काल में आकर वह फूटी तो अवश्य, किन्तु, इस प्रकार नहीं, जिसे हम स्वाभाविक कह सकें। छायावादियों की वासना उन्हें कुरेदती भी है और अपनी

अधीनता में भी ले जाती है, किन्तु, ये कवि बराबर यह कहते रहते हैं कि हमारी वासना वासना भले ही हो, किन्तु, हम ने उसे गंगा में नहला दिया है।

द्विवेदी-युग के बाद हिन्दी-कविता में जो नया आन्दोलन आया उसका परिचय देने के लिए छायावाद और रहस्यवाद, इन दो नामों का उल्लेख किया जाता है; किन्तु, दो नामों की आवश्यकता, कदाचित्, नहीं होनी चाहिए। यह आन्दोलन, रूप और स्वभाव में, अंगरेजी के रोमांटिक आन्दोलन के समान था और रोमांटिक कविता में रहस्यवादी तत्त्व रहते ही आये हैं। कठिनाई यह है कि भारतीय भाषाओं में अब तक भी कोई ऐसा शब्द प्रचलित नहीं हो सका जो रोमांटिसिज्म के पूरे अर्थ का द्योतन कर सके। छायावाद का लक्षण बताते हुए प्रसाद जी ने एक स्थान पर लिखा है कि "मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कहीं जाती है;" तथा "कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा-भूषण की तरह होती है।" किन्तु, ये उपमाएँ तो संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि का मर्म समझाने को प्रयुक्त हुई हैं। अतएव, इस व्याख्या से इतना ही स्पष्ट होता है कि छायावाद में ध्वनि की प्रधानता थी। इस सीमा को स्वयं प्रसाद जी भी जानते थे, इसलिए, इतने से ही संतुष्ट नहीं रह कर उन्होंने यह भी कहा है कि "बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया" तथा "ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे.......बाह्य उपाधि से हट कर आन्तर-हेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित हुआ।" इस पिछली सूक्ति से यह प्रत्यक्ष होता है कि छायावादी काव्य में वस्तुओं का बाह्य वर्णन न होकर उनका आन्तरिक रूप ही वर्णित या चित्रित किया जाता था। इसके सिवा, छायावाद का एक लक्षण प्रसाद जी ने उसकी वेदनाप्रियता को भी माना है।

किन्तु, सही होते हुए भी, इन लक्षणों को मैं छायावाद के परिचय के लिए यथेष्ट नहीं मानता। वास्तव में, छायावाद की विशेषता ध्वनि और वेदना-प्रियता नहीं, प्रत्युत्, भावुकता और कल्पना की अतिशयता तथा परिचित से दूर जाकर अपरिचित में विचरण करने का मोह था। ध्वनि तो सभी श्रेष्ठ कविताओं का गुण है और वेदना विरह-वर्णनों में भी प्रमुख रही है। इसी प्रकार, वस्तुओं की आन्तरिकता का स्पर्श किये बिना कोई भी श्रेष्ठ कविता नहीं लिखी जाती। ये लक्षण छायावाद पर घटित अवश्य होते हैं, किन्तु, इन्हें हम उसकी प्रमुख विशेषता नहीं मान सकते। अथवा यह कहना चाहिए कि वस्तुओं की आन्तरिकता

में प्रविष्ट होने की छायावाद में जो उत्कट चाह थी उसी के फलस्वरूप उसका कल्पना-पक्ष अत्यन्त विकसित हो गया।

छायावादी या रोमांटिक मनोदशा अत्यन्त तीव्र चेतना से उत्पन्न होती है और कल्पना की तीक्ष्णता के साथ इस मनोदशा का ऐसा मेल होता है कि अधिकांश रोमांटिक कवियों पर यह आक्षेप है कि वे सत्य से दूर भागते फिरते थे। रोमांटिक भावधारा का चरम विकास अंगरेज कवि शेली में हुआ, किन्तु, शेली की ही कविताओं के उद्धरण देकर आलोचकों ने रोमान्टिसिज्म के अवगुण भी दिखाये हैं। जो अव्यावहारिक है, जो अपने आप पर नियंत्रण नहीं रख सकता, जिसका बुद्धि-पक्ष उसके भावुकता-पक्ष से दुर्बल और क्षीण है तथा जो सामान्य तर्क-बुद्धि का अनादर करके भावनाओं के प्रवाह में बह जाता है, उसे हिन्दी में लोग, एक समय, छायावादी कहा करते थे और अंगरेजी में भी यदि ऐसे व्यक्तियों को रोमांटिक कहा जाय तो इस शब्द का बहुत ग़लत प्रयोग नहीं होगा। रोमांस का एक अर्थ प्रेम-लीला भी होता है, किन्तु, यहाँ भी, अधिक स्थलों पर, रोमांस त्याज्य गुण है। जो राजनीतिज्ञ परिणाम पर ध्यान दिये बिना जनता को अंधी क्रान्ति की ओर झोंकते हैं, साहित्य में उन्हें भी रोमांटिक कहने का रिवाज़ है। अर्थात् रोमांटिक विशेषण हम उस व्यक्ति के लिए रखते हैं जो बुद्धि से अधिक भावना के अधीन होता है।

जीवन का रोमांटिक दृष्टिकोण यह है कि मनुष्य अनिवार्यरूप से उन शक्तियों का आगार है जिनसे नूतन सृष्टियाँ रची जाती हैं, अतएव, उसकी प्रत्येक इच्छा को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता मिलनी ही चाहिए। क्रान्तियों का जन्म मनुष्य के इसी आत्मविश्वास से होता है, अतएव, सभी क्रान्तियाँ स्वभाव से रोमांटिक होती हैं। और इसी लिए, साहित्य का प्रत्येक रोमांटिक आन्दोलन, स्वयं वायवीयता में मग्न रहने पर भी, क्रान्तिकारी आन्दोलनों के प्रति सहानुभूतिशील रहता आया है। अंगरेजी के रोमांटिक कवि फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के प्रति सहानुभूतिशील थे एवं हिन्दी के छायावादी कवि भी भारतवर्ष में क्रान्ति की तैयारी को बड़े ही उत्साह से देखते थे। बुद्धिवाद और रोमांटिसिज्म में भेद यह है कि बुद्धिवादी व्यक्ति की दृष्टि में वे बातें आती हैं जो आवश्यक हैं और संभव भी; किन्तु रोमांटिक व्यक्ति आदर्शवादी होता है। वह संभावनाओं को देख कर नहीं चलता। जो बातें उसे अच्छी लगती हैं अथवा जिन्हें वह वांछनीय समझता है उनकी सम्भावना-असम्भावना पर विचार किये बिना ही वह उनका प्रचार करने लगता है। जीवन का जो सुप्रतिष्ठ क्लासिक रूप है उसकी बौद्धिक एवं

नैतिक सुरक्षा का भार बुद्धिवाद पर होता है। इसके विपरीत, रोमांटिक भावना विद्रोहिणी होती है और वह स्थापित समाज की आत्मरक्षा-परक दकियानूस प्रवृत्तियों को तोड़ कर नया समाज लाना चाहती है। जहाँ हो, वहाँ अड़े रहो, यह समाज के क्लासिक पक्ष का स्वभाव है। समाज को खींच कर आगे ले जाना, यह काम रोमांटिक नवयुवक करते है। इस संघर्ष में कुछ तो क्लासिक पक्ष की जकड़बन्दी दूर होती है और कुछ भावनावादियों पर बुद्धिवाद का प्रभाव पड़ता है। इसी तरह, समाज प्रगति करता है और इसी न्याय से साहित्य में भी प्रगति आती है। समाज को आगे बढ़ने की उत्तेजना रोमांटिक भावों से मिलती है, किन्तु, आगे बढ़ने मे दुर्घटना का जो भय है उसे बुद्धिवाद दूर करता है।

मनुष्य के भीतर दो प्रकार की शक्तियाँ है। एक शक्ति वह है जो हमें घृणा और क्रोध करने को उत्तेजित करती है, प्रेम और दया करने की प्रेरणा देती है। इसी शक्ति से संबन्धित वे भाव (साहित्य के स्थायी भाव) है जिन्हें साहित्य और कलाएँ अपना आधार मानती है। किन्तु, इसी के साथ मनुष्य के भीतर एक दूसरी शक्ति भी है जिससे हम सोचने और विचारने की योग्यता पाते हैं, जिससे हम यह निश्चय करते है कि कौन काम करने के योग्य है और कौन नहीं, कौन बात बोलने के योग्य है और कौन नही। बहुत-से भाव मनुष्य में भी होते है और पशुओं में भी। किन्तु, मनुष्य पशुओं से इसलिए भिन्न है कि वह भावों का बुद्धि से नियंत्रण कर सकता है। जिसे हम बुद्धिवाद या रेशनलिज्म कहते हैं वह और कुछ नही, भावों को बुद्धिपूर्वक सम अवस्था में रखने का ही नाम है। और जिसे हम संस्कृति कहते है, वह भी भावों के नियंत्रण अथवा परिष्कार से उत्पन्न होती है। क्रोध करना प्रकृति है, किन्तु, उसे वश में रखना संस्कृति का द्योतक है। काम की प्रेरणा प्रकृति है, किन्तु, बुद्धिपूर्वक उसे मर्यादा में रखना संस्कृति का लक्षण है।

इस बड़ी पृष्ठभूमि पर रख कर देखने से रोमांटिक भावदशा की दुर्बलताएँ कुछ अधिक स्पष्ट हो जाती है और तब यह भी समझ में आने लगता है कि सभ्यता की प्रगति के साथ ऐसी भावुक मुद्रा का अनादर क्यों बढ़ता जा रहा है और क्यों आज के चिन्तक तथा समीक्षाकार रोमांटिक मूल्यों को प्रोत्साहित करने के पक्ष में नहीं है। सभ्यता का कल्याण इस बात में है कि मनुष्य प्रत्येक क्षेत्र में संतुलित रहने का प्रयत्न करे। किन्तु, छायावाद या रोमांटिसिज्म संतुलन की स्थिति में कम रह पाता है। उत्साह की बात आने पर रोमांटिक कवि अंधी वीरता अथवा

अंधी क्रान्ति पर पहुँच जाता है तथा पस्ती की मनोदशा में वह निराशा को सौन्दर्य-पूर्ण, आँसू को श्रेष्ठ सर्वस्व और मृत्यु को अपना उद्धारक मान लेता है।

साहित्य में भावुकता के इस आतिशय्य से और भी दुष्परिणाम निकलते हैं। उदाहरणार्थ, अत्यन्त भावुक कवि अपने वर्ण्य विषय पर पूरा अधिकार नहीं रख सकता, न उसे यही ध्यान रहता है कि जो कुछ वह लिख रहा है वह कितने लोगों की अनुभूति से मेल खायेगा। साधारणीकरण की प्रक्रिया भी कवि की साधना का बड़ा क्षेत्र है, किन्तु, कितने ही भावुक कवि इस साधना में केवल इसलिए असफल रह जाते हैं कि वे दूसरों की पहुँच के भीतर आने को झुक नहीं सकते। भावुक व्यक्ति का एक दूसरा दोष यह होता है कि वह अपना देवता आप बनना चाहता है और वैयक्तिकता के इस मोह में उसकी प्रतिभा केवल धुआँ उठा कर रह जाती है, उससे प्रकाश नहीं फूट पाता।

यूरोप की रोमांटिक कविताओं का मनोविज्ञान की दृष्टि से जो अध्ययन किया गया, उसका परिणाम अधिकांश रोमांटिक कवियों के विपरीत निकला है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि अधिकांश रोमांटिक कवि स्नायविक दुर्बलता से पीड़ित (न्यूरोटिक) थे। उनमें प्रतिभा अवश्य थी, किन्तु, प्रतिभा के उन्मेष में वे जिन विचारों अथवा भावों की अनुभूति प्राप्त करते थे, उसे ठीक से लिखने की धीरता या शक्ति उनमें नहीं थी। वे सृष्टि के रहस्यों के भीतर प्रवेश करके उनकी सम्यक् व्याख्या करने अथवा उन्हें ठीक से समझने में भी असमर्थ थे। यही कारण है कि दर्शन के धरातल का स्पर्श करते ही वे रहस्यवादी बन जाते थे, क्योंकि, इसी धूमिल पद्धति से वे अपनी दुर्बलताओं को छिपा सकते थे या अपने आपको यह संतोष दे सकते थे कि सृष्टि के रहस्यों का साक्षात्कार उन्होंने कर लिया है। यौन भावनाओं के सम्बन्ध में भी मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि इनमें से अधिकांश कवि अतृप्त वासना से पीड़ित थे। किन्तु, अपनी इस पराजय को छिपाने के लिए उन्हों ने प्लेटोनिक प्रेम का यह आदर्श ग्रहण कर लिया कि नारी की शोभा छूने नहीं, देखने की वस्तु है, भोग नहीं, पूजा की सामग्री है।

कविता की रोमांटिक पद्धति अनिवार्य रूप से खोखली होती है, ऐसा मनोवैज्ञानिक भी नहीं मानते, क्योंकि शेक्सपियर आदि की पद्धति भी बहुत दूर तक रोमांटिक थी, किन्तु, रोमांटिक होते हुए भी उन्होंने जो कहना चाहा उसे ठीक से कह दिया है और सृष्टि के रहस्य जहाँ तक उनकी दृष्टि में आये, वहाँ तक उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी उन्होंने प्रभावोत्पादक ढंग से की है। और ये कार्य उन्होंने ठीक उसी सुस्पष्टता और निश्चिन्तता से किये हैं जैसे कोई भी वस्तुवादी

कलाकार कर सकता था। रोमांटिक पद्धति दूषित वहाँ हो जाती है जहाँ कवि में रहस्यों के भीतर घँसने की शक्ति का अभाव होता है अथवा जहाँ कवि कथ्य विषय को अपनी पहुँच से परे देखकर (अधिकांश कवि तो यह भी नहीं जान पाते कि कथ्य उनकी पहुँच से परे है या नहीं) बाहर-बाहर ही भावनाओं की घटा बाँध कर कविता समाप्त कर देता है।

रोमांटिसिज्म कविता का सर्वाधिक काव्यात्मक तत्त्व है और कविता यदि विज्ञान का प्रतिलोम है तो रोमांटिक कविता विज्ञान का सब से बड़ा प्रतिलोम समझी जानी चाहिए। रोमांटिसिज्म के स्पर्श से क्लासिक कवि भी पहले से कुछ बड़ा कवि हो जाता है और संयमशील महाकवियों में तो रोमांटिक प्रवृत्तियाँ ऐसा चमत्कार उत्पन्न करती हैं जैसा कभी-कभी ही देखने में आता है। रवीन्द्रनाथ और गेटे रोमांटिक थे, किन्तु, संयमशील होने के कारण, इन कवियों ने रोमांटिसिज्म के दोषों को अपने पास फटकने तक न दिया। किन्तु, शेक्सपियर, रवीन्द्रनाथ, गेटे और वर्डस्वर्थ, ये अपवाद ही अपवाद हैं। अपेक्षाकृत छोटे कवि तो रोमांटिक प्रवृत्तियों की अधीनता में जाते ही अतिरंजन के शिकार हो जाते हैं और जो उन्हें कहना है उसे छोड़ कर वे ऐसी बातें बोलने लगते हैं जिनका कथ्य मूल से कोई सीधा संबन्ध नहीं होता। इसीलिए, ऐसा दीखता है कि अधिकांश रोमांटिक कविताओं का सौन्दर्य प्रतिभा के रंगीन धुएँ का सौन्दर्य है, उनके भीतर अंगारे नहीं हैं।

किन्तु, इतना होने पर भी भावुकता साहित्यकार का बहुत बड़ा गुण है, बल्कि, कहना चाहिए कि उचित मात्रा में इस गुण के बिना कोई भी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति में उत्साह नहीं जगता, दया, प्रेम और घृणा नहीं होती, वह और चाहे जो कुछ हो, कवि नहीं है। कवि मानवता का वह चेतन यन्त्र है जिस पर प्रत्येक भावना अपनी तरंग उत्पन्न करती है, जैसे भूकंप-मापक-यंत्र में पृथ्वी के अंग में कहीं भी उठनेवाली सिहरन आपसे आप अंकित हो जाती है। सच पूछिये तो हम कवि उसी मात्रा में होते हैं जिस मात्रा में हम भावुक होते हैं और कवि हम तभी तक रहते हैं जबतक भावुकता हममें शेष रहती है। और केवल कवि ही नहीं, पाठक भी सहृदय, भावुक या रसज्ञ होते हैं। साहित्य की सारी पूँजी भावों को लेकर है। यदि भावुकता का सरोवर सूख गया तो कवि और पाठक, दोनों साहित्य के लिये बेकार है। परन्तु, भावुकता भावुकता में भेद है। एक भावुकता वह है जो अमर्यादित होने के कारण सस्ती और अर्थहीन हो जाती है, जैसे उस व्यक्ति का रोना जिसे चींटी ने काटा हो, मगर, जो इस प्रकार

रो रहा है, मानों, उसे साँप ने डस लिया हो ; अथवा मुस्लिम बंधुओं का यह क्रोध कि 'रिलीजस लीडर्स' किताब को लेकर दो देशों अथवा दो संप्रदायों के बीच युद्ध छिड़ जाना चाहिए। और वह भी भावुकता ही है जिसकी प्रेरणा से तुलसीदास ने रामायण लिखी अथवा गाँधी जी ने अपना जीवन अपने देश के लिए अर्पित कर दिया। भावुक केवल रोमांटिक कवि ही नही होते, भावुकता, क्लासिक कवियों का भी गुण है। और क्लासिक कवि चूँकि, साधारणतः, संयमशील होता है, इसलिए, जब भी उसकी भावुकता संयम का बाँध तोड़ कर ज़रा उभर आती है तब भावुकता का यह उभार उस कवि को और भी आकर्षक बना देता है। इसी प्रकार, रोमांटिक कवि जब, आशा के विपरीत, भावुकता पर लगाम कसता है, तब वह भी पहले की अपेक्षा कुछ और गौरवपूर्ण हो जाता है। इलियट ने ठीक ही रोमांटिसिज्म और क्लासिसिज्म को साहित्य की राजनीति कहा है, क्योंकि प्रत्येक सफल रोमांटिक कवि (जैसे वर्डस्वर्थ) किसी न किसी मात्रा में क्लासिक भी होता है और प्रत्येक क्लासिक कवि (जैसे सूरदास, तुलसीदास आदि) अनेक बार रोमांटिक हो उठता है। सम अवस्था अथवा मध्यम मार्ग की जैसे सर्वत्र महिमा देखी जाती है, वैसे ही, उसका साहित्य में भी महत्त्व है। निरी बुद्धि से कविता नहीं बनती, किन्तु, कोरी भावुकता भी कविता के लिए अपर्याप्त है। अनुभूति के समय भावुकता, किन्तु, रचना के समय बुद्धि का सहयोग, यही वह मार्ग है जिससे ऊँचे साहित्य का सृजन हो सकता है।

सुशृंखलता, सुसंबद्धता, पूर्वापर संबन्धों का निर्वाह, अभिव्यक्ति की स्वच्छता और सुस्पष्टता एवं कथन मे अधीरता तथा अशान्ति का अभाव, ये क्लासिक शैली के लक्षण होते है। किन्तु, इनमें से कोई भी गुण ऐसा नहीं है जिसके आने से रोमांटिक कविता दूषित हो जाय। यह और बात है कि रोमांटिक कवि इनमें से अनेक गुणों का निर्वाह करने में असमर्थ रह जाता है।

बहुत-सी अन्य भाषाओं के रोमांटिक आन्दोलनों के समान, हिन्दी के छायावादी आन्दोलन में भी दो प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय थीं। एक तो सृष्टि के रहस्यों को समझने की उत्सुकता या जिज्ञासा जो इस आन्दोलन का बौद्धिक पक्ष थी ; दूसरी, ऊँची से ऊँची सुन्दरता को देखने की कामना या चाह जिससे छायावादी आन्दोलन का रागात्मक पक्ष विकसित हुआ। द्विवेदीयुगीन और रीतिकालीन कवि वस्तुओं के सतही रूप तक ही गये थे। छायावादियों की विशेषता यह रही कि उन्होंने प्रत्येक रचना में सतह से नीचे उतरने का प्रयास किया। और, चूँकि उन्होंने वस्तुओं के भीतर जाने की कोशिश की

इसलिए, उन्हें ऐसी अनंत सुन्दरताओं के दर्शन भी हुए जो हिन्दी के लिए अछूती थीं। छायावादियों में वस्तुओं को नये क्षितिजों से देखने की जो जिज्ञासा थी, चीज़ों के भीतर डूब कर उनके सूक्ष्म रहस्यों को समझने का जो कुतूहल और औत्सुक्य था उससे कल्पना को प्रसरित होने की प्रेरणा मिली और हिन्दी-कविता में, प्रायः, विद्यापति, तुलसी और सूरदास के बाद, पहले-पहल, यह सिद्धान्त वेग से उभरा कि कल्पना की प्रचुरता के बिना कोई भी कविता नहीं लिखी जा सकती। और छायावादियों ने सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए जो अद्भुत प्रयास किया, उससे भी हिन्दी में पहले-पहल इस सिद्धान्त का संकेत मिला कि कविता का उद्देश्य ज्ञान-दान अथवा समाज-सुधार नहीं, केवल सौन्दर्य की सृष्टि है।

सामने के आवरण को हटा कर उसके पीछे छिपे हुए सत्यों को जानने की उत्सुकता और कल्पना के सहारे भाँति-भाँति की सुन्दरताओं को देखने की चाह, ये दो बातें हिन्दी के छायावादी आन्दोलन की दो प्रमुख विशिष्टताएँ थीं। किन्तु, यह आन्दोलन केवल यहीं तक सीमित नहीं था। इसके और भी अनेक पहलू थे जिनका सम्यक् विवेचन एक छोटे-से निबन्ध में अशक्य है।

यह आन्दोलन किसी एक कारण का परिणाम नहीं था। द्विवेदी-युग को समीप देख कर हम आसानी से कह देते हैं कि छायावाद द्विवेदीयुगीन इति-वृत्तात्मक काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप आया था। किन्तु, गहराई से देखने पर यह स्पष्ट दिखायी पड़ेगा कि छायावादी आन्दोलन का मूल इतना समीप नहीं था। मूलतः, यह भारत के उस सांस्कृतिक नवोत्थान का परिणाम था जिसका प्रवर्तन राजा राममोहन राय ने किया था और जिसके व्याख्याता केशवचंद्र सेन, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, श्रीमती एनीबेसेंट, लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी हुए हैं। कविता का यह प्रयास उस नयी मानवता की अभिव्यक्ति का प्रयास था जिसका जन्म भारत-यूरोप-संपर्क से हुआ था और जो अंगरेजी शिक्षा के कारण स्वाधीनता, उदारता, वैज्ञानिकता और बुद्धिवाद विषयक यूरोपीय विचारधाराओं की सहज उत्तराधिकारिणी हो गयी थी। द्विवेदी-युग तक की हिन्दी-कविता उस भारतीय मानवता की कविता है जो यूरोप से परिचित नहीं थी अथवा यदि थी तो स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में वह यूरोप से बचने के प्रयास में थी। किन्तु, छायावाद की कविता उस भारतीय मनुष्य की कविता है जिसकी आत्मरक्षा की चिंता दूर हो गयी है और जो स्वेच्छया यूरोप के गुणों का प्रसन्नता से वरण कर रहा है। जब सांस्कृतिक नवोत्थान का समय आता है, जातियों के कुछ पुराने सत्य दुबारे जन्म लेते हैं। उन्नीसवीं सदी के हिन्दू-नवो-

त्थान के क्रम में भी वेदों और उपनिषदों के सत्यों ने दुबारा जन्म ग्रहण किया और नवोत्थान के नेताओं ने यह घोषणा की कि हम इन प्राचीन सत्यों को साथ रखते हुए यूरोप के उपयोगी ज्ञान का सत्कार करेंगे। हिन्दू-नवोत्थान का ध्येय प्राचीन भारत से नवीन यूरोप की एकता की साधना था और यह ध्येय छायावादी काव्य पर भी पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है। प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी की कविताओं की रीढ़ भारत के प्राचीन सत्यों की अनुभूति है। केवल अभिव्यक्ति की शैली उन्होंने यूरोप की अपनायी है। और यूरोपीय शैली को अपनाने में भी वे इतने भारतीय रहे हैं कि हम आसानी से उनकी शैली को भारतीय शैली का विकास कह सकते हैं।

वास्तव में, यूरोप से नये ज्ञान के आगमन के साथ भारत की चेतना में एक प्रकार का भूकम्प-सा आ गया और भारतीय मनुष्य के भीतर अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ एक साथ जग पड़ीं, अनेक प्रकार की सुन्दरताओं को देखने की कामना स्फुरित हो उठी, परिचित से निकल कर अपरिचित भूमि में विचरण करने का उत्साह उमड़ पड़ा और रूढ़ियों एवं शास्त्राज्ञाओं को तोड़ कर भारतीय मानव पहले पहल उन लोकों की ओर पाँव बढ़ाने लगा जिनकी ओर जाने की उसे पहले इजाजत नहीं थी। ये सारी जिज्ञासाएँ, ये सारी उमंगें और ये सारे उत्साह, जिनकी जड़ें उन्नीसवीं सदी के मध्य तक पहुँचती हैं, छायावाद को सम्भव बनाने के लिए, शनैः-शनैः, काम करती आ रही थीं और जब छायावाद का आविर्भाव हुआ, उसने अपने ढंग पर इन सारी प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति दी।

छायावाद में रहस्यवादी तत्त्व कितना था, इस बात को लेकर कभी-कभी विचिकित्सा की जाती है। एक बात सत्य है कि छायावादियों में कोई भी कवि वैसा नहीं था, जैसे पहले के रहस्यवादी कवि कबीर, दादू, रैदास और मीरा या जायसी हुए थे, अर्थात्, छायावादियों में से किसी भी कवि का जीवन धर्म अथवा परोक्ष सत्ता से एकात्म होने के ध्येय पर अर्पित नहीं था। फिर भी, छायावाद के भीतर रहस्यवादी तत्त्व जब-तब काफी उभरा जिसका कारण यह है कि रोमांटिक भावधारा जब भी दर्शन के पास पहुँचती है, उसे दर्शन का रहस्यवादी पक्ष ही रुचिकर प्रतीत होता है। फिर भी, महादेवी को छोड़कर बाकी कवियों में रहस्यवाद का रूप परंपरा से बहुत भिन्न होकर आया है और, मुख्यतः, उसके दो रूप हैं। एक तो यह कि प्रकृति का जो रूप खुल कर बाहर आ गया है और हमारे चर्म-चक्षु के सम्मुख विद्यमान हैं, कवि अचरज की भाषा में उसकी व्याख्या करता है। दूसरा यह कि प्रकृति का जो रूप दृश्य के परे अगोचर और अदृष्ट

है, उसके समक्ष कवि अगाध विस्मय से अभिभूत हो जाता है। विस्मय की इन दोनों प्रकार की अनुभूतियों के लिए हिन्दी में सर्वात्मवादी अनुभूति, यह नाम चलता है। किन्तु, यह सर्वात्मवादी अनुभूति है क्या चीज़? स्पष्ट ही, छायावाद में जो बौद्धिक जिज्ञासा का भाव था, यह रहस्यवादी अनुभूति भी उसी जिज्ञासा का पहलू है। कवि जानना चाहता है कि यह दृश्य जगत् कहाँ से उछल कर आँखों के सामने आ गया है, अथवा जो अदृश्य और अगोचर है, उसका क्या रहस्य है। किन्तु, इस भेद को वह जान नहीं पाता। उसकी बुद्धि प्रकृति के रूपों से टकरा कर लौट आती है और परंपरा से उसने जो सुन रखा है, उसी बात को दुहराकर वह संतोष कर लेता है कि माया ब्रह्म का प्रसार है, कि हम जो कुछ देख रहे हैं, उसके भीतर और उसके परे कोई अज्ञात चेतन शक्ति व्याप्त है। किन्तु, ऐसी अनुभूतियों में नवीनता कहाँ है? यदि विश्व की समस्त रहस्यात्मक अनुभूति को सामने रख कर सोचें तो कहना पड़ेगा कि छायावादी कवियों ने रहस्यवादी अनुभूतियों की लड़ी में एक भी नयी कड़ी नहीं जोड़ी। प्रशंसनीय वे इसलिए हैं कि अदृष्ट और अगोचर को समझने की उन्होंने चेष्टा की। और निन्दनीय वे इसलिए नहीं हैं कि इस चेष्टा में सफलता केवल साधकों को मिलती है, उन्हें नहीं जो परम ज्ञान का मूल्य चुकाने को तैयार नहीं हैं।

नकली रहस्यवादियों से मुझे भय लगता है, फिर भी, एक बात है जो नकली रहस्यवाद के भी पक्ष में पड़ती है। कवि योगी या रहस्यवादी हो या नहीं, किन्तु, आदर्शवादी होने के कारण वह विश्व की आधिभौतिक व्याख्याओं को स्वीकार नहीं कर सकता। यही असंतोष उसे रहस्यवाद की ओर प्रेरित करता है और जब भी वह विश्व की आध्यात्मिक व्याख्या के लिए प्रयास करता है, तब मनुष्य की वह प्रवृत्ति कुछ ऊपर आ जाती है जो युगों से विश्व-प्रपंच के आध्यात्मिक समाधान की खोज में है। ब्लेक, ए० ई० और वर्डस्वर्थ भी योगी नहीं थे, न इलियट योगी हैं। किन्तु, इनकी कविताओं के भीतर जहाँ भी अदृश्य वास्तविकता को छूने का प्रयास है, वहाँ मानवात्मा के उस आध्यात्मिक स्वरूप पर श्रद्धा होती है जो आधिभौतिकता के घमासान में भी जीवित और चेतन है।

सृष्टि के अन्दर जो गहन रहस्य हैं उनके भीतर दार्शनिक और कलाकार, दोनों, प्रवेश करते हैं और दार्शनिक का भी साधन यहाँ बुद्धि से अधिक संबुद्धि (इनटुइशन) होती है जो, मुख्यतः, कला का साधन है। वस्तुओं के आन्तरिक रूपों को उभार कर ऊपर लाने में ही कला दृश्य और अदृश्य के बीच के प्राचीरों को भंग करती है और इसी क्रम से वह सान्त में अनन्त की झाँकी दिखलाती है

एवं बंधन और मुक्ति के भेदों का नाश करती है। कला चेतन और अचेतन, दोनों के मिश्रण से उत्पन्न स्थिति का नाम है एवं वह प्रकृति और मानवात्मा के बीच सेतु का निर्माण करती है।

द्विवेदी-युगीन कविता अधिकतर दैनिक जीवन में आनेवाले विषयों को लेकर लिखी गयी थी। दैनिक जीवन के विषय उपयोगी तो होते है, किन्तु, अति परिचय के कारण उनमें आकर्षण का अभाव होता है और जीवन की रुक्षता को भुलाने के बदले कवि और पाठक को वे उसकी और भी याद दिलाते हैं। छायावादी कवि अछूते सौन्दर्य और मादक नवीनता की खोज में थे, अतएव, वे दैनिक जीवन से भाग कर परियों के देश में पहुँच गये। परियों के देश का निर्माण कवियों का प्रिय कार्य रहा है; प्रत्युत्, यह कहना चाहिए कि परी-लोक की सफल रचना करनेवाले कवि अत्यल्प विरोधों के साथ श्रेष्ठ कवि माने जाते रहे हैं। छायावाद चूँकि कविता का अत्यंत काव्यात्मक आन्दोलन था, इसलिए, इस काल्पनिक जगत् की रचना करने में उसने भी यथेष्ट सफलता प्राप्त की। पन्त जी का "लायी हूँ फूलों का हास" नामक गीत इस विषय की श्रेष्ठतम रचना है और मेरा अनुमान है कि पंत जी के और चाहे जो भी गीत मुरझा जायें, उनके वे गीत और कविताएँ मुरझानेवाली नहीं हैं जिनमें स्वप्न, नक्षत्र, चन्द्रमा, प्रेम, अनंग, लहर, नदी, विहंग, आदि मनुष्य के सबसे प्यारे देवी-देवता बन कर आये है। छायावाद ने काव्य-संबन्धी जिस धारणा को सबसे अधिक पुष्ट किया वह यह मानी जायगी कि कविता स्वप्न है, कविता परियों की कहानी है, कविता रहस्य की वाणी है, कविता परिचित विश्व से बहुत दूर निकल जानेवाले कवि की आवाज है तथा जो व्यक्ति कविता के स्पर्श मात्र से, स्वतः, यह नहीं समझ सकता कि कविता क्या है, उसे किसी भी प्रकार यह समझना कठिन है कि कविता अमुक वस्तु होती है।

छायावाद की रहस्य-भावना छायावादियों की बौद्धिक जिज्ञासा का परिणाम थी। किन्तु, उनकी इस बौद्धिक शक्ति का जितना परिचय छन्दों के नये विधान, शब्दों के नवीन चयन और भाषा के नूतन शृंगार में मिला उतना और कहीं नहीं। छायावाद-युग की सबसे बड़ी देन यह रही कि उसके यंत्र-गृह में, एक समय कर्कश समझी जानेवाली, खड़ी बोली गल कर मोम हो गयी। कितने आश्चर्य की बात है कि पं० सुमित्रानन्दन पंत को उत्तराधिकार तो श्री मैथिली-शरण जी गुप्त की भाषा का मिला था, किन्तु, अपने लिए उन्होंने पल्लव की भाषा तैयार कर ली। छायावाद-काल में भाषा ने जो रूप धारण किया उसी का यह परिणाम हुआ कि खड़ीबोली में भी कविता कविता-सी लगने लगी। यह ठीक

है कि पन्त और निराला ने कविता की जो भाषा प्रस्तुत की, वह, ठीक उसी रूप में, आगे के कवियों को स्वीकृत नहीं हुई, किन्तु, मेरी या बच्चन की कविताओं की भाषा भी छायावादी युग के प्रयोगों से शिक्षा लेकर तैयार हुई है। और इस युग ने छन्दों में तो इतनी विविधता उत्पन्न की कि, सचमुच ही, हिन्दी-कविता की वीणा सहस्र तारोंवाली हो गयी।

छायावाद के दो अन्य लक्षण भी उल्लेखनीय हैं। एक तो अतीत की ओर आसक्ति से देखने की प्रवृत्ति और दूसरा जीवन के सरल रूप पर लौट चलने का भाव। भारत में अतीत की ओर देखने का एक प्रबल कारण तो यह भी था कि यह जाति दासता के पाश में आबद्ध थी और वह अतीत-स्मरण के द्वारा अपने गौरव को जगा रही थी। किन्तु, इसके सिवा, छायावाद को अतीत की ओर देखने में एक प्रकार का सुख भी मिलता था जिसका राजनीति से कोई संबन्ध न था। रोमांटिक आन्दोलन का मूलाधार भावुकता है और भावुकता जब वर्त्तमान से असंतुष्ट हो जाती है तब, स्वभावतः, वह अतीत की ओर लालसा से दौड़ती है क्योंकि दूर के ढोल सुहावने होते हैं। और सरल जीवन पर लौट चलने का मोह भी यह बतलाता है कि कवियों को सभ्यता की कर्कशता से चोट लगी होगी। यों, सरल जीवन की महिमा भारत में सदैव प्रसिद्ध रही थी। कुछ यह कारण भी हो सकता है कि थुरो, एमर्सन, व्हिटमैन, वर्डस्वर्थ और कालरिज ने सरल जीवन के आदर्श को जो उत्थान दिया था, काल-क्रम में, उसका प्रभाव यहाँ भारतवर्ष में भी पड़ा।

कविता में प्रगीतों का जो महत्त्व है, वह किसी और काव्य का नहीं। काव्य के अन्य रूपों में कुछ भूसे और छिलके भी होते हैं। किन्तु, प्रगीत का काम केवल बीज से चलता है और बीज का भी उसमें वही अंश प्रधान होता है जिसमें उत्पन्न करने की शक्ति है। प्रगीत काव्य का निचुड़ा हुआ रस होता है और छायावाद, मुख्यतः, प्रगीतों का आन्दोलन था। छायावाद-काल में हिन्दी के कुछ अद्भुत गीत लिखे गये जो हिन्दी के सभी गीतों में मिश्रित कर दिये जायँ तब भी अपनी ज्योतिर्मयता के कारण वे अलग पहचान लिये जायेंगे। इससे भी बड़ी बात यह हुई कि छायावादी प्रयोगों ने गीतों की विशाल भूमि का द्वार उन्मुक्त कर दिया। छायावाद के बाद हिन्दी में जितने भी प्रकार की कविताएँ लिखी गयी हैं, उन में गीतों की संख्या सब से विशाल है और इनमें से कितने ही गीत ऐसे हैं जो अपनी झंकार से हमारे पूरे जीवन को झंकृत कर देते हैं।

यह आन्दोलन विचित्र जादूगर बन कर आया था। जिधर को भी इसने एक मुट्ठी गुलाल फेंक दी, उधर का क्षितिज लाल हो गया। हिन्दी की राष्ट्रीय

कविताएँ जो अब तक उपदेशों और प्रवचनों का नीरस भार ढोती आयी थीं, इसी काल में आकर अनुभूतियों के सच्चे आलोक से जगमगा उठीं और सीधे उपदेशों का आश्रय बनना छोड़कर उन्होंने अनुभूति के जोर से जनता का हृदय हिलाना शुरू कर दिया। राष्ट्रीय कविताएँ भी प्रचार न होकर अनुभूतियों का जीवित कोष होती हैं, यह बात माखनलाल, नवीन और सुभद्राकुमारी चौहान की रचनाओं को देखकर अनायास स्पष्ट हो जाती है। छायावाद अपना काम बड़ी उमंगों के साथ कर रहा था, किन्तु, सुशिक्षित जनता के बीच भी उसकी कविताओं का कोई विशेष प्रचार न था, हाँ, भावुक किशोर छात्र उन्हें अवश्य पढ़ते थे। ऐसे समय में छायावाद-कालीन राष्ट्रीय कविताओं ने बड़ा काम किया, क्योंकि, मुख्यतः, उन्हीं को लेकर जनता और समकालीन काव्य के बीच सम्बन्ध का तार अनुस्यूत रहा।

छायावाद के आगमन से पूर्व ही प्रसिद्ध होनेवाले कवियों में एक मैथिली-शरण जी गुप्त ही ऐसे निकले जिन पर नये आन्दोलन का यत्किंचित् प्रभाव पड़ा और इस प्रभाव से उनकी कविताओं में भी नया रंग दमकने लगा। द्वापर, यशोधरा, साकेत का नवम सर्ग और झंकार के कुछ गीत उन्होंने छायावाद-युग में ही लिखे थे। उनके अनुज श्री सियाराम शरण जी गुप्त ने भी छायावाद से प्रेरणा ग्रहण की तथा अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने इस प्रेरणा की अभि-व्यक्ति क्लासिक पद्धति से की। छायावाद-युगीन हिन्दी कविताओं में श्री सियारामशरण की कविताओं का, किसी न किसी दिन, अद्भुत मूल्य आँका जायगा, क्योंकि इस काल में वे एक ऐसे कवि हुए हैं जिसने प्रवाह में अपने को बहने नहीं दिया, जिसने भावुकता को दबा कर उससे अपनी क्लासिक शक्ति की वृद्धि की। क्लासिक उन्हें मैं इसलिए मानता हूँ कि उनकी शैली और भंगिमा में उद्वेग का कहीं नाम भी नहीं है।

छायावादी आन्दोलन ने हिन्दी में बड़ा काम किया, किन्तु, उसकी अपनी उपलब्धियों का भविष्य में क्या महत्त्व होनेवाला है? जब यह आन्दोलन जीवित था, उसकी रचनाओं को पढ़ने की थोड़ी-बहुत उत्सुकता, सब में नहीं, तो छात्रों के एक अल्प भाग में अवश्य थी। किन्तु, पाठ्य-क्रमों को बाद दे दें तो अब उन कविताओं को पढ़ने की इच्छा बहुत कम दिखायी देती है। और ये बहुत कम लोग भी वे हैं जो कारण-विशेष से हिन्दी कविताओं से परिचित होना चाहते हैं, इसलिए नहीं कि छायावादी कविताएँ उन्हें अपने आकर्षण से खींचती हैं। खड़ी बोली के कवियों में अब तक केवल श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ही हैं जिनके

बारे में यह कहा जा सकता है कि जनता उन्हें पढ़ना चाहती है और यदि पाठ्य-क्रमों से निकाल भी दी जायँ तो उनकी कितनी ही पुस्तकें जनता में, फिर भी, चलती रहेंगी। किन्तु, यही बात "कामायनी" के बारे में नहीं कही जा सकती। और तो और, जो छात्र कामायनी पढ़कर कालेजों से निकल जाते हैं उन्हें भी अवकाश के समय कामायनी उलटने की इच्छा नहीं होती। फिर भी, देश में जहाँ-तहाँ ऐसे मनीषी हैं जो कामायनी को आनन्द के लिए पढ़ते हैं। किन्तु, उनकी संख्या अत्यंत अल्प है।

परिमल तो, खैर, कभी पाठ्य पुस्तक रहा ही नहीं, न सौ-पचास उदीयमान कवियों को छोड़ कर और कोई उसे पढ़ने जाता है। हाँ, जब हम छायावादी युग की कृत्तियों पर विचार करते हैं तब प्रत्येक बार "राम की शक्ति-पूजा" हमारे सामने आती है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि संपूर्ण छायावाद-युग की श्रेष्ठतम कृति के रूप में इस रचना का उल्लेख अत्यंत समीचीन है। किन्तु, छायावाद-युग में छायावाद के एक अग्रणी कवि द्वारा विरचित होने पर भी यह कविता छायावाद की कृति नहीं है। वह तो शुद्ध क्लासिक पद्धति की रचना है। इसी प्रकार, छायावाद-युगीन जो भी कविताएँ उस काल की सफल कृतियों के रूप में समादृत चली जा रही ह (जैसे पंत जी का नौका-विहार, एक तारा, अप्सरा, मौन निमंत्रण, लायी हूँ फूलों का हास आदि कविताएँ तथा महादेवी जी के नीरजा के पद और निराला जी की सरोज-स्मृति, मैं अकेला, शिवाजी का पत्र आदि) वे ठीक वे ही रचनाएँ हैं जिनमें अभिव्यक्ति की स्वच्छता और सुस्पष्टता तथा पूर्वापर सम्बन्धों का अच्छा निर्वाह है अर्थात् जिन कविताओं को लिखते समय कवि ने क्लासिक शक्ति का सहारा लिया था। उस समय भावुकता के अंधे तूफान में जो असंख्य कविताएँ लिखी गयीं उनमें बहुत ही थोड़ी रचनाएँ आज जीवित कही जा सकती हैं और आशा यह है कि इन्हीं थोड़ी रचनाओं में से कुछ को काल सौ दो सौ वर्ष आगे ले जायगा। बौद्धिक दृष्टि से भारत अभी भी विश्व का पिछड़ा हुआ भाग है, किन्तु, इस देश में भी दिनोंदिन बौद्धिक शक्तियाँ विकास पर हैं तथा ज्यों-ज्यों हमारी बौद्धिकता में वृद्धि होती है, निरी भावुकता हँसी की वस्तु बनती जा रही है। यह ठीक है कि संबुद्धिवादियों की कल्पना के अनुसार, मानवता बुद्धि के धरातल से ऊपर उठकर किसी अन्य धरातल पर पाँव रखनेवाली है। किन्तु, यह धरातल भावुकता या चेतना की सनसनाहट का धरातल नहीं होगा। बुद्धि से ऊपर उठने पर मनुष्य, कदाचित्, संबुद्धि के स्तर पर जानेवाला है और संबुद्धि का

अर्थ बुद्धि की दुर्बलता नहीं, अपितु, उसकी अत्यंत समाधिस्थ एवं केन्द्रित प्रक्रिया है।

जब प्रगतिवादी आन्दोलन का आरंभ हुआ, आलोचकों ने छायावाद को पलायनवाद कहना आरंभ किया और छायावाद को यह गाली उन्होंने इस संतोष के साथ दी, मानों, पलायनवादी कहने से बढ़कर साहित्यकार की और कोई निंदा नहीं हो सकती। और हमलोग भी, जिनकी आँखें अभी-अभी खुली थीं, और जो पूरे मन से प्रगतिवादी धारा के साथ थे, मन ही मन, इस आलोचना से प्रसन्न होते थे। किन्तु, आज मुझे स्पष्ट दिखायी देता है कि प्रगतिवादियों ने उस समय छायावाद की असली कमजोरी को नहीं समझा। पलायनवाद से केवल इतना ही सूचित होता है कि समाज के सामने जो समस्याएँ थीं, छाया-वादियों ने उन पर कोई ध्यान नहीं दिया और एकान्त में वे अपनी कल्पना के साथ सुहाग मनाते रहे। किन्तु, यह तो कविता का भाव-पक्ष है और कवि के लिए भावों की सूची निर्धारित करने का अधिकार दूसरों को तो क्या, स्वयं कवि को भी प्राप्त नहीं होता। कवि जिन संस्कारों में पल कर युवा होता है, जिस वातावरण में साँस लेकर बढ़ता है, वह वातावरण और वे संस्कार उसके भावों और संदेशों का आप से आप निश्चयन कर देते हैं। प्रत्येक कवि अपनी भाव-दिशा और संदेश को पूर्व-निर्धारित पाता है और वह प्रयास करने पर भी उनसे भाग नहीं सकता। कौन कवि किन भावों से प्रेरित होकर लिख रहा है, कला में इस प्रश्न का स्थान हमेशा गौण रहता आया है। मुख्य प्रश्न तो यही हो सकता है कि कवि के भीतर जो भाव उठते हैं उन्हें वह पूरी सामर्थ्य के साथ लिख पाता है या नहीं। कवि में केवल प्रेरणा की गुदगुदी ही नहीं, उसे सम्यक् रूपेण चित्रित करने की शक्ति भी चाहिए। इनमें से पहला गुण भावुकता से उत्पन्न होता है, किन्तु, दूसरे गुण का आधार बौद्धिक विदग्धता और साधनाओं द्वारा अर्जित कठोर शक्ति है। छायावाद की असली दुर्बलता इसी दूसरे पक्ष की दुर्बलता थी। छायावादी कवि अपनी प्रेरणा को ठीक से पहचानने में असमर्थ थे और इससे भी बड़ी असमर्थता उनकी यह थी कि अनुभूति और प्रेरणा का जो स्वरूप उनकी समझ में आया भी, उसे वे प्रभुत्व में लाकर पूरी विदग्धता से नहीं लिख सके।

हिन्दी के आलोचक अभी भी इस खोज में तल्लीन हैं कि किस कवि के भाव मानवतावादी, क्रान्तिवादी, प्रगतिवादी, प्रतिक्रियावादी अथवा विनाशवादी हैं। मेरे देखने में अब तक ऐसी आलोचनाएँ बहुत कम आयी हैं जिनमें विषयों

को छोड़ कर काव्य की शैली पर विचार किया गया हो। भावों का काव्य की गरिमा बढ़ाने में बड़ा हाथ होता है, जिसके प्रमाण तुलसीदास जी की रामायण और इकबाल तथा इलियट की कविताएँ हैं। किन्तु, काव्य ऊँचे भावों के बिना भी अत्यंत महान् हो सकता है,जिसके उदाहरणों में बिहारी-सतसई, मियाँ नजीर अकबराबादी की कविता और कीट्स के सेंट एगनेस ईव की गणना की जा सकती है। कविता का महत्त्व ज्ञान-दान में नहीं, सौन्दर्य की सृष्टि में है। ज्ञान देनेवाली विद्याएँ साहित्य से बाहर भी मौजूद हैं जो इतना ज्ञान देती है जितना किसी भी कविता के लिए अदेय है। और जब कविता में ऊँचे विचारों का प्राधान्य हो, तब भी कवि की गरिमा के कारण वे विचार नहीं, वह काव्यात्मक प्रणाली होगी जिससे विचारों का भाव-पक्ष उभार पाता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि हमारे आलोचक आज भी अपनी जेब के नब्बे प्रतिशत अंक भावों की ऊँचाई के लिए ही देते हैं। किन्तु, यह स्थिति अब समाप्त होने ही वाली है। हमारी भाषा में भी वे सत्समालोचक उत्पन्न होकर रहेंगे जो कवि को दंडित या पुरस्कृत करने के लिए भावों की उपयोगिता और अनुपयोगिता पर न जाकर, परिश्रमपूर्वक यह देखने की चेष्टा करेंगे कि कवि को जो कुछ कहना था उसे उसका सम्यक् ज्ञान था या नहीं तथा यदि ज्ञान था तो उस भाव को उसने पूरी समर्थता के साथ लिखा है या नहीं। आश्चर्य की बात है कि, प्रायः, सभी आलोचक कविता को कला का पर्याय मानते है, किन्तु, आलोचना के समय वे काव्य की शैली को छोड़कर उसमें वर्णित भावों से उलझकर अपना कर्तव्य समाप्त कर देते हैं। कोई विस्मय नही, यदि हिन्दी का आलोचना-पक्ष आज भी उसके अन्य कितने ही पक्षों से अधिक कमजोर है।

२

रीति-युग से लेकर छायावाद-काल तक की हिन्दी कविता की प्रगति का यह संक्षिप्त विवरण उपस्थित करने के बाद, अब वह प्रसंग आता है जब मुझे आत्मकथा की शैली का सहारा लेना चाहिए।

जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है, मैंने प्रेमपूर्वक पहले पहल तुलसीकृत रामायण ही पढ़ी थी। मेरे बचपन में रामायण का हमारे गाँव में अच्छा प्रचार था। शाम होते ही मेरे दरवाजे पर श्रोता आ जुटते, मै लालटेन या दिये के पास बैठ कर रामायण का सस्वर पाठ करता और भाई साहब उसका अर्थ कहते जाते। यह सिलसिला कई साल तक चला और इस कार्य को मैंने कभी भी बोझ नहीं

समझा। रामायण का गान करने में मुझे स्वयं आनन्द आता था और चूँकि मेरे गान को गाँव के लोग प्रसन्न होकर सुनते थे, इससे रामायण का पाठ मुझे और भी आनन्ददायी लगता था। किन्तु, रामायण पढ़ते समय कभी भी मुझे तुलसीदास बनने की इच्छा हुई हो, ऐसा याद नहीं आता है। उस समय रामायण में मेरी दिलचस्पी बहुत कुछ वैसी ही रही होगी जैसी कि गाँववालों की होती है। तुलसीदास पूज्य थे, मनुष्यों के बीच देवता के समान थे, वे कवि नहीं, सन्त थे; फिर मैं उनका अनुकरण करने का साहस कैसे करता?

जहाँ तक याद है, कविता लिखने की प्रेरणा मुझमें नाटक और रामलीला देखकर उत्पन्न हुई। जब भी मैं नाटकवालों के मुख से कोई गीत सुनता, दूसरे दिन उसी धुन में एक नया गीत बना लेता। यह भी प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के ही आस-पास की बात है जब मैं आठ-दस साल का रहा होऊँगा। तब सन् १९२० ई० में कानपुर के प्रताप में "एक भारतीय आत्मा" की वह कविता छपी जिसे उन्होंने लोकमान्य तिलक की मृत्यु पर लिखा था। इस कविता का मुझ पर अत्यंत प्रभाव पड़ा। वह कविता तो मुझे दूसरे ही दिन कंठ हो गयी, अब मैं पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ ढूँढ़-ढूँढ़ कर पढ़ने लगा। यह देश में असहयोग का ज़माना था और जो भी पत्र-पत्रिका मेरे हाथ लगती, उसमें पढ़ने को कोई न कोई राष्ट्रीय कविता ही मिल जाती। उन दिनों जबलपुर से छात्र-सहोदर नामक मासिक पत्र निकलता था जिसके संपादक कविवर अंचल जी के पिता पं० मातादीन शुक्ल थे। मेरे भाई (श्री बसन्त सिंह) इस पत्र के ग्राहक थे और वह नियमित रूप से हमारे यहाँ आता था। मैं हर महीने इस पत्र की राह बड़ी ही आतुरता से देखता और महीने का अंक मिलते ही मैं उसमें प्रकाशित पद्यों को चाट जाता। संयोग ऐसा कि इस पत्र की भी सारी कविताएँ राष्ट्रीयता से ही ओत-प्रोत होती थीं।

पत्र-पत्रिकाओं से रस पाकर जब मैं समकालीन काव्य-पुस्तकों की ओर बढ़ा तब मुझे भारत-भारती मिली, जयद्रथ-वध और शकुंतला तथा किसान पढ़ने का अवसर मिला एवं जब श्री रामनरेश त्रिपाठी का "पथिक" निकला, मैं उस ग्रन्थ में आपाद-मस्तक डूब गया। पथिक मुझे इतना पसन्द आया जितना और कोई ग्रन्थ नहीं रुचा था। उन्हीं दिनों मैंने पथिक के अनुकरण पर "वीर बाला" और जयद्रथ-वध के अनुकरण पर "मेघनाद-वध", ये दो खण्ड-काव्य लिखने आरंभ किये, किन्तु, दोनों के दोनों प्रयास तीन-चार सर्गों तक चलकर ही अवरुद्ध हो गये। अलबत्ते, सर्गबद्ध खंडकाव्य के रूप में मेरी पहली पुस्तक विक्रम संवत्

सन् १६८६ में निकली जिसका नाम "प्रण-भंग" था और जिसका उल्लेख, कैसे तो, पंडित रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में हो गया है।

हिन्दी-कविता में छायावाद नाम से जो आन्दोलन चल रहा था, उसका कुछ थोड़ा परिचय मुझे १६२५-२६ में मिला, जब मैं आठवीं या नवीं कक्षा में पढ़ता था। स्कूल में, कभी-कभी, सरस्वती, सुधा और माधुरी के अंक मिल जाते थे, किन्तु, मतवाला मैं नियमित रूप से पढ़ता था। छायावाद की कविताएँ मेरी समझ में कम आती थीं और, अक्सर, काव्य-प्रेमी मित्रों से बात करते समय मैं इन कविताओं का विरोध ही करता था। तब सन् १६२८ ई० में मुजफ्फरपुर में अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन पं० पद्मसिंह शर्मा के सभा-पतित्व में हुआ। शर्मा जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में छायावाद की काफी निन्दा की थी जिसके विरोध में वहाँ साहित्य-संघ के अधिवेशन में श्री रामनाथ-लाल सुमन ने निबन्ध पढ़ा तथा पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन ने नये कवियों का पक्ष लेते हुए बड़ा ही ओजस्वी भाषण दिया। इसी सभा का सभापतित्व करते हुए हरिऔध जी ने कहा था कि मुझे तो मैथिलीशरण की अपेक्षा सियारामशरण की कविताएँ ही अधिक पसन्द हैं। छायावाद को अधिक समीप से समझने की प्रेरणा मुझे इसी सम्मेलन में प्राप्त हुई।

मैट्रिक पास करके आगे पढ़ने को मैं जब पटने आया, तब पत्र-पत्रिकाओं और काव्य-संग्रहों को देखने का अवसर मेरे लिए बहुत सुलभ हो गया। उन दिनों, साहित्य का नेतृत्व सुधा और माधुरी, इन दो पत्रिकाओं के हाथ था और सारे साहित्यिक विवाद, मुख्यतः, इन्हीं पत्रिकाओं में छपते थे। पटना आने पर छायावादी कविताओं से मेरा परिचय तो अवश्य बढ़ा, किन्तु, इन कविताओं पर मुझे कभी भी निश्छल श्रद्धा न हो सकी। ऐसा लगता है कि इन कविताओं की प्रसादहीनता मेरे लिए सबसे बड़ी बाधा थी। मेरे भीतर बचपन का अर्जित तुलसी का संस्कार था और, पीछे, जब मैं कबीर का अध्ययन करने लगा, तब कबीर से भी यही प्रेरणा मिली कि कविता समझ में आने योग्य होनी चाहिए जिससे पाठक उसका अधिक से अधिक आनन्द ले सकें। आज ऐसी बहुत-सी छायावादी कविताएँ मेरी समझ में भी आने लगी हैं, जो उन दिनों दुरूह लगती थीं। किन्तु, इस दुरूहता के भय ने उस समय मुझे छायावादी आन्दोलन के साथ एकात्म होने नहीं दिया।

अपनी तत्कालीन रुचि का स्मरण करने पर मुझे ऐसा याद आता है कि छायावादी युग में भी मेरे सबसे प्रिय कवि मैथिलीशरण, माखनलाल, सुभद्रा,

नवीन और रामनरेश त्रिपाठी ही थे। कालेज में मुझ में शेली और वर्ड्स्वर्थ, दोनों के लिए उत्साह था और बँगला सीख कर तभी मैंने रवीन्द्र और नजरुल से भी परिचय बढ़ा लिया था। पीछे, जब मैं नौकरी करने लगा, तब मैंने उर्दू सीखी और इकबाल तथा जोश का मैं भक्त बन गया। यों भी, कविता-कौमुदी के उर्दू-भाग की प्रति मैं, अक्सर, अपने साथ रखता था, क्योंकि उर्दू कविता में अभिव्यक्ति की जो स्वच्छता रहती है उसका मैं सदा से कायल रहा हूँ। छाया-वादी कवियों में से एक समय श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के "अन्तर्जगत" और श्री जनार्दन प्रसाद झा द्विज की कविताओं को मैंने भी पढ़ा था। खेद की बात है कि छायावाद के विवेचन के क्रम में अब लोग इन कविताओं का नाम भी नहीं लेते हैं। किन्तु, जब छायावादी आन्दोलन अपने ज़ोर पर था, इन दो कवियों की बानगी दिये बिना छायावाद के समर्थन की प्रक्रिया पूरी नहीं समझी जाती थी। और इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद की धूमिल भावुकता के जैसे प्रमाण इन कवियों की रचनाओं में उतरे थे, वैसे अन्यत्र दुर्लभ थे। यह भी विचित्र बात है कि निराला जी की कविताओं से अधिक समीपता मेरी पंत जी की कविताओं से रही और प्रसाद से बढ़कर मैं श्री मैथिलीशरण के पास रहा। और जो लोग मुझसे कुछ पहले या बाद से लिखते रहे हैं, उनके बीच भी मेरी रुचिगत आत्मीयता श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री रामसिंहासन सहाय मधुर (बलिया वाले) नरेन्द्र, बच्चन, सुमन, नेपाली और नागार्जुन से ही बैठती है।

अपनी रुचि का मैंने जो विवरण दिया है, उससे एक सिद्धान्त बड़ी आसानी से निकाला जा सकता है कि मैं सौन्दर्य से अधिक सुस्पष्टता का प्रेमी हूँ। कवि-ताओं में अनुभूतियों की बारीकियाँ या ऊँचे-ऊँचे भाव मुझे तभी जँचते हैं, जब वे अनुरूप शैली में स्वच्छता से अभिव्यक्त किये गये हों। जब भी कोई ऐसी कविता मेरे सामने आती है जिसमें अभिव्यक्ति सबल और स्वच्छ नहीं दीखती, जिसमें कल्पना का रंगीन धुआँ और कोमल शब्दों का जाल मात्र होता है, मैं उस कविता को वहीं छोड़ देता हूँ। प्रायः, पच्चीस-तीस वर्षों तक विभिन्न कविताओं का अध्ययन करते-करते मेरी यह धारणा दृढ़ हो गयी है कि अभिव्यक्ति की अस्वच्छता से पीड़ित कविताओं के पक्ष में जो कुछ भी कहा जाता है, सब बकवास है। यह काव्य के सरल या कठिन होने का प्रश्न नहीं है। "राम की शक्ति-पूजा" अत्यन्त कठिन काव्य है, किन्तु, उसमें एक छोटा टुकड़ा भी ऐसा नहीं है जिसमें अभिव्यक्ति अस्वच्छ रह गयी हो। पंत जी की "लायी हूँ फूलों का हास" अत्यंत वायवीय कृति है, किन्तु, उसमें की अनुभूतियाँ जिस स्वच्छता के साथ

चित्रित हुई हैं उसे देख कर आश्चर्य होता है। अनेक कवियों की प्रतिभा इसलिए बर्बाद हो जाती है कि जो अनुभूतियाँ उनके बस की हैं, जिन अनुभूतियों को वे सफाई के साथ लिख सकते हैं, उन पर कलम चलाने में वे अपना अपमान समझते हैं और जिन अनुभूतियों पर उनका बस नहीं चलता, अमरता के लोभ में, वे उन्हीं के पीछे दौड़ कर अपनी यह जिन्दगी भी गँवा बैठते हैं। न जानें कब यह बात अनेक आलोचकों और कवियों की समझ में आयगी कि कविता की महत्ता का कारण भावों की उच्चता नहीं, अभिव्यक्ति की सफाई होती है। बिहारीलाल के भाव कितने ऊँचे हैं? क्या लड़कियों की अदाएँ बहुत ऊँचे भावों का प्रतिनिधित्व करती हैं? फिर भी, बिहारी ऐसे कवि हैं जिनको सामने रखकर अच्छे से अच्छे कवियों की सफलता आँकी जा सकती है।

किन्तु, ये बातें तो मैंने पंडितों का उच्छिष्ट खा-खाकर बहुत बाद को सीखीं। सच तो यह है कि जब मैंने कविता लिखना आरंभ किया, उस समय काव्य-संबन्धी सिद्धान्तों का मुझे कुछ भी ज्ञान न था, न मैं यही जानता था कि कविता क्यों लिखी जानी चाहिए। इधर-उधर से यह बात ज़रूर सुन रखी थी कि कविता लिखनेवालों को पिंगल अवश्य पढ़ लेना चाहिए और, तदनुसार, पिंगल पर मैंने कुछ श्रम भी किया था। किन्तु, पिंगल के अतिरिक्त रस और अलंकार के जो ग्रन्थ अपने यहाँ कवि-शिक्षा के लिए अनिवार्य समझे जाते थे, उनका मुझे नाममात्र को ही ज्ञान था। और तो और, उस समय मुझे हिन्दी व्याकरण का भी शुद्ध ज्ञान नहीं था (और हिन्दी व्याकरण का सम्यक् ज्ञानी होने का दावा मैं आज भी नहीं कर सकता), यहाँ तक कि रेणुका की भाषा-संबन्धी कई अशुद्धियों पर मैं आज भी मस्तक धुनता हूँ, पर, उन्हें हटा नहीं पाता। कदाचित्, मोहवश मैं इस चिंता से हार जाता हूँ कि अशुद्धियों को हटाने पर उनके साथ लिपटा हुआ कुछ सौन्दर्य भी दूर हो जायगा। यह ऐसी बात है जो जबरन मुझे भी सौन्दर्य-वादियों के शिविर में पहुँचा देती है, यद्यपि, कविता में जिसे सजाव और सँवार कहते हैं उस पर मैंने कम ही ध्यान दिया है।

और मेरा यह दोष आलोचकों की दृष्टि से ओझल भी न रहा। रेणुका और हुंकार के प्रशंसकों तक ने यह विलाप किया था कि मैं कला और कारीगरी पर ध्यान नहीं देता हूँ। ऐसी आलोचनाओं से मन तो कुछ छोटा अवश्य हो जाता था, किन्तु, इस दोष को दूर करने का मेरे पास कोई उपाय न था, न किसी आलोचक ने ही कभी दया करके यह दिखलाने का प्रयास किया कि मेरे इस दोष के उदाहरण कहाँ-कहाँ हैं और वे कैसे दूर किये जा सकते हैं। निदान, स्वाध्याय

के बल पर मैंने स्वयं इस अभाव को समझने की कोशिश की और उस मार्ग का मुझे कुछ थोड़ा-सा आभास भी मिला जिससे यह अभाव दूर किया जा सकता था। किन्तु, बार-बार आजमाने पर मुझे यह पता चल गया कि कलाकार, कारीगर और पच्चीकार होने की धीरता मुझमें नहीं है। उन दिनों, प्रेरणाएँ मेरे भीतर बड़े जोर से आती थीं और मैं सजाव-सँवार का बहाना बना कर उनके प्रवाह को रोक नहीं सकता था। मैं मकान खड़ा करने के काम में इतना व्यस्त हो जाता था कि पत्थरों को छेनी और हथौड़ी से गढ़ने या चिकना करने का कार्य मुझे अप्रिय और फालतू-सा लगता था। रेणुका से लेकर कुरुक्षेत्र के काल तक मेरी कल्पना का यह हाल था कि वह प्रतियोगिता के रस्से के समान तनी होती थी और मैं समाधि की उस अवस्था में निमग्न रहता था जो भीतर से चौगुनी जाग्रत, किन्तु, बाहर से निस्पन्द होती है। भाव जब सुस्पष्टता से अनुभूत होते हैं, तब अभिव्यक्ति में सफाई, आप से आप, आ जाती है। मैं भावों की स्वच्छ अनुभूति के लिए देर-देर तक समाधि में रह जाता और जब तक यह विश्वास नहीं होता कि भावों को मैं ठीक-ठीक समझ गया हूँ तब तक मैं रचना का आरंभ करता ही नहीं। भावों को ठीक से समझे बिना कविता लिखने का अभ्यास मुझे नहीं था। जब मुझे यह आभास मिलता कि मैं कविता लिखने-वाला हूँ, मैं प्रयत्नपूर्वक अपने को मन्दोन्माद की स्थिति में पहुँचा देता और वहाँ पहुँच कर मैं किसी अज्ञात शक्ति के अधीन हो जाता था। फिर, मेरा सारा ध्यान इस जिज्ञासा पर केन्द्रित हो जाता कि, असल में, मैं कहना क्या चाहता हूँ और जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ वह स्वच्छता से अभिव्यक्त हो रहा है या नहीं। और इस क्रम में मेरे अवचेतन का कलाकार कभी भी मेरे साथ हस्तक्षेप नहीं करता। शायद, उसका यह भाव रहा हो कि अभिव्यक्ति की स्वच्छता स्वयं ही सौन्दर्य है।

शब्द तो मेरे सामने भी अनेक होते थे और मुझे भी उनके बीच चुनाव करना पड़ता था। किन्तु, शब्दों का चयन मैं उनके रूप नहीं, सामर्थ्य के कारण करता था। असल में, शैली भावों से सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं होती। अभिव्यक्ति के धुँधलेपन को मैं इस बात का प्रमाण मानता हूँ कि कवि भावों की सुस्पष्ट अनुभूति नहीं कर सका है। भावों को हम जिस रूप में प्राप्त करते हैं, उन्हें जिस शीतलता या ताप के साथ, जिस धूमिलता या सुस्पष्टता के साथ अथवा जिस उद्वेलित या शमित मनोदशा में ग्रहण करते हैं, वही मनोदशा हमारी शैली बन जाती है। और चूँकि मेरी कल्पना रस्से के समान इंच-इंच तनी होती थी,

इसलिए, शब्द भी मुझे वे ही पसन्द आते थे जो इस तनाव को अभिव्यक्त कर सके। कविता लिखते समय मेरी मनोदशा कैसी होती थी, इसका कुछ अनुमान सहृदय इस बात से लगा सकते हैं कि, प्रायः ही, रचना के समय मुझ में सात्विक भाव (रोमांच, वेपथु, अश्रु, वैवर्ण्य, स्वेद आदि) जग पड़ते थे और एक रचना पूरी करते-करते उनकी कई-कई आवृत्तियाँ हो जाती थीं। और यह भी सत्य है कि मेरी जिन कविताओं से पाठक और श्रोता सबसे अधिक आन्दोलित हुए, वे ठीक वे ही कविताएँ हैं जिनकी रचना के समय मैंने सात्विक भावों का सबसे अधिक अनुभव किया था।

अभिव्यक्ति की सफाई के लिए जितनी कला अपेक्षित है, उतनी कला का ध्यान, शायद, मुझे भी था। किन्तु, चुन-चुन कर रंगीन और चिकने शब्द बिठाने के लिए मैं अधिक श्रम नहीं करता था। मेरी सारी चेष्टा इस बात पर केन्द्रित थी कि भीतर जो आग उबल रही है वह फूट कर बाहर आ रही है या नहीं तथा जो भी इसके पास आयगा उसे यह छू सकेगी या नहीं। रेणुका और हुंकार, सामधेनी और कुरुक्षेत्र, द्वन्द्वगीत और बापू, इनमें मैंने जो कुछ भी गाया है, आत्मा के जोर से गाया है, कंठ फाड़ कर गाया है, हृदय चीर कर गाया है। इन कविताओं में मैंने कहीं भी तकनीक और साहित्यिक फरमूलों का जान-बूझ कर उपयोग किया हो, ऐसा तनिक भी याद नहीं आता। मेरा ख्याल है, नज़रुल और इकबाल, जोश और माखनलाल तथा सुभद्रा और नवीन भी अपनी ओजस्विनी कविताओं को रचते समय, इसी प्रकार, प्रेरणा में विभोर रहे होंगे। इस अनुमान का कारण यह है कि ये कवि हुंकार और कुरुक्षेत्र के रचयिता के आत्मिक बन्धु रहे हैं। उन्होंने अनेक बार हुंकार के कवि की आग में आहुतियाँ डाली थीं और अनेक बार उन्होंने उसे उस शिखर की ओर बढ़ने को इंगित किया था जहाँ पहुँचने का मार्ग केवल एक उड़ान का मार्ग है, जहाँ वे लोग कभी भी न पहुँचेंगे जो रास्ते में रुक कर एक बार भी दम लेना चाहते हैं अथवा जो खूबसूरत सीढ़ियाँ काट कर धीरे-धीरे चलने के अभ्यासी हैं।

यह विचित्र बात है कि साहित्य में ठुमुक-ठुमुक कर चलने में कला मानी जाती है, दौड़ कर चलने में नहीं। थकी आवाज में दम ले-लेकर बोलने को कला कहते हैं, प्रभावोत्पादक ढंग से गरज कर बोलने को नहीं। आँसू जब थोड़े-थोड़े चलते हों तब उनमें कला होती है, जब जोर से चलते हों तब नहीं। इसी प्रकार, पौरुष का सिंहनाद हो तब कला नहीं है, भूख और रोटी की बात हो तब कला नहीं है, अन्याय के विरुद्ध आक्रोश हो तब कला नहीं है; कला नारियों

के कुन्तल-जाल और असली या ख्याली प्रेमिका के लिए उठनेवाली तड़प और पुकार में मानी जाती है। और अब तो कला धीरे-धीरे सिमट कर उस दुनिया में बसने जा रही है जहाँ सारे काम आशा के विपरीत होते हैं; जहाँ लोग सुविकच-स्वस्थ सुमनों को छोड़ कर सूखे, अधजले या घुन-लगे पत्तों से प्रेम करना सीख रहे हैं; जहाँ के फूल जुही और चमेली नहीं, नागफेनी और बबूल हैं तथा जहाँ रसिकता युवती मानवी को छोड़ कर मेढकी का शृंगार कर रही है।

उन दिनों कला और काव्य की प्रक्रिया तथा उद्देश्य के विषय में मुझे बहुत थोड़ा ज्ञान था, इसलिए, लोग जब मुझ पर कलाहीनता का आक्षेप करते तब इस आक्षेप को मैं ठीक से समझ नहीं पाता था और समझता भी तो, जैसा कह चुका हूँ, उसे दूर करने की धीरता का मुझमें अभाव था। यही नहीं, प्रत्युत्, सभी कवियों की भाँति मुझ में भी अपनी कविताओं के प्रति कोई शंका या सन्देह, न था। ज्यों-ज्यों मेरी कविताएँ जन-समुदाय को आन्दोलित करती गयीं, मेरा यह आत्म-विश्वास जोर पकड़ता गया कि मैं समय का पुत्र हूँ और मेरा सबसे बड़ा कार्य यह है कि मैं अपने युग के क्रोध और आक्रोश को, अधीरता और बेचैनियों को सबलता के साथ छन्दों में बाँध कर सबके सामने उपस्थित कर दूँ। मेरे पीछे और मेरे चारों ओर भारतीय मानवता खड़ी थी जो पराधीनता के पाश से छूटने को बेचैन थी। अपने वैयक्तिक जीवन में मैं स्वयं ऐसे युवकों से घिरा था जो देश-सेवा का व्रत लिये हुए थे और जो, समय के इंगित मात्र पर, अपना जीवन होम देने को तैयार थे। उनकी अनुभूतियाँ और उनका उत्साह मुझे अत्यंत प्रिय और पवित्र लगता था तथा कविताएँ रचते समय मुझे कई बार ऐसा महसूस होता, मानों, मैं उन्हीं की वेदना और आग को अपनी भाषा में लिख रहा हूँ।

मेरी राष्ट्रीय कविताओं और मेरे जीवन के बीच एक प्रकार की भिन्नता रही है जो उस व्यक्ति के चारित्रिक विरोधाभास का प्रतीक है जो कहता कुछ और तथा करता कुछ और है। फिर भी, यह सत्य है कि मेरे वचन और कर्म के बीच की खाई अत्यंत संकीर्ण थी और किसी भी धक्के के साथ मेरा कर्म मेरे वचनों का अनुगामी बन सकता था। किन्तु, इस धक्के से मैं बराबर बचना चाहता था और, अन्त तक, मैं उससे बच भी गया।

और जीवन के अनुभवों तथा अर्जित साहित्यिक संस्कार के कारण मैं, कदाचित्, वैसा कवि अवश्य बनना चाहता था जिसकी प्रेरणा उसके सामाजिक-कर्तव्य-ज्ञान से आती है, किन्तु, विप्लव और राष्ट्रीयता का वरण कभी भी मेरा

उद्देश्य न था। बारडोली-सत्याग्रह के दिनों में मेरी एक छोटी-सी पुस्तिका अवश्य छपी थी जिसमें राष्ट्रीयता के गीत थे। किन्तु, उसके बाद जो मेरी पहली पुस्तक प्रकाशित हुई, वह पौराणिक खण्ड-काव्य (प्रण-भंग) थी। और रेणुका को देख कर भी, जहाँ से मेरे साहित्यिक जीवन का सुनिश्चित आरंभ होता है, कोई यह नहीं कह सकता था कि राष्ट्रीयता मेरी कविताओं का प्रधान गुण होने जा रही थी। रेणुका में राष्ट्रीय भावधारा को व्यक्त करनेवाली दो-तीन ही रचनाएँ हैं। बाकी उस संग्रह में ऐसी ही रचनाओं का प्राधान्य है जिनमें या तो भारत के अतीत का रोना है या जीवन की नश्वरता पर विलाप। और ये दोनों गुण छायावादी संस्कार से आये थे। रेणुका में एक तीसरे प्रकार की भी रचनाएँ हैं जिनमें प्रकृति का भावुकतापूर्ण आख्यान है और यह गुण भी मुझे छायावादियों के प्रकृति-प्रेम से ही मिला था।

यह भी स्मरण रखने की बात है कि जिन दिनों मैं रेणुका की कविताएँ लिख रहा था, उन्हीं दिनों मेरे द्वन्द्व-गीत के पदों की भी रचना चल रही थी, प्रत्युत्, रेणुका के प्रथम संस्करण में "धूल के हीरे" के नाम से जो तीस-बत्तीस पद छपे थे, वे इसी द्वन्द्व-गीत के पद थे। सन् १६३६ ई० में जब द्वन्द्व-गीत और रसवंती प्रकाशित हुई, प्रगतिवादियों ने उन दोनों पुस्तकों पर अपनी गहरी निराशा अभिव्यक्त की, मानों, कोई वैष्णव धर्मभ्रष्ट हो गया हो, मानों, कोई योद्धा तलवार फेंककर केलि-कुंज में जा बैठा हो।

तब भी, यह सत्य है कि योद्धा का पद मुझे मन से पसन्द नहीं था, न मैं कलम छोड़कर तलवार उठाने को तैयार था। राष्ट्रीय और क्रान्तिकारी होने का सुयश मुझे हुंकार के प्रकाशन के बाद मिला, किन्तु हुंकार की पहली ही कविता में (यह कविता, शायद, दूसरे संस्करण से सम्मिलित की गयी) संदेशवहन और आनन्दवाद-विषयक मेरी द्विधा अत्यन्त मुखर है। "समय-असमय का तनिक न ध्यान, मोहिनी! यह कैसा आह्वान" में केवल काल्पनिक पीड़ा नहीं है। वह मेरे तत्कालीन कठोर आत्ममंथन से निःसृत उच्छ्वास है। और हुंकार में ही संकलित "हाहाकार" नामक रचना में जब मैं कविता से यह कहता हूँ कि,

वही धन्य जिनको लेकर तुम
बसी कल्पना के शतदल पर,
जिनका स्वप्न तोड़ पाती है
मिट्टी नहीं चरण-तल बजकर।

तब मैं आनन्दवादी कलाकारों पर कोई व्यंग्य नहीं करता, प्रत्युत्, उनकी ओर मैंने सात्विक ईर्ष्या से देख कर ही यह बात कही है। संस्कारों से मैं कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया था, किन्तु, मन मेरा भी चाहता था कि गर्जन-तर्जन से दूर रहूँ और केवल ऐसी ही कविताएँ लिखूँ जिनमें कोमलता और कल्पना का उभार हो। यही कारण था कि जिन दिनों हुंकार की कविताएँ लिखी जा रही थीं, उन्हीं दिनों मैं 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्व-गीत' की भी रचना कर रहा था और अजब संयोग की बात कि सन् १९३९-४० ई० में ये तीनों पुस्तकें एक वर्ष के भीतर-भीतर प्रकाशित हो गयीं। और सुयश तो मुझे हुंकार से ही मिला, किन्तु, आत्मा मेरी अब भी 'रसवन्ती' में बसती है।

राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जन्मी, उसने बाहर से आकर मुझे आक्रान्त किया। उस समय सारा देश उत्साह से उच्छल और दासता की पीड़ा से बेचैन था। अपने समय की धड़कन सुनने को जब भी मैं देश के हृदय से कान लगाता, मेरे कान में किसी बम के धड़ाके की आवाज़ आती, फाँसी पर झूलनेवाले किसी नौजवान की निर्भीक पुकार आती अथवा मुझे दर्द-भरी ऐंठन की वह आवाज सुनायी देती जो गाँधी जी के हृदय में चल रही थी, जो उन सभी राष्ट्र-नायकों के हृदय में चल रही थी जिन से बढ़ कर मैं और किसी को श्रद्धेय नहीं समझता था। मेरे जानते उस समय सारे देश में एक स्थिति थी जो सार्वजनिक संघर्ष की स्थिति थी, सारे देश का एक कर्तव्य था जो स्वातंत्र्य-संग्राम को सबल बनाने का कर्तव्य था और सारे देश की एक मनोदशा थी जो क्रोध से क्षुब्ध, आशा से चंचल और मजबूरियों से बेचैन थी। भारतवर्ष के इतिहास में यह वह समय आया हुआ था जब, कुछ दिनों के लिए, वैयक्तिक कर्तव्यों के निशान मिट जाते हैं, वैयक्तिक अनुभूतियाँ सिमट कर एक कोने में चली जाती हैं और सब के स्थान पर सामूहिक कर्तव्य और सामूहिक अनुभूतियों का साम्राज्य छा जाता है। यह ठीक है कि रवीन्द्रनाथ उस समय जीवित थे, और सारी हलचलों से अलिप्त रह कर वे रहस्यवादी अनुभूतियों में उसी प्रकार तल्लीन थे जैसे योगी नाना बाधाओं के बीच भी सबसे अलिप्त रहता है। हमारी अपनी भाषा में भी पंत, निराला, महादेवी और प्रसाद, कम से कम कविता में, इन हलचलों से अलग रहे, यद्यपि, पंत जी ने गुंजन के बाद जिस भावधारा को अंगीकार किया, उसका देश के सामाजिक आन्दोलनों से पूरा सम्बन्ध था। भिन्नता की बात यह रही कि वे फिर भी संयमशील रहे, किन्तु, मुझ-जैसे लोग राष्ट्रीय एवं क्रान्तिकारी भावनाओं

के प्रवाह में बह गये। मेरी वैयक्तिक अनुभूतियाँ धरी रह गयीं और मेरा सारा अस्तित्व समाज और राष्ट्र की अनुभूतियों के अधीन हो गया।

रूपक की भाषा में कहूँ तो मैं अपने समय के हाथ में निश्छल वंशी बनकर पड़ गया। मेरी कविताओं के भीतर जो अनुभूतियाँ उतरीं, वे विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियाँ थीं, वे उस काल की अनुभूतियाँ थीं जिसके अंक में बैठकर मैं रचना कर रहा था, वे भारत के पाँच सहस्र वर्ष प्राचीन उस गौरवपूर्ण इतिहास की अनुभूतियाँ थीं जो, सौभाग्यवश, हमारे ही काल में आकर फिर से जीना चाह रहा था। 'राम, तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है', यह उक्ति राम पर सोलह आने लागू हो या नहीं, किन्तु, मेरे प्रसंग में वह भारतीय इतिहास और भारतीय जनता पर पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। कवि होने की सामर्थ्य मुझ में, शायद, नहीं थी। यह क्षमता मुझ में भारतवर्ष का ध्यान करने से जाग्रत हुई, यह शक्ति मुझ में भारतीय जनता की आकुलता को आत्मसात् करने से स्फुरित हुई। मैं तो वायु और वह्नि से बना हुआ यंत्र मात्र था। फूँक उसमें काल ने मारी और झंकारें भी उसमें से काल ने ही उठायी हैं। मैंने केवल इतना किया कि जान-बूझ कर कारीगरी करने के प्रयास से उसमें कोई बाधा नहीं पहुँचायी। रेणुका, हुंकार, सामधेनी और कुरुक्षेत्र यदि किंचित् महत्त्व की भी रचनाएँ हैं, तो उनमें से यह सिद्धान्त आसानी से निकाला जा सकता है कि कलाकृति के निर्माण का एक रहस्य यह भी है कि रचना करते समय कारीगरी पर सचेष्ट ध्यान न दिया जाय। और कारीगरी कोई ऐसी चीज है भी नहीं जिसे बगल में रखकर हम कविता रचना आरंभ करें। वह तो सोचने की पद्धति और लिखने के ढर्रे के साथ आपसे आप चलती है।

आरम्भ में छायावादी ढंग की कुछ कविताएँ मैंने भी लिखी थीं, जिनमें से अधिकांश तो विनष्ट हो गयीं, किन्तु, कुछेक रेणुका से लेकर रसवन्ती तक मौजूद भी हैं। जो नष्ट हो गयीं, विशेषतः, उन कविताओं के सम्बन्ध में ऐसा याद आता है कि उन्हें लिख लेने के बाद मुझे लगा, मानों, मेरी सारी बातें कसमसा कर मेरे भीतर ही छूट गयी हों और जो कुछ मैं कह पाया हूँ वह अकथित या कथ्य का आभास मात्र हो। छायावाद में जो कोमलता थी, उसमें नयी-नयी सुषमाओं के जो अनेक वातायन खुलते थे, उन सब के लिए मुझ में आकर्षण और लोभ था और इस लोभ से प्रेरित होकर जब मैं कोई कविता करने बैठता, मैं अपने आपसे बहुत प्रसन्न हो उठता था। किन्तु, कविता समाप्त करते-करते मेरी मुद्रा शिथिल हो जाती और अपने श्रम को विनष्ट हुआ मानकर मैं निराश हो जाता था।

मेरी वेदना अभिव्यक्ति की वेदना थी और मेरे सम्मुख जो चुनाव था वह क्लासिक और रोमांटिक अथवा द्विवेदी-युग और छायावादी काल या मैथिलीशरण और सुमित्रानन्दन पंत के बीच था। अनुभूतियाँ और भाव तो मुझे छायावादियों के ही अच्छे लगते थे, किन्तु, अभिव्यक्ति की सफाई मैं वह चाहता था जो मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी में निखरी थी। दूसरे शब्दों में, द्विवेदी-युग की कल्पना मुझे भी स्थूल और किंचित् भोंडी लगती थी, किन्तु, पन्त जी की अभिव्यक्ति के भी चारों ओर मुझे कुहासा दिखायी देता था। मैं दोनों से हट कर अपने लिए कोई ऐसी राह निकालना चाहता था जो दोनों से समीप और दोनों से कुछ दूर हो।

कदाचित्, पन्त के सपने को मैं मैथिलीशरण की सफाई से लिखना चाहता था, किन्तु, जोखिम इसमें यह थी कि दोनों को मिलाने से या तो पन्त के सपने घायल होते थे या मैथिलीशरण के मार्ग पर मिहिका छा जाती थी। छायावाद बड़ा ही प्रतापी आन्दोलन था और उसके रोब की उपेक्षा करके मनमानी राह पकड़ लेना छायावादोत्तर कवियों के लिए कोई सरल कार्य न था। उस पर भी, यह मनमानी राह यदि द्विवेदी-युग की ओर जाती हो, तो कौन था जो इस विचार से ही ग्लानि में गड़ नहीं जाता? फिर भी, मैं यह नहीं कह सकता कि जिन दिनों मैं अपनी शैली की खोज में था, उन दिनों मैंने इतना कुछ विचार किया होगा। सच पूछिये तो छायावादी धूमिलता के मैं जितना विरुद्ध था, उतना मैथिलीशरण और रामनरेश त्रिपाठी वाली शैली के पक्ष में नहीं था। अतएव, मैंने अपने लिए जो राह निकाली उसकी प्रेरणा केवल छायावादी धूमिलता से बचने के प्रयास में थी। यह और बात है कि वह द्विवेदी-युग और छायावाद-काल के बीचों बीच पड़ गयी।

साहित्य में कभी-कभी कई युग एक साथ जीते हैं और जब छायावाद-युग जीवित था तब उसके साथ-साथ द्विवेदी-युग की आत्मा भी अपना काम कर रही थी। इसलिए, यह भी कहा जा सकता है कि मेरी राह इन दो युगों के मिश्रण से तैयार हुई। किन्तु, मुझे यही मानना अच्छा लगता है कि यह शैली द्विवेदी और छायावादी युगों के बीच की शैली है जिसका प्रमाण यह है कि पंत के सपने हमारे हाथ में आकर उतने वायवीय नहीं रहे जितने कि वे छायावाद-काल में थे; किन्तु, द्विवेदी-युगीन अभिव्यक्ति की शुभ्रता हमलोगों के पास आते-आते कुछ रंगीन अवश्य हो गयी। यह मेरा अपना विश्लेषण है, किन्तु, इसी बात को कोई इस प्रकार भी रख सकता है कि साहित्य का प्रत्येक आन्दोलन, आरम्भ में धूमिल रहता है, किंतु, आगे चलकर वह स्वच्छ हो जाता है। छाया-

वादी कवियों में जो धूमिलता थी वह छायावादोत्तर काल में आकर उस आन्दोलन के नायकों में भी कम होने लगी थी। हम लोगों का आरंभ इसी काल में हुआ, अतएव, अभिव्यक्ति की स्वच्छता की नयी विरासत हमें आपसे आप प्राप्त हो गयी।

और यह विश्लेषण मेरी वैयक्तिक शैली का ही विश्लेषण नहीं है, प्रत्युत्, वह समान रूप से छायावादोत्तर उन सभी कवियों की शैली पर लागू है जिन्होंने हिन्दी कविता को कुहासे से निकाल कर उसे धूप में खड़ा किया तथा अभिव्यक्ति की धूमिलता और कच्चेपन से बचने के लिए छायावाद की उन रंगीनियों को छोड़ दिया जो अधिकतर कवियों की असमर्थता पर झीना-परदा डाला करती थीं।

छायावाद-युग के कवि अपने गिने-चुने विषयों के वृत्त से बाहर नहीं जाते थे, क्योंकि उन्हें भय था कि वृत्त की परिधि के बाहर जो कुछ है, गद्यकल्प है, जो कुछ है, नीरस और रुक्ष है तथा उसके स्पर्श मात्र से कविता की कोमलता विनष्ट हो जायगी। छायावाद में जो कोमलता थी, वह जीवन की रुक्षताओं से अलग रह कर उपलब्ध की गयी थी, जिसका प्रमाण यह है कि इस काल का सारा छायावादी काव्य स्वप्न, हिमकण, आँसू, ओस, विहंग, बुदबुद, टलमल और चन्द्र, नक्षत्र, क्षितिज एवं नीलिमा, इन कोमल, वायवीय शब्दों से भरा हुआ है। कर्म की कठोरता और जीवन की रुक्षता का स्मरण दिलानेवाले शब्द कविता में छायावादोत्तर काल में भरने लगे और छायावादी कवियों की कविताओं में भी ये शब्द छायावाद के बाद ही प्रविष्ट हुए। स्वप्न की भाषा में वास्तविकता का आख्यान छायावाद-युग में अशक्य कार्य था। शक्य उसे उन लोगों ने बनाया जो छायावादी युग की ठीक पीठ पर आये। छायावाद-काल में बहुत-सी ऐसी अनुभूतियाँ भी चल रही थीं जिनकी सचाई के बारे में जनता को काफी सन्देह था, फिर भी, जो भी नया कवि आता, वह इन्हीं संदिग्ध अनुभूतियों का अनुकरण करने लगता। छायावादोत्तर युग के कवियों ने इन सारी कृत्रिम वेदनाओं एवं रहस्य को छूने का स्वांग भरनेवाली अनुभूतियों के जाल को फाड़ फेंका और वे निर्भीकता के साथ उन भावों का आख्यान करने लगे, जिनकी सम्यक् अनुभूति के विषय में किसी को भी कोई सन्देह नहीं हो सकता था। इसे मैं छायावादोत्तर काल की पराजय नहीं, विजय का प्रमाण मानता हूँ, क्योंकि वे भाव कोई भाव नहीं हैं जो भाषा का लिबास लेने से इनकार करते हैं, न वह अनुभूति ही कोई अनुभूति है जिसे स्वयं कवि भी शब्दों का जामा पहनाने में असमर्थ हो जाय।

मैं यह नहीं मानता कि हम लोग जिस युग में आये, वह हिन्दी-कविता के उतार का युग था। उसे कविता के प्रसार का युग कहना कहीं अधिक न्याय-संगत

बात होगी। क्योंकि छायावादी युग में सूक्ष्म और धूमिल सृष्टियाँ चाहे जितनी हुई हों, जन-समुदाय के बीच समकालीन काव्य का जैसा प्रसार हमारे समय में हुआ, वैसा छायावादी युग में नहीं हो पाया था। जनरुचि की अवज्ञा कोई भी कला बहुत अधिक काल तक नहीं कर सकती। छायावाद के आगमन के साथ काव्य-रसिकों ने उससे बहुत बड़ी आशा लगा रखी थी, किन्तु, जब यह आशा पूरी न हुई, छायावाद की आलोचना आरंभ हो गयी और उस पर यदा-कदा व्यंग्य भी होने लगे। उन दिनों कवियों की ओर से, कभी-कभी, यह भी कहा जाता था कि कवि नीचे क्यों उतरे, जनता को ही उसके पास पहुँचने को ऊपर उठना चाहिए। किन्तु, जनता ऊपर नहीं उठी। जनता का ऊपर उठना कभी किसी को दिखायी भी नहीं देता है। लाचार होकर कवियों को ही नीचे आना पड़ा। और छायावाद-कालीन उन सारी कृतियों को काल ने झाड़-बुहार कर एक ओर को रख दिया जो अपनी दुरूहता या अभिव्यक्ति के कच्चेपन के कारण काव्य-प्रेमियों को आनन्द देने में असमर्थ थीं।

यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि मै आँख मूँद कर केवल प्रसाद-गुण की साधना के पक्ष में था। प्रसाद भी कविता का सापेक्ष गुण है। वह कविता के लिए अत्यंत आवश्यक है, किन्तु, इतना आवश्यक नही कि हम उसकी प्राप्ति के प्रयास में उन भावों को लिखना ही छोड़ दें जो अखबारी विज्ञापन की सुस्पष्टता से लिखे नहीं जा सकते। मेरी अपनी ही रचनाओं में कुरुक्षेत्र का षष्ठ सर्ग उतना प्रसन्न नहीं है जितने अन्य सर्ग है। किन्तु, इसका कारण केवल यह है कि यह सर्ग जिन भावों को लेकर बढ़ता है, वे अन्य सर्गो की भाँति अधिक सुस्पष्टता से लिखे ही नही जा सकते थे। विशेषतः, रहस्यवादी रचनाओं में जो अस्पष्टता होती है उसे प्रसादहीनता का पर्याय मानना अनुचित है, क्योंकि रहस्यवादी कवि की चेतना जब फैल कर अदृश्य वास्तविकता को छूने लगती है, तब उसमें उठनेवाले चित्र हमारी सामान्य चेतना से इतनी दूर पर झिलमिलाते है कि हमें यह भ्रम होने लगता है कि, हो न हो, ये अभिव्यक्ति की दुर्बलता से उत्पन्न हुए है। किन्तु, ऐसे स्थलों पर अभिव्यक्ति की दुर्बलता हो भी सकती है और नही भी हो सकती है, जिसका निर्णय यह देख कर करना चाहिए कि कवि में अभिव्यक्ति की सच्ची खोज है या नहीं। कबीरादि के धुँधले उद्गारों के सामने हम जो बिना सोचे-समझे मस्तक झुका देते हैं, उसका कारण हमारी अंध श्रद्धा नही, बल्कि, हृदय का यह विश्वास है कि कवि, सचमुच, हमें कुछ दिखलाना चाह रहा है, किन्तु, भाषा की स्वभावजन्य असमर्थता के कारण हम उसकी उक्ति का पूरा मर्म समझ नहीं

पाते। "हृदय का विश्वास", यह टुकड़ा यहाँ अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि जिस रहस्यवादी कवि में अभिव्यक्ति की सच्ची आकुलता नहीं है, उसके प्रति पाठक का विश्वास भी सुदृढ़ नहीं होगा।

केवल प्रसाद-गुण को लक्ष्य बना कर चलने में खतरा यह है कि हम उन अनेक अनुभूतियों को लिखना छोड़ देंगे जो पूरी स्वच्छता से लिखी जाने पर भी इतनी सुस्पष्ट नहीं हो सकतीं जितनी कि पोस्टरों और विज्ञप्तियों की भाषा होती है। गहन-गंभीर अनुभूतियोंको अत्यधिक सरल बनानेकी इच्छा सदैव साधु नहीं होती। अनेक बार हम ऐसी अनुभूतियों के सामने आ जाते हैं जिन्हें यदि बहुत सुस्पष्टता से लिखने की कोशिश की जाय तो उनका मिथ्या रूप ही चित्रित हो जाता है। प्रसाद-गुण की भी एक सीमा है और सुस्पष्टता कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो प्रत्येक धरातल पर एक समान बरती जा सके। आइंस्टीन का सापेक्षवाद जिस भाषा में समझाया जा रहा है वह सुस्पष्टता से काफी दूर है, फिर भी, यही अस्पष्ट भाषा वह माध्यम है जिसमें आइंस्टीन के सिद्धान्त समझाये जा सकते हैं। और जब भी कोई पंडित उन्हें समझाने के लिए अत्यधिक सरल शैली अथवा अत्यधिक सुस्पष्ट भाषा का प्रयोग करता है, तब वह सापेक्षवाद की व्याख्या नहीं करके कोई ऐसी बात बोलने लगता है, जिससे मूल सिद्धान्त के सम्बन्ध में गलत धारणाएँ उत्पन्न होती हैं।

किन्तु, इतनी सतर्कता बरत लेने के बाद, अब मैं यह कह सकता हूँ कि साहित्य में भी साधु वे हैं जो दूसरों को कष्ट नहीं देते, जो अपनी प्रत्येक पंक्ति को लिखते समय अपने से यह पूछते चलते हैं कि अनुभूति की सत्यता को विकृत किये बिना उक्ति इससे और सुस्पष्ट हो सकती है या नहीं। पाठक की कठिनाई का पहले से ही अनुमान लगा कर उसे निराकृत कर देना, यह एक ऐसा शील है जिसकी आशा प्रत्येक पाठक अपने लेखक से करता है और जब लेखक इस शील का पालन सफलता के साथ करते हैं, वे सहज ही पाठकों के प्रेम के अधिकारी बन जाते हैं। इसके विपरीत, जब लेखक पाठकों का सम्मान नहीं करते, साहित्य और जनता के बीच का तार टूट जाता है।

छायावाद-युग में छायावादी कविता और जन-समुदाय के बीच कोई सम्बन्ध न था और यदि सम्बन्ध का कोई पतला धागा दोनों को बाँधे हुए था भी तो यह धागा भावुक, किशोरवय युवकों के उत्साह का धागा था। उनसे आगे समाज में जो विभिन्न विषयों के विद्वान् और कविता के पाठक थे, वे छायावादी आन्दोलन को थोड़ा भी महत्त्व नहीं देते थे। सच पूछिये तो छायावाद निर्धन नहीं, कमजोर

था ; बुरा नहीं, मृत था और, इसीलिए, उसकी जो प्रशंसा होनी चाहिए थी, वह नहीं हो सकी ।

वैयक्तिकता उसकी इतनी प्रचंड थी कि किसी भी स्थिति से वह समझौता करने को तैयार नहीं था । आज प्रयोगवादियों के बारे में लोग यह कहते हैं कि उन्हें परंपरा का ध्यान नहीं है । किन्तु, यही आक्षेप उस समय छायावाद पर भी लगाया गया था । और यह आक्षेप कुछ बहुत गलत भी नहीं था । छायावादी कवियों ने नयी दुनिया बसाने के उत्साह में द्विवेदी-युग से तो, स्पष्ट ही, अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था । यह ठीक है कि गद्य-कल्प द्विवेदी-युगीन काव्य में ऐसा कोई विशेष गुण नहीं था जिसे छायावादी कवि अपने साथ ले चलते, किन्तु, अभिव्यक्ति की स्वच्छता तो गद्य से भी ली जा सकती थी । किन्तु, दैनिक जीवन की रुक्षता से दूर भागने की कोशिश में छायावादी कवि जन-साधारण की भाषा से भी दूर हो गये और अपने लिए उन्होंने जिस भाषा की रचना की वह देखने में सुन्दर और छूने में मुलायम होने पर भी ऐसी भाषा न थी जिसमें कवि अकवि से बातें करता है । "पल्लव" और "परिमल" की भाषा छायावादी युग के बाद कविता में नहीं टिक सकी, यह घटना भाषा के छायावादी प्रयोग पर स्वयं एक व्यंग्य है ।

इस मामले में छायावादोत्तर काल के कवि अपने पूर्वजों से अधिक उदार निकले । परंपरा का आदर तो उन्होंने इस प्रकार किया कि पंत और मैथिलीशरण को मिला कर वे द्विवेदी-युग के उस अंश को वापस ले आये जो उसका सर्वोत्तम अंश था अर्थात् जिसका सम्बन्ध सुस्पष्टता और अभिव्यक्ति की सफाई से पड़ता था । तथा जन-साधारण की समीपता में आने को उन्होंने पूर्वजों से उत्तराधिकार में मिली हुई भाषा का परित्याग कर दिया और अपने व्यवहार के लिए वे भाषा का वह रूप उठा लाये जो जनता के, प्रायः, दैनिक व्यवहार की भाषा के करीब था ।

जब छायावादोत्तर-कालका आरंभ हुआ, साहित्य की भूमि पर तब भी छायावादियों का ही राज्य था और, घट-बढ़कर, साहित्य में आज भी उन्हीं की प्रधानता है जिसे मैं अनुचित नहीं, उचित ही मानता हूँ । यह बात वैसी ही हुई जैसे केले के जब नये पत्ते निकलते हैं, तब भी उसके पुराने पत्ते बने ही रहते हैं और वृक्ष-संपदा की रक्षा का मुख्य भार भी नये नहीं, इन पुराने पत्तों पर ही रहता है । किन्तु, छायावादोत्तर काल की प्रवृत्तियों का प्रभाव छायावादी कवियों पर भी पड़ा अर्थात् इस काल में आकर वे भी अपनी भाषा को जन-जीवन के पास लाने लगे और छायावादी अभिव्यक्तियों में जो कच्चेपन का दोष था वह दोष

भी इसी काल में आकर छूटने लगा। पल्लव से गुंजन और गुंजन से ग्राम्या तथा युगान्त, ये सीढ़ियाँ हैं जिन पर पंत जी की अभिव्यक्ति पहले से अधिक स्वच्छ होती गयी है तथा जिन से यह भी झलकता है कि कवि किस प्रकार वायवीयता से उतर कर दिनों-दिन वास्तविकता के अधिक पास आता जा रहा था। इसी प्रकार, निराला जी का अनामिका और परिमल में जो रूप था, वह दिनों-दिन परिमार्जित होता गया और उनकी भी अभिव्यक्ति दिनों दिन अधिक साफ होती गयी, यहाँ तक कि उनकी श्रेष्ठतम कृति "राम की शक्ति-पूजा" की रचना छायावादोत्तर-काल में ही हुई। इसके बाद, उन्होंने जो व्यंग्यात्मक कविताएँ लिखीं, उनमें तो उस भाषा की छाया भी नहीं मिलती जो उनकी पहले की रचनाओं, उदाहरणार्थ, "रेखा" और "प्रेयसी" में मौजूद है।

प्रश्न उठ सकता है कि जिसे और लोग प्रगतिवादी युग कहते हैं, उसे मैं छायावादोत्तर-युग क्यों कहता हूँ। इसके कारण स्पष्ट हैं कि, यद्यपि, प्रगतिवाद राजनीति से उछल कर साहित्य में आया और उस पर अनेक निबन्ध और पुस्तकें भी लिखी गयीं, किन्तु, प्रगतिवाद क्या है अथवा प्रगतिवादी कौन है, इस प्रश्न का कभी कोई समाधान नहीं हुआ। सन् १९३६ से ४० ई० तक प्रगतिवादी साहित्यकार वे सभी लोग थे जो राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन करते थे, जो साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध थे तथा जो शोषण और औपनिवेशिकता को मिटाना चाहते थे। तब एक ऐसा समय आया जब प्रगतिवादी केवल वे लोग रह गये जो युद्धोद्योग में बाधा नहीं डालते थे। विधि-विधान से, प्रगतिवादियों की पसन्द का प्रगतिवादी यहाँ तक मैं भी था। किन्तु, बात यहीं तक नहीं रुकी। जब देश स्वाधीन हुआ, प्रगतिवाद का लक्षण स्वराज्य-सरकार का तीव्र विरोध और पंडित जवाहरलाल पर हर तरह से कीचड़ उछालना हो गया। और अब जब भारत और रूस के बीच का सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हो गया है और जवाहरलाल सब के सम्मान-भाजन बन गये हैं, तब प्रगतिवादियों की सारी कसौटी ही लापता दीखती है। अब उन्होंने यह गिनना ही छोड़ दिया है कि कौन प्रगतिवादी और कौन अप्रगतिवादी साहित्यकार है। इन विवरणों पर विचार करते हुए कौन है जो साहित्य के तर्कों से यह प्रमाणित कर सके कि प्रगतिवादी आन्दोलन साहित्यिक गुणों या कलात्मक मूल्यों का आन्दोलन था ?

अन्य देशों की बात हम नहीं कहते, किन्तु, हिन्दी वालों को प्रगतिवाद का जो परिचय प्राप्त हुआ, उसे देखते हुए हम अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं कि यह साहित्यकारों के बीच वर्गीकरण का प्रयास था। लेखकों और कवियों में

वे भी थे जो अपनी रचनाओं का कोई सामाजिक उद्देश्य नहीं मानते थे, जिनका लक्ष्य केवल आनन्द की अनुभूति थी और जो पाठकों को भी केवल आनन्द ही देना चाहते थे। किन्तु, उनके साथ कुछ ऐसे भी साहित्यकार थे जिनकी प्रेरणा उनके सामाजिक कर्तव्य-ज्ञान से आती थी, मात्र आनन्द जिनका ध्येय नहीं था, जो अपनी रचनाओं के द्वारा पाठकों की रागात्मक शक्ति को जगाकर उन्हें सामाजिक ध्येयों की ओर प्रेरित करना चाहते थे। समय देखकर प्रगतिवादी संप्रदाय के मनीषियों ने इस दूसरी कोटि के साहित्यकारों की एक श्रेणी बना दी और वे डट कर उनका प्रचार करने लगे। जैसे छायावाद ने कविता की शैली और भावों में महाक्रान्ति की अथवा जैसे आज प्रयोगवाद कविता की तकनीक के सम्बन्ध में हमारी धारणाएँ बदलने के प्रयास में है, प्रगतिवाद ने कभी कोई वैसा काम न किया। न तो उसने शैली में कोई परिवर्तन करवाया, न भावों की दिशा में ही नये क्षितिजों का संकेत दिया। हिन्दी-कविता छायावाद की कुहेलिका से निकल कर स्वयं सुस्पष्ट होती जा रही थी तथा उसके अग्रणी आचार्य भी स्वयं ही जन-जीवन के समीप चले आ रहे थे। किन्तु, ठीक इसी समय, देश में और कांग्रेस के भीतर भी, मार्क्सवादी पक्षों का संगठन होने लगा और राजनीति की इस प्रक्रिया का परिणाम यह हुआ कि बहुत-से लेखक मार्क्सवादी विचार-धारा से प्रभावित होने लगे। यह ठीक है कि साहित्य-कला और दूसरी कलाओं में भेद है। यदि कोई बढ़ई फाशिष्ट हो जाय तो उसकी रचना यानी कुर्सी और मेज में फाशिज्म कहीं से भी प्रवेश नहीं करेगा। किन्तु, कोई कवि यदि फाशिष्ट हो जाय तो उसकी रचनाओं पर उसके विश्वासों का प्रभाव अवश्य पड़ेगा। किन्तु, केवल वैचारिक आन्दोलन वैचारिक आन्दोलन होते हैं। साहित्यिक आन्दोलन उन्हें हम तभी कहेंगे जब कि उनसे साहित्य की शैली परिवर्तित होती हो। प्रगतिवाद ने साहित्य पर ऐसा कोई भी प्रभाव नहीं डाला जिसे हम किसी भी दृष्टि से साहित्यिक प्रभाव कह सकें। यह, मुख्यतः, साहित्येतर आन्दोलन था जो साहित्य के भीतर केवल राजनीतिक उपयोग के लिए साहित्यिकों का शोषण करने को आया था। राजनीतिक आन्दोलन-कारियों का एक दल साहित्य में भी अपनी एक टुकड़ी रखना चाहता था और, जिस काल में उसकी जैसी आवश्यकता रही, साहित्य में उसने वैसी ही टुकड़ी तैयार कर ली और इस क्रम में उसने पुराने दोस्तों को लात मार कर नये दोस्त बनाये और जब ये दोस्त भी उसके काम के न रहे तब उसने उनका भी परित्याग कर दिया। स्पष्ट ही, ये लक्षण साहित्यिक आन्दोलन के लक्षण नहीं हैं।

और अगर मान्यताओं की दृष्टि से देखें, तब भी, मुझे यही दिखायी देता है कि प्रगतिवाद ने साहित्य में नये मूल्यों की स्थापना नहीं की, अपनी तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार उसने पहले से ही प्रचलित मूल्यों में से केवल कुछ को स्वीकार कर लिया। प्रगतिवाद साहित्य के सामाजिक लक्ष्य पर जोर देता है, किन्तु, हिन्दी में साहित्य की यह प्रवृत्ति साम्यवाद से नहीं आयी। जिन चीज़ों को छायावादोत्तर काल में प्रगतिवादियों ने उभारने की कोशिश की वैसी ढेर की ढेर चीजें भारतेन्दु ने लिखी थीं, बालमुकुन्द गुप्त ने लिखी थीं, चन्द्रशेखर-धर शास्त्री ने लिखी थीं और द्विवेदी-युग में भी वैसी रचनाएँ कुछ कम नहीं हुईं। स्वयं छायावाद-काल के राष्ट्रीय कवियों ने जो काम किया, उसकी प्रेरणा साम्य-वादी दर्शन से नहीं, भारतीय जनता के जीवन से आयी थी। वर्ग-संघर्ष की भावना तो भारत में साम्यवादियों की लायी हुई ज़रूर है, किन्तु, पूँजीवाद के विरुद्ध आक्रोश के प्रमाण बाबू बालमुकुन्द गुप्त की कविताओं से दिये जा सकते हैं। प्रगतिवाद का केवल इतना ही महत्त्व है कि उसने सामाजिक लक्ष्य से प्रेरित साहित्य को प्रोत्साहन और मान दिया तथा उन लोगों को भी मस्तक उठा कर चलने की उसने प्रेरणा दी जो अपनी रचनाओं के भीतर सामाजिक और सोद्देश्य होने के कारण शुद्ध कलावादियों, आनन्दवादियों और सौदर्यवादियों के सामने मन-ही-मन अपने को ईषत् हीन समझते थे। बुरा काम उसने यह किया कि जो लेखक उसे पसन्द थे, उनकी पीठों पर उसने अपने नाम के बिल्ले लगा दिये और जहाँ भी उसे यह सन्देह हुआ कि अमुक लेखक अब मेरे घेरे से बाहर जाकर स्वतंत्र चिंतन में भी लग सकता है, वहाँ उसने उस लेखक की पीठ पर का बिल्ला नोच कर किसी और की पीठ पर साट दिया। स्पष्ट ही, ऐसे अन्याय केवल वे ही कर सकते हैं जिनकी दृष्टि में साहित्य साहित्येतर ध्येयों के प्रचार का साधन मात्र है तथा जो यह मानते हैं कि राजनीति का ढोल बनने के सिवा साहित्य का कोई अपना महत्त्व नहीं है।

अन्य देशों में प्रगतिवाद का जो दर्शन प्रस्तुत हुआ, वह जन-कल्याण की दृष्टि से बड़ा ही उपयोगी और सुस्पष्ट है। किन्तु, हिन्दी में साम्यवाद के साहित्यिक कर्णधारों ने उसका समय-समय पर जैसा प्रयोग किया, उससे इस दर्शन के अनेक सिद्धान्त अर्थहीन हो गये हैं। प्रगतिवादी आलोचकों ने साहित्येतर कारणों से साहित्य की जैसी विचित्र समीक्षाएँ प्रस्तुत की हैं, उन्हें देख कर अचरज होता है। उदाहरण के लिए, प्रगतिवादियों के यहाँ एक समय पं० सुमित्रानन्दन पंत का बड़ा सम्मान था, किन्तु, प्रगतिवादियों ने जब यह देखा कि पंत जी उनके

बस में नहीं रहनेवाले हैं, तब उन्होंने उनका त्याग कर दिया और जिस प्रकार की रचनाओं के लिए पंत जी की एक समय उड़-उड़ कर प्रशंसा की गयी थी, उसी प्रकार की रचनाओं के लिए, बाद में, उनकी कड़ी आलोचना की गयी।

हिन्दी में आज भी ऐसे लोग हैं जिनकी अधिकांश रचनाएँ प्रगतिवादी दर्शन के अनुसार प्रशंसनीय कही जा सकती हैं। किन्तु, चूँकि ये लोग साम्यवादियों के साथ या उनके पीछे-पीछे नहीं चलते, इसलिए, प्रगतिवादी आलोचक इनकी रचनाओं के विषय में , प्रायः, मौन रहते हैं। उनकी कठिनाई यह है कि वे यदि इन कवियों और लेखकों की निन्दा करें तो प्रगतिवाद की कसौटी संदिग्ध हो जाती है और यदि प्रशंसा करें तो यह प्रशंसा उनकी होती है जिन्हें साम्यवादी अपने लिए उपयोगी नहीं मानते। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि उन की इस विवशताजन्य सतर्कता का निर्वाह सर्वत्र नहीं हो सका है। उदाहरण के लिए, बड़े लोगोंके पास बैठने में जो सुयश है, उस सुयश के लोभ से उन्हों ने महादेवी जी की प्रशंसा लिखी है और महादेवी जी यदि रहस्यवादिनी नहीं हैं तो काव्य के क्षेत्र में उनका महत्त्व क्या रह जाता है? प्रगतिवादी आलोचक जिस दुर्दशा को प्राप्त हुए हैं, वही दुर्दशा उन सब लोगों की होती है जो साहित्य की माप साहित्येतर यंत्रों से करते हैं।

३

प्रगतिवादी आन्दोलन अभी चल ही रहा था कि "तार-सप्तक" का पहला भाग प्रकाशित हुआ, जो इस बात की सूचना था कि हिन्दी के नये कवि कविता की प्रचलित शैली से संतुष्ट नहीं थे। इन कविताओं पर विचार करते हुए आज से दस वर्ष पूर्व, मैंने अपनी पुस्तक ,"मिट्टी की ओर" में लिखा था कि "ये उन सभी कविताओं से भिन्न हैं जिन्हें देखने-सुनने के हम अब तक आदी रहे हैं। इनका कवि जान-बूझ कर काव्य के साधारण नियमों को भी भूल गया है।... इनकी पृष्ठभूमि में जो कुछ दीखता है, वह निर्जन और विषण्ण है।" तथा "शायद, आनेवाले युग की कविता इनमें अपनी ट्रेनिंग पा रही है।" और तब से आज तक हिन्दी के तरुण कवि विभिन्न दिशाओं में जिस आकुलता से प्रयोग कर रहे हैं, उससे आज भी यही भासित होता है कि नयी कविता की ट्रेनिंग अभी खत्म नहीं हुई है और उसके निश्चिंत भूमि में पहुँचने में अभी और कुछ देर है।

पहले 'तार-सप्तक' के कई वर्ष बाद, एक दूसरा 'तार-सप्तक' भी निकला जो पहले की अपेक्षा अधिक सफल था। इन दो संग्रहों के अलावे, इधर और कुछ

संग्रह और काव्य-ग्रन्थ (जैसे अज्ञेय का "हरी घास पर क्षण भर" और "बावरा अहेरी", गिरिजाकुमार का "धूप के धान", धर्मवीर भारती का "ठंडा लोहा" और "अंधा युग" तथा नयी कविता के दो-एक अंक आदि) निकले हैं, जिन्हें साधारणतः, लोग नयी कविता के प्रतिनिधि-ग्रन्थ मानते हैं। इनके सिवा, पत्र-पत्रिकाओं में भवानीप्रसाद मिश्र, बालकृष्ण राव, सर्वेश्वर-दयाल सक्सेना, प्रयागनारायण त्रिपाठी, मदन वात्स्यायन, जगदीश गुप्त, राजेन्द्र प्रसाद सिंह आदि तरुण कवियों की जो स्फुट रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनसे भी ईषत् संकेत मिलता है कि हिन्दी-कविता किस दिशा की ओर जा रही है।

यह आन्दोलन अपनी किशोरावस्था को पार कर चुका है, किन्तु, तब भी इसका सही तो क्या, आनुपातिक मूल्यांकन भी अभी नहीं हो पाया है। जहाँ तक मेरा ख्याल है, आज तक भी प्रयोगवाद का कोई ऐसा घोषणापत्र कहीं नहीं निकला (यद्यपि कई सूत्रों का एक कार्यक्रम पत्रों में छपा है) जैसी घोषणा पल्लव की भूमिका में छायावाद ने की थी। और इसके उद्देश्य और लक्ष्य के बारे में जो थोड़ा-कुछ कहा भी गया है, वह उतना विशद और पुष्ट नहीं है जिससे काव्य-रसिक जनता यह समझ सके कि प्रयोगवाद कविता के किन गुणों पर जोर देना चाहता है और वह कैसी उपलब्धि के प्रयास में है। इस आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्तियों को पहचानने में सब से बड़ी बाधा यह है कि प्रयोगवाद का गढ़ आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, सर्वत्र नक्कालों से भर गया है और जो असली कवि हैं वे इस भीड़ को दबा कर आगे आने में कठिनाइयों का अनुभव कर रहे हैं।

जब छायावादी आन्दोलन उठा था, तब भी हिन्दी में कवियों की बाढ़ आ गयी थी, किन्तु, आज के प्लावन की तुलना में वह फिर भी बहुत छोटी बाढ़ थी। कारण, कदाचित्, यह था कि उस समय शिक्षा का प्रसार आज की अपेक्षा कहीं सीमित था और, तत्परिणामस्वरूप, कविता की ओर आनेवाले युवकों की संख्या भी कम थी। किन्तु, छायावादोत्तर काल में आकर हिन्दीभाषी क्षेत्रों में कविता का जो व्यापक प्रचार हुआ, उससे अब अनेक युवकों में कविता का प्रेम जग पड़ा है और अपने ही समान कुछ अन्य लोगों को काव्य-क्षेत्र में यशस्वी होते देख कर वे भी इस सुयश के भागी होने को ललचा उठे हैं। इसे मैं भारतीय जाति के लिए शुभ लक्षण मानता हूँ। कम से कम, यह इस बात का प्रमाण तो है ही कि हमारे नवयुवक अपने आपको अभिव्यक्त करने की इच्छा से आन्दोलित होने लगे हैं। किन्तु, कवियों की संख्यावृद्धि के कारणों की खोज यहीं समाप्त नहीं

होती। इस संख्यावृद्धि का मुख्य कारण, शायद, यह है कि छायावादी युग में निरी बकवास करने के लिए भी कवियों को छन्द में लिखना पड़ता था और, यद्यपि, छन्द कभी-कभी अनावश्यक भी हो जाते हैं, किन्तु, उनकी रचना सबके लिए सुगम नहीं होती। प्रयोगवादी कवि छन्द में भी लिखते हैं और छन्दों को तोड़ कर भी और दोनों ही शैलियों की कितनी ही नयी कविताएँ काफी सुन्दर हुई हैं। किन्तु, इससे युवकों ने यह शिक्षा निकाली कि छन्द अब कविता के लिए किंचित् भी अनिवार्य न रहे। परिणाम यह हुआ कि कविता के बाह्य प्रांगण का दरवाजा चूर-चूर हो गया और आज वे सभी लोग हिन्दी में कविता कर रहे हैं जिनके पास करने योग्य और कोई काम नहीं है। इस सामान्य सिद्धान्त के अपवाद कुछ थोड़े से ऐसे बुद्धिजीवी ही हैं, जिनके पास करने योग्य काम तो बहुत हैं, किन्तु, जो, फिर भी, अवकाश के समय ताश या बैडमिंटन नहीं खेल कर कविताओं की रचना में लगे हुए हैं और ये सारी की सारी कविताएँ प्रयोगवाद के नाम पर चल रही हैं। आज प्रयोगवादी कविता की सफलता के दो नहीं, मात्र एक प्रमाण खोजने की अपेक्षा यह कहीं आसान है कि उसकी विफलता के एक हजार प्रमाण तुरंत एकत्र कर दिये जायँ।

कविता के क्षेत्र में अभी गुण नहीं, संख्या का बोलवाला है। और संख्या की विशालता के कारण ही इस कविता की सच्ची पहचान गंभीर समस्या का रूप लेती जा रही है। यदि छायावादी आन्दोलन अंगरेजी में शेली और बायरन के समय उठनेवाले रोमांटिक आन्दोलन से मेल खाता था, तो यह नयी कविता का आन्दोलन बहुत कुछ उस (इमेजिष्ट) आन्दोलन के समान है जो अंगरेजी कविता में प्रथम विश्वयुद्ध के आरंभ होने के आसपास उठा था। उस आन्दोलन में भी इतने अधिक कवियों ने भाग लिया था कि सन् १९२० ई० में जब पोयट्री बुकशाप ने "बिबलियोग्राफी आव् माडर्न पोयट्री" के नाम से केवल सन् १९१२ ई० से लेकर सन् १९२० ई० के बीच उगने वाले नक्षत्रों की सूची प्रकाशित की तब उसमें कवियों की संख्या एक हजार से ऊपर चली गयी। और इन सहस्राधिक कवियों में से एक सौ चार ऐसे थे जिन पर समीक्षात्मक टिप्पणियाँ भी दी गयी थीं। किन्तु, समीक्षा, शोर-गुल और पक्षपातपूर्ण आन्दोलनों से साहित्य में खोटे सिक्के नहीं चलाये जा सकते, न खरे सिक्कों के प्रचलन को ईर्ष्या, द्वेष और निन्दा रोक ही सकती है। इमेजिष्ट संप्रदाय के इन हजार कवियों में से केवल दस-बारह ही ऐसे निकले जिनकी कविताएँ तो नहीं, हाँ, यदा-कदा साहित्य में उनका नामोल्लेख चलता है। अंगरेजी में जब यह आन्दोलन चल

रहा था तब उसके समर्थक और उन्नायक भी उक्त आन्दोलन के आलोचकों पर उसी प्रकार टूटते थे जैसे आज हिन्दी में टूट रहे हैं और, अंगरेजी में भी, कविगण कविताओं के द्वारा जनता के हृदय को न जीत कर उसे बुद्धि द्वारा गद्य में ही पराजित करना चाहते थे। किन्तु, जनता के हाथ में तो ब्रह्मास्त्र होता है। उसने इन कविताओं को खरीदा ही नहीं। परिणाम यह हुआ कि इस युग के कवियों की कविताएँ या तो पतली-छोटी कापियों में छपीं या कई-कई कवियों ने मिल-मिलकर अपने एकत्र संग्रह छपवाये। कहते हैं, जब युद्ध छिड़ा, तब इन कविताओं की थोड़ी बिक्री अवश्य हुई, किन्तु, इतनी नहीं कि किसी कवि का नाम सर्वत्र पहुँच जाय अथवा उसे अच्छी राशि की प्राप्ति हो।

इमजिष्ट संप्रदाय से अपने यहाँ के वर्त्तमान आन्दोलन की इतनी ही समता नहीं है। विचित्र संयोग है कि इमेजिष्ट कवियों में जो नकली कवि थे, ठीक उन्हीं के लक्षण प्रयोगवाद के नकली कवियों पर चरितार्थ होते हैं, और जो सीमाएँ या कमजोरियाँ असली इमेजिष्ट कवियों की थीं, अपने यहाँ के भी कितने ही नये सत्कवि ठीक उन्हीं दुर्बलताओं से पीड़ित दीखते हैं।

सुर्रियलिष्ट चित्रकारी पर व्यंग्य कसने को किसी ने एक कहानी गढ़ी है कि एक सुर्रियलिष्ट चित्रकार के घर में चोरी हो गयी। दूसरे दिन जब पुलिस आयी, तब उसने पूछा कि चोर को किसी ने देखा था या नहीं। चित्रकार बोला, "क्यों, चोर को तो मैंने स्वयं देखा है और देखा ही नहीं, मैंने छिप कर उसका यह स्केच भी खींच लिया है। पुलिसवाले इस आशा से वह चित्र ले गये कि उसके सहारे चोर पहचाना जा सकेगा। किन्तु, खुफिया-विभाग के अधिकारियों ने जब उस चित्र को देखा, उन्हें हँसी आ गयी और वे बोले, "अरे, यह तो आलू-कोबी की तस्वीर मालूम होती है। इसे देख कर आदमी कैसे पकड़ा जा सकता है।"

सुर्रियलिज्म पर चाहे यह कहानी फिट न बैठती हो, किन्तु, प्रयोगवाद के नाम पर प्रतिदिन जो मनों कविताएँ छप रही हैं, वे उसी प्रकार की कविताएँ हैं जिस प्रकार का उस सुर्रियलिष्ट का बनाया हुआ चित्र था। इन कविताओं की तुलना उन गीतों से की जा सकती है जिनमें और सब कुछ तो होता है, केवल सुर नहीं होता, अथवा उस शबीह से की जा सकती है जिसकी गरदन ही गायब हो।

और स्मरण रहे कि ये बातें मैं इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि प्रयोगवाद के अन्दर अपार कविताएँ बिना छन्द के लिखी जाती हैं। मुक्त छन्द की परंपरा प्रयोगवादियों की सृष्टि नहीं है। उसका आरंभ निरालाजी ने और प्रसाद जी

ने किया था तथा प्रयोगवाद के आगमन से पूर्व भी ऐसी कविताएँ यथेष्ट संख्या में लिखी जा चुकी थीं। कविता में से छन्द की महिमा अभी विलुप्त नहीं हुई है। किन्तु, अच्छी कविताएँ बिना छन्द के भी लिखी जाती हैं। मैं यह भी मानता हूँ कि मुक्त छन्द की ओर युवक इसलिए भी दौड़ते हैं कि उसमें स्वतंत्रता की थोड़ी झाँकी रहती है। कुछ यह बात भी है कि कविता की परंपरागत शैली में जो नियंत्रण है, बल्कि, उसमें जो जकड़बन्दी आ गयी है, उसे युवकों की चेतना बर्दाश्त नहीं कर सकती। अतएव, इन कवियों ने अपने आपको यह विश्वास दिला रखा है कि कविता की पुरानी शैली इतनी पुरानी हो गयी कि अब उसका कोई उपयोग नहीं है। छन्दों का त्याग नयी कविता का उतना बड़ा दोष नहीं है जितना कि नये कवियों का यह आग्रह कि छन्द छोड़ने पर चाहे जो भी लिखो, वह काव्य हो जाता है। परंपरा से किंचित् भिन्न चलने की स्वतंत्रता और प्रचलित शैली में परिवर्तन करने का अधिकार, ये दावे तो, प्रायः, प्रत्येक युग के कवि किया करते हैं। किन्तु, प्रयोगवाद के नाम पर असंख्य कवियों ने इस स्वतंत्रता का दुरुपयोग किया है। परिणाम यह है कि उनकी जो कविताएँ छपती हैं वे कविताएँ नहीं, असमर्थ गद्य हैं, जिन्हें कविताओं की तरह सजा दिया जाता है। किन्तु, इससे केवल आँखें ही धोखा खा सकती हैं, मन नहीं, क्योंकि वह कविता को पहचानता है।

कला की दृष्टि से देखा जाय तो काव्य-सृष्टि के दो सोपान होते हैं। पहला सोपान प्रेरणा का और दूसरा सोपान रचना का होता है। प्रेरणा का उद्गम शिक्षा-दीक्षा, संस्कार और भावुकता होती है। और जिस व्यक्ति में भावुकता और कविता का संस्कार है, उसके भीतर काव्य-प्रेरणाओं का उठना अत्यन्त स्वाभाविक बात है। किन्तु, केवल प्रेरणाओं के उठने से कोई व्यक्ति कवि नहीं हो जाता। उसे उन प्रेरणाओं को इस प्रकार अभिव्यक्ति देनी होती है कि कविता पढ़ने या सुननेवालों के हृदय में वैसी ही प्रेरणाएँ उत्पन्न हो सकें। इसीलिए, प्रेरणा का धरातल संस्कार का और रचना का धरातल परिश्रम और अभ्यास का धरातल होता है। जिसे हम कवि की साधना कहते हैं वह इस अभ्यास के सिवा और कुछ नहीं है कि हम जो अनुभव करते हैं उसे अनुरूप ढंग से अभिव्यक्त कर सकें। किन्तु, जब कवि यह समझ लेता है कि जवानी की ताजगी स्वयं सबसे बड़ी कविता है तथा हमें परिश्रम से बचे रहकर इस ताजगी को बचाये रखना चाहिए, तब साहित्य में अर्थ से अधिक अनर्थों के ही उदाहरण भरने लगते हैं। शेरिडान ने कहीं कहा है कि जो साहित्य पढ़ने में आसान होता

है, उसकी रचना करने में घोर परिश्रम करना पड़ता है। इसी प्रकार, जिस साहित्य का पढ़ना कठिन है, सामान्य नियम यही है कि उसकी रचना बड़ी आसानी से की जाती है। अधिकांश प्रयोगवादियों पर हमारा यह आक्षेप है कि वे अपनी मेहनत बचा कर पाठकों की कठिनाई बढ़ा रहे हैं।

उदाहरण के लिए, प्रयोगवाद के जो अच्छे कवि हैं उनमें भी यह दोष है कि वे पूर्वापर संबन्धों के निर्वाह पर ध्यान नहीं देते अथवा कविता कहते-कहते अचानक वे ऐसी बात बोल उठते हैं जिससे पहले के भाव का कोई संबन्ध नहीं दीखता। पाठक यह स्पष्ट अनुभव करता है कि दो भावों के बीच कोई और कड़ी होगी जिसे कवि को बतला देना चाहिए था। किन्तु, कवि, न जानें क्यों, पुल की दो-एक पटरियाँ बीच से अचानक खींच लेता है और चाहता है कि इस दूरी को पाठक अपने आप तय करे। कभी-कभी तो ऐसा भी लगता है, मानों, कवि ने आधी कविता लिख कर ही पूरी कविता समाप्त कर दी हो। कवि की दृष्टि में यह आधा काव्य पूरे काव्य से अधिक पूर्ण भले ही दीखे, किन्तु, वह पाठक की दृष्टि में आधा ही रहता है।

पाठकों को किंचित् अतृप्त रखते हुए कविता या उपन्यास को समाप्त कर देना, यह कुछ दिनों से कला का कौशल बन गया है। किन्तु, पाठकों की कल्पना के भरोसे कितना छोड़ा जाय और कितना नहीं, यह विचारणीय विषय है और इसका सम्यक् ज्ञान रचना की प्रक्रिया में संलग्न कवि को होना ही चाहिए, अन्यथा जिस कौशल से वह पाठक की कल्पना को उत्तेजित करना चाहता है, उसका यह परिणाम भी हो सकता है कि पाठक खिन्न, उदास या अप्रसन्न होकर कविता को फेंक दे। और सबसे बुरी बात तो यह है कि ऐसी कविताएँ पाठकों की कल्पना के भरोसे रची तो जाती हैं, किन्तु, वे कल्पना को जगाने तो क्या, उसे छेड़ने में भी असमर्थ होती हैं। यह ठीक है कि इन असंबद्ध पंक्तियों में अथवा एक शब्द के विचित्रतापूर्ण वाक्यों में भी कभी-कभो कवित्व की किरणें झलक मारती हैं, किन्तु, उन्हें हम कविता नहीं कह सकते। उनसे तो केवल इतना ही सूचित होता है कि कवि कोई कविता लिखने को तैयार हो रहा है। अब यदि वह कविता लिखे ही नहीं तो उसकी तैयारी मात्र से क्या होता है?

कवियों और पाठकों के बीच का सेतु हर युग में नये ढंग से बनाया जाता है अथवा उस पर नये रंग छिड़के जाते हैं और जब यह पुल जीर्ण हो जाता है अथवा उसके रंग पुराने पड़ जाते हैं, तब फिर नया सेतु रचने अथवा पुराने सेतु पर नया रंग छिड़कने की आवश्यकता अनुभूत होने लगती है। होना यह चाहिए था

कि प्रयोगवादी कवियों के हृदय में जो नये स्वप्न मँडलाने लगे हैं, वे बाहर आते और पाठकों का उनसे परिचय कराया जाता। अथवा नये कवि जिस नवीन भंगिमा के कारण यह विशेषण पसन्द करते हैं, वह पाठकों में भी उतारी जाती। किन्तु, यह काम प्रयोगवाद में बहुत कम हो रहा है। प्रयोगवादियों के बीच ज्यादा शोर तो इसी बात का सुनायी देता है कि पुरानी कविता पुरानी हो गयी, नयी कविताएँ लेकर अब हम आ रहे हैं और हमारे साथ साहित्य में एक नया युग प्रवेश कर रहा है।

अच्छा हो या बुरा, साहित्य में नया युग तो आता ही रहता है। सपूत हो या कपूत, पिता का दायित्व किसी न किसी पुत्र को ढोना ही पड़ता है। इलियट परंपरा को तोड़ कर चले, यह बात नवयुवकों को बहुत पसन्द आयी। किन्तु, वे यह देखना भूल गये कि परंपरा की जितनी टूटी कड़ियाँ इलियट में आकर जुड़ीं, उतनी पहले और कभी नहीं जुड़ी थीं। प्राचीनता और नवीनता के सतही भेद ग़लत हैं। इलियट के अनुसार भी नवीनता आकाश से नहीं टपकती, न कभी प्राचीनता का नाश होता है। इतिहास सर्वथा ध्वस्त युगों की गाथा नहीं, प्रत्युत् ऐसा मानचित्र है जिसमें भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, तीनों एक साथ जी रहे हैं, जैसे भूगोल के मानचित्र में हमें विश्व के विभिन्न देश एक-साथ जीवित दिखायी देते हैं। इलियट ने यह भी कहा है कि हड्डी के भीतर अपने युग का अस्तित्व और पीठिका में परंपरा का ध्यान, यह साहित्य लिखने की सही मुद्रा है। परन्तु, इलियट में परंपरा-भंजन का जो नाद है, उसे तो हमारे नव-युवकों ने सुना, उनके भीतर परंपरा को जोड़नेवाले जो विचार हैं, उन्हें ही ये कवि पकड़ नहीं पाते। यही कारण है कि प्रयोगवादी धारा का जो कथ्य विषय है, उसका कथन तो नाममात्र को ही हो रहा है, किन्तु, जिन बातों का कोई स्थायी महत्त्व नहीं है, वे ही बातें बार-बार दुहरायी जा रही हैं। जो उन्हें करना है, उसका मर्म वे समझ नहीं पाते। किन्तु, जो महज़ आनुषंगिक बातें हैं, सबसे ज्यादा जोर वे उन्हीं पर दे रहे हैं। नया युग लाने के उत्साह ने उन्हें इस जोर से पकड़ लिया है कि नवीन युग के रहस्योद्घाटन का काम अभी वे प्रारंभ भी नहीं कर पाये हैं। वे तो बार-बार हमें यही बताये जा रहे हैं कि प्राचीनता उन्हें तनिक भी स्वीकार्य नहीं है।

किन्तु, प्राचीनता किस युग को स्वीकार्य होती हैं? मैं फिर इलियट का ही उद्धरण दूँगा। वर्त्तमान की चेतना, वस्तुतः, अतीत का ज्ञान है। हम मृत लेखकों की अपेक्षा कुछ अधिक जानते हैं, किन्तु, मृत लेखकों के सिवा और

हम जानते भी क्या हैं ? सारा साहित्य सातत्य का अविच्छिन्न प्रवाह है, जिसका वर्त्तमान बराबर अतीत को अपने साथ लिये रहता है। अतीत बराबर अपूर्ण होता है और जब नये मुहाविरों में नयी अनुभूतियाँ लिखी जाने लगती हैं तब वह केवल वर्त्तमान के जीवित होने का ही प्रमाण नहीं होता, उससे यह भी प्रत्यक्ष होता है कि अतीत की प्रक्रिया पूर्ण हो रही है। छायावाद का जन्म द्विवेदी-युग की अपूर्णताओं में हुआ था और छायावाद भी अपूर्ण निकला जिसकी पूर्त्ति का प्रयास छायावादोत्तर काल ने किया। और अब छायावादोत्तर काल की अपूर्णता और अतृप्ति भी युवकों को अनुभूत होने लगी है। हम जानते हैं कि वे इस अपूर्णता को भी पूर्ण करेंगे, और फिर पोतों का युग आयेगा जो अपने पिता की अपूर्णताओं को दूर करने की कोशिश करेगा। अपूर्णता और पूर्णता की यह प्रक्रिया, अनिवार्य रूप से, कविता की निचाई या ऊँचाई की प्रक्रिया नहीं है। ऐतिहासिक सत्य केवल इतना है कि हर युग नया जल लेकर आता है और हर युग जब जाने लगता है, तब उसके लाये हुए जल से आगामी युग की प्यास नहीं बुझ पाती। इसलिए, प्रत्येक युग को अपना कुआँ आप खोदना पड़ता है, चाहे वह छिछला ही क्यों न हो। किन्तु, मेरा अनुमान है, हमारे नये कवि साधनापूर्वक अपने युग का कुआँ खोदने में निरत नहीं रह कर, बार-बार, यह घोषणा करने में अपना समय बर्बाद कर रहे हैं कि हमारा कुआँ पहले के कुओं के समान नहीं होगा। पहले के कूप अच्छे नहीं थे, अब हम अच्छा कूप तैयार कर रहे हैं।

और यह बात वे केवल लेक्चरों में ही नहीं कहते, उनकी बहुसंख्यक रचनाएँ भी केवल इतना ही प्रचार करके मौन हो जाती हैं कि वे पहले की रचनाओं से भिन्न हैं। हिन्दी में अब तक जो श्रेष्ठ कवि हुए, प्रयोगवादी कवि उनके लक्षणों को त्याज्य समझते हैं। चूँकि पहले के कवियों ने छन्द में लिखा, इसलिए नये कवि बिना छन्द के लिखते हैं। चूँकि पहले के कवियों की रचनाओं में लय होती थी, इसलिए, नये कवि लय को छोड़ रहे हैं। और चूँकि पहले के कवि एक शब्द का वाक्य नहीं लिखते थे, इसलिए नये कवि ऐसे वाक्य धड़ल्ले से लिख रहे हैं। अंगरेजी के मेटाफिज़िकल कवियों की रचनाओं से शिक्षा यह निकली है कि कविता का सर्वश्रेष्ठ गुण उसका मिरेकुलिज्म यानी चमत्कार है ; कविता को और कुछ करने के पूर्व पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहिए, उनकी चेतना को चौंका देना चाहिए। और एक शब्द के वाक्यों में और कोई गुण चाहे न हो, यह गुण तो है ही कि उन्हें देख कर पाठक चौंक उठें, भले ही, चौंक उठने के

बाद उनके भीतर हास्य के अनुभाव उत्पन्न हों, कविता चाहे किसी भी रस की हो।

किन्तु, प्रयोगवादी कविता के ये लक्षण अधिकतर उन्हीं कवियों में मिलते हैं जो बाढ़ के साथ बह कर आये हैं और जो बाढ़ के उतरने के बाद इस कविता की खाद बनेंगे। प्रत्येक आन्दोलन को खाद की आवश्यकता होती है और हर नया आन्दोलन अपनी खाद अपने साथ लाता है। कविता की खाद, यानी वे लोग जो नयी दिशा में चलने की कोशिश करते हैं, किन्तु, चल नहीं पाते। फिर भी, उनके कूदने-फाँदने से पाँव के नीचे की जमीन चिकनी और मुलायम हो जाती है। इस दृष्टि से असफल कवियों का भी महत्त्व है, क्योंकि नये आन्दोलन की मारकता को वे अपने ऊपर खींच कर, दूसरों को उससे बचने का संकेत देते हैं।

किन्तु, इस बाढ़ के उतरने के बाद कौन लोग बचनेवाले हैं? वे जिनके कलश अभी से कुछ ऊपर दिखायी देने लगे हैं, या वे जिन्हें इस आन्दोलन का परिपाक आगे चल कर उत्पन्न करेगा? संभव है, भविष्य के कोट पर दोनों ही प्रकार के कवियों का अधिकार हो। किन्तु, यह विचिकित्सा भी व्यर्थ है। मैंने जो नये आन्दोलन से आशा लगायी है, वह व्यक्तियों को देख कर नहीं, प्रत्युत्, इस भाव से कि यह आन्दोलन शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन है और चूँकि यह प्रगतिवादी आन्दोलन की पीठ पर आया है, इसलिए, इसकी साहित्यिकता मुझे स्वाभाविक भी दीखती है।

प्रयोगवाद के एकाध समर्थक ने यह कहा है कि "छायावाद की शब्दावली भावनाओं को प्रेषित करने में असफल सिद्ध होने लगी थी" इसलिए, नयी कविता को आना पड़ा। किन्तु, यह अनुमान अशुद्ध है। छायावाद और रहस्यवाद की असमर्थता के समय प्रयोगवाद जन्मा भी नहीं था। और जब वह जन्मा, उसके पहले ही छायावादी कवि सँभलने लगे थे। यह ठीक है कि प्रयोगवादियों की साधना यदि सफल हुई, तो उससे अनुभूति और अभिव्यक्ति, दोनों की स्वच्छता में वृद्धि होगी। किन्तु, यह शिक्षा प्रयोगवाद ने छायावाद से नहीं ली। यह ज्ञान तो उसने यूरोप की अत्याधुनिक आलोचनाओं और कविताओं से प्राप्त किया है। फिर यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि प्रयोगवाद छायावाद के अनन्तर नहीं, छायावादोत्तर काल के पश्चात् उत्पन्न हुआ और छायावादोत्तर काल को ही लोग, भ्रमवश, प्रगतिवाद का काल कहने लगे हैं। अतएव, यदि प्रतिक्रिया की दृष्टि से सोचें तो कहना पड़ेगा कि जैसे छायावाद-काल द्विवेदी-युग के विरुद्ध आया था और छायावादोत्तर काल छायावादी युग की परिष्कृति से उत्पन्न हुआ,

वैसे ही, प्रयोगवाद, छायावादोत्तर काल अथवा, स्पष्टतः, प्रगतिवादी आन्दोलन के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बीच यह जो प्रतिक्रिया का संबन्ध है उसे लोग, साधारणतः, इस कारण नहीं समझ पाते कि पहले तार-सप्तक में भी साम्यवादी कवि घुसे हुए थे और आज भी इस धारा में ऐसे अनेक नवयुवक चल रहे हैं जो विचारों से मार्क्सवादी हैं। ये लोग इस आन्दोलन के साथ रहेंगे या उससे अलग हो जायेंगे, इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है। किन्तु, इस प्रश्न का कोई खास महत्व भी नहीं है, क्योंकि यह तो पूर्णरूप से समझ मे आने की बात है कि मार्क्सवादी होने पर भी व्यक्ति, चाहे तो, शुद्ध साहित्यिक भाव से साहित्य की सेवा कर सकता है। जब कवि के गाँधीवादी अथवा आस्तिक या नास्तिक होने से कवि-प्रतिभा मारी नहीं जाती, तब उसे मार्क्सवाद से ही क्यों भय होगा ?

जिस बात का मेरी समझ में विशेष महत्त्व है, वह यह है कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद, दो भिन्न आन्दोलन हैं। प्रगतिवाद का खास जोर कवियों के सामाजिक विचार पर था। उसे इस बात की, प्रायः, कोई चिंता नहीं थी कि ये विचार शुद्ध कविता की शैली में व्यक्त हो रहे हैं, या गद्य-कल्प रीति से। किन्तु, इस बात की उसे चिंता थी और बहुत अधिक थी कि कविगण साहित्य में राजनीति के दल-विशेष की पताका उठाये चल रहे हैं या नहीं। इसीलिए, मेरा मत है कि प्रगतिवाद साहित्यिक आन्दोलन नहीं था।

किन्तु, प्रयोगवाद पर ऐसा कोई भी आक्षेप नहीं लगाया जा सकता। वह, आदि से अन्त तक, शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन है, कला का आन्दोलन है और उसका मुख्य ध्येय काव्य एवं कलासंबन्धी हमारी धारणाओं को परिवर्तित करना है। यह आन्दोलन छायावाद की पीठ पर भी आ सकता था, क्योंकि इसका मुख्य ध्येय अनुभूति और अभिव्यक्ति, दोनों को स्वच्छ बनाना है और छायावाद-काल में ये दोनों ही चीजें, अधिकांश रचनाओं में, अस्वस्च्छ थीं। किन्तु, यह आन्दोलन छायावाद-काल की समाप्ति के साथ नहीं आया, जिसका एक कारण तो यह था कि उस समय हिन्दी में ऐसे युवक बहुत थोड़े थे, कविता के सम्बन्ध में जिनकी रुचि अन्तर्राष्ट्रीय रुचि से प्रभावित रही हो। दूसरे, अपनी तमाम दुर्बलताओं के साथ छायावाद पूर्णरूप से कलापूर्ण और साहित्यिकता से ओतप्रोत था। अतएव, उस समय यह अत्यन्त अप्रासंगिक बात होती यदि कोई नया आन्दोलन यह घोषणा करने को आ जाता कि साहित्य में कला और साहित्यिकता की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। यह तो कमल को रँगने और गुलाब को सुवासित

करने के समान हास्यास्पद बात होती। छायावाद में सबसे बड़ी कमी सुस्पष्टता की थी जो सबको अनुभूत होती थी और सुस्पष्टता की दिशा में हिन्दी कविता ने छायावादोत्तर काल में प्रगति भी की। किन्तु, जब प्रगतिवाद के नाम पर साहित्य में कनस्तर बजाये जाने लगे और साहित्यिक मूल्यों का ह्रास होने लगा, तब यह आवश्यक हो गया कि हिन्दी में कला और शैली के हिलते हुए महत्त्व को फिर से सुस्थिर करने के लिए कोई बड़ा प्रयास किया जाय। वही प्रयास, धीरे-धीरे, बढ़कर प्रयोगवाद बन गया। यह और बात है कि अब इस आन्दोलन के दर्शन की पीठिका पर छायावादी और छायावादोत्तर युगों की प्रवृत्तियाँ भी खराद पर चढ़ी हुई मालूम होती हैं।

स्वयं प्रयोगवादियों ने अपना आन्दोलन आरंभ करते समय इन बातों पर विचार किया था या नहीं, इस विचिकित्सा से मेरी स्थापना में कोई फर्क नहीं आता। कोई भी नया कवि, आरंभ में, यह नहीं जानता कि वह प्रचलित शैली को छोड़कर किसी नयी शैली में क्यों लिख रहा है, न कविगण, आरंभ में, यही जानते हैं कि वे किसी नये आन्दोलन के साथ हैं। नयी शैली भी उसी स्वाभाविकता से जन्म लेती है, जिस स्वाभाविकता से फूल चटकते या टहनी में पत्ते निकलते हैं। सचेष्ट आन्दोलन केवल राजनीति में चलते हैं। साहित्य में तो आन्दोलन भी सहज भाव से ही प्रकट होते हैं। बाद में चल कर जब छायावादियों का विरोध होने लगा, तभी स्वयं छायावादी कवि भी यह जान सके कि वे एक नये आन्दोलन के प्रवर्तक हो पड़े हैं। अन्यथा वे यह क्यों सोचने जाते कि कविताएँ नहीं लिख कर वे कोई आन्दोलन चला रहे हैं? प्रयोगवाद के जन्म की प्रक्रिया भी ऐसी ही सहज थी। जब अनेक कवियों और आलोचकों ने साहित्य में विचारों को अत्यधिक प्रमुखता देकर उसके शैली-पक्ष को गौण कर दिया, तब कुछ नवयुवक साहित्य के शैली या कला-पक्ष को ऊपर उठाने को आगे बढ़े। किन्तु, आरम्भ में, इन युवकों को यह ज्ञात नहीं था कि वे प्रगतिवाद से उत्पन्न होनेवाले दोषों का परिहार करने को आगे आ रहे हैं। यही कारण था कि उनके इस सदुद्योग में बहुत-से ऐसे लोग भी साथ हो गये जो अपने को प्रगतिवादी कहते थे अथवा जो मार्क्सवादी राजनीति के साथ थे। किन्तु, आन्दोलन जैसे-जैसे आगे बढ़ा, बातें सुस्पष्ट होती गयीं। यहाँ तक कि आज यह स्थिति है कि, यद्यपि, नयी शैली में लिखनेवाले कितने ही कवि विचारों से मार्क्सवादी हैं, किन्तु, प्रयोगवाद और प्रगतिवाद के बीच का भेद, फिर भी, काफी प्रत्यक्ष हो गया है।

मुझे इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है कि प्रगतिवादी आन्दोलन ने साहित्य में साहित्येतर मूल्यों को प्रोत्साहन देकर जो स्थिति उत्पन्न की, उसी से युवकों को, फिर से, शैली की महिमा पर विचार करने की प्रेरणा मिली और इसी चिंतन से प्रयोगवाद का आविर्भाव हुआ, जिसका वास्तविक उद्देश्य काव्य में अधिक कवित्व और साहित्य में अधिक साहित्यिकता को उत्तेजित करना है। प्रगतिवाद के साहित्येतर लक्षणों का विरोधी होने के कारण ही, प्रयोगवाद अपने ऊपर साहित्यिकता के संपूर्ण निर्वाह का अत्यन्त गुरु दायित्व लेकर आया है। किन्तु, दायित्व की इस भयानकता को वे क्या समझें, जो केवल साहित्यिक क्रान्ति के जोश में इस आन्दोलन के साथ हो गये हैं? इसका मर्म तो कुछ वे ही कवि जानते होंगे जो सच्चे और ईमानदार है तथा इस दायित्व को सफल करने के प्रयास में जिनका दिमाग फटता होगा। इसी प्रकार, इस पीड़ा का रहस्य वे कवि भी न जान सकेंगे जो बनी-बनायी राह पर चलने के अभ्यासी हैं। छायावाद की शैली रोमांटिक प्रेरणा से निर्मित हुई थी और रोमांटिसिज्म की उन्मत्त प्रेरणा आनन्द की चीज है। इस प्रेरणा के मन्दोन्माद में शैली का निर्धारण, प्रेरणा के प्रवाह में, बहुत कुछ आपसे आप हो जाता है। किन्तु, प्रयोगवाद के भीतर आनन्दमय मन्दोन्माद के लिए अधिक गुंजाइश नहीं है। इसकी सफलता प्रेरणा के साथ बहने में नहीं, उसे विचारों के अधीन रख कर काम करने में है। रोमांटिक मनोदशा उड़ने की मनोदशा होती है और कल्पना की यह उड़ान अब तक कविता की सबसे बड़ी शक्ति मानी जाती रही है। इसके विपरीत, क्लासिक कवियों की वह मनोदशा होती है जिसमें कवि धीर, स्थिर और अपने वर्ण्य विषयों पर हावी बना रहता है। किन्तु, क्लासिक चिंतन की ही दिशा में अब एक नयी मुद्रा उत्पन्न हो रही है जो उड़ने नहीं, जम कर मिट्टी तोड़ने की मुद्रा है, जो पर्वतों पर मूर्त्ति-खचन नहीं करके सदेह उनके भीतर प्रवेश करना चाहती है। इस मुद्रा के नये कवि, मुख्यतः, चिंतक-कवि होंगे, किन्तु, कल्पना को वे छोड़ नहीं सकते, क्योंकि उनका सारा चिंतन कल्पनामय होगा। कल्पना के सिवा और कौन साधन है, जिससे कवि वस्तुओं के भीतर प्रवेश कर सके तथा कल्पना को छोड़कर और कौन शक्ति है, जो वस्तुओं की आन्तरिकता के ज्ञान को चित्रों में परिवर्तित कर सके?

इसीलिए, मेरा विचार है कि प्रयोगवाद हिन्दी-कविता को जिस ओर जाने का संकेत दे रहा है, वह काव्यमात्र की सब से श्रेष्ठ दिशा है और इसीलिए, प्रयोग की साधना भी ऐसी साधना है जिससे अधिक कठोर साधना की कल्पना नहीं की

जा सकती। न जानें, यह साधना कितने कवियों का बलिदान लेगी ! न जानें, इसमें कितने कवियों के खाद बन जाने पर एक सफल कवि उत्पन्न होगा ! इस कविता की आलोचना भी कोई सरल कार्य नहीं है। और हमारे आलोचकों के पास जो पुरानी कसौटी है उस पर तो नये कवि परखे ही नहीं जा सकते। नये कवि अपना रहस्य, शायद, आप खोलेंगे। अभी भी, प्रयोगवादियों में अनेक कवि ऐसे हैं जिनके भीतर कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओं का अपूर्व संयोग है। मेरा अनुमान है कि जो लोग इन कवियों की कविताओं को हँस कर टाल देते हैं, वे भी उनके चिंतनयुक्त समीक्षात्मक निबंधों से अवश्य प्रभावित होते होंगे। ज्यों-ज्यों यह कविता विकसित होगी, त्यों-त्यों आलोचकों की कठिनाई बढ़ती जायगी। नयी कविता की समीक्षा यूरोप में भी दुष्कर सिद्ध हुई है। होल्डरलीन, रिम्बाड (या रेम्बू ?), रिल्के, इलियट, स्पेंडर, डिलेन टामस, आदि अभिनव कवियों की कृतियों का विश्लेषण करने में यूरोप के बड़े-बड़े दार्शनिक समीक्षकों की बुद्धि को पसीना आ गया है।

नवयुवकों ने कविता में जो अन्तर्राष्ट्रीय रुचि को अपनाना शुरू किया है, उससे भी उन्हें कलंक नहीं, सुयश की ही प्राप्ति होनी चाहिए। और अब क्या यह संभव है कि भारत की रुचि अन्य देशों से सर्वथा भिन्न रखी जा सके ? और अन्तर्राष्ट्रीय रुचि है क्या चीज ? वह अनेक राष्ट्रों की रुचियों के पारस्परिक मिलन से ही उत्पन्न होती है। गेटे के फास्ट का प्रिलूड भारतीय नाटकों के नान्दी-प्रसंग से बना था, शीलर और हाइने पर कालिदास का प्रभाव था और इलियट के विकास का एक मुख्य कारण उन पर उपनिषदों और बौद्ध चिंतन का प्रभाव भी है। और इलियट को अपना आदर्श मान कर चलने में भारत के नवयुवकों का कोई अपमान भी नहीं है। इलियट आसानी से आज विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जा सकते हैं। और उनका उद्भव साहित्य-जगत् के लिए कोई आकस्मिक घटना भी नहीं है। बहुत दिनों से कविता छिलकों को तोड़ कर बीज के भीतर प्रवेश करने का प्रयास करती आ रही है और इस, क्रम में, छिलके बहुत बार टूटे भी हैं और कभी-कभी कवियों ने बीज के भीतर प्रवेश भी किया है। किन्तु, कविता का अधिक सौन्दर्य अब तक छिलकों के रंग से लिपटा रहा है। मगर, नये प्रयोगों से यह बात स्पष्ट हो रही है कि वस्तुओं के ऊपर-ऊपर अब काव्य नहीं है। कविता तो वस्तुओं के अन्तराल में बसती है। यह नया प्रयास प्रत्येक वस्तु की उसी आन्तरिकता में धँसने का प्रयास है। यह उन महलों में दीपक जलाने की तैयारी है जहाँ पहले किसी ने दिये नहीं जलाये थे।

महर्षि अरविन्द की कल्पना थी कि अगले युग की कविता मंत्र के समान होगी अर्थात् आकार उसका छोटा होगा, किन्तु, उसका प्रत्येक शब्द पाठक के भीतर अपार अनुभूतियों का द्वार खोलनेवाला होगा। कविता का यह मंत्रत्व क्या होगा, इस बात की कुछ थोड़ी झाँकी इलियट की कविताओं मे मिलने लगी है। हिन्दी कविता का चरम लक्ष्य इसी मंत्रत्व की प्राप्ति है और राह भी उसकी वही हो सकती है जिस पर आज इतना कोलाहल मचा हुआ है।

और इस महायज्ञ के पुरोधा भी इसी भीड़ में छिपे हुए हैं। एक दिन यह भीड़ नष्ट हो जायगी। संभव है, कोयलों के साथ कुछ हीरे भी नष्ट हो जायँ। किन्तु, ये कोयले और ये हीरे, नष्ट होने पर भी, नये हीरे उत्पन्न करेंगे। इसीलिए, मै इस आन्दोलन को अत्यन्त श्रद्धा से देखता हूँ और चाहता हूँ कि यह अपने ध्येय को न भूले, हू-हल्लड़ में पड़ कर यह पथभ्रष्ट न हो जाय और इसके समर्थ कवि विवाद से बचकर, अज्ञात और अपरिचित को छूने के प्रयास मे, अगाधता के भीतर अधिकाधिक डूबते चले।

यह प्रयोग सफल हुआ तो कविता उस ऊँचाई या गहराई में पहुँचनेवाली है जहाँ वह पहले कभी नही पहुँची थी। यह ठीक है कि यह कविता जब सफल होगी, कवि-सम्मेलन बन्द हो जायँगे और कविता के पाठकों की संख्या भी अपेक्षाकृत कम हो जायगी। किन्तु, तभी, शायद, वे लोग कविता की पुस्तकों को हाथ में लेंगे जो आज कविता को छूते भी नही और यदि, कृपापूर्वक, कभी उसे सुन लेते हैं तो केवल मनबहलाव के लिए, कुछ इस भाव से नहीं कि कविता भी अनिवार्य है अथवा वह भी उस मस्तिष्क की खुराक बन सकती है, जिसे तब तक संतोष नहीं होता जब तक कि वह किसी गहन-गंभीर विचार से टक्कर नहीं ले। संभव है, मै जो सोच रहा हूँ उसके घटित होने मे अभी काफी देर हो और प्रयोग, अभी कई दशकों तक, प्रयोग ही रह जाय। किन्तु, कविता को अपनी खोयी प्रतिष्ठा को यदि फिर से प्राप्त करना है, तो उसकी राह वही है जिस पर प्रयोगवादी चल रहे हैं। और उनमे से प्रत्येक को यदि खाद बनना पड़ता है, तो भी यह प्रयोग छोड़ने लायक नहीं है। आखिर, अंगरेजी के इमेजिष्ट कवियों का भी इतना महत्व तो मानना ही पड़ेगा कि जिस मार्ग पर आगे चल कर इलियट उत्पन्न हुए, उसके आरंभिक प्रयोक्ता इमेजिष्ट कवि ही थे।

४

यही कुछ सोच कर मैने, किसी का नाम लिये बिना, प्रयोगवादी कवियों को अपना "नील कुसुम" समर्पित किया था और उस आन्दोलन के प्रति अपनी आस्था

प्रकट की थी, जो और कुछ कर सका हो या नहीं, किन्तु, यह सूचना तो दे ही चुका है कि प्रचलित कविता, एक बार फिर, जीवन के "गियर" से छूट गयी है और उसे "गियर" में वापस आने को, फिर से, अपने भीतर नयी विच्छित्ति और नयी भंगिमा उत्पन्न करनी चाहिए। किन्तु, मेरे आशय को बहुत थोड़े लोगों ने समझा। बाकी तो इसी आश्चर्य में चकित रह गये कि "नील कुसुम" में प्रयोग कहाँ है। किन्तु, मेरा निवेदन है कि नील कुसुम की पाँच-सात कविताओं में प्रयोग है और वह प्रयोग प्रयोगवादियों की श्रेणी में स्थान बनाने को नहीं, प्रत्युत्, अपने आपको "गियर" में वापस लाने को किया गया है। "नील कुसुम" के कवि और प्रयोग-वादियों के बीच समानता का मुख्य विन्दु यह है कि प्रचलित कविता यथेष्ट नहीं है, क्योंकि उसके भीतर रोमांटिक रुझान है, गाने, रिझाने और प्रफुल्लित करने की प्रवृत्ति है जो उसे सोचने नहीं देती। प्रचलित कविता उस मनुष्य की कविता है जिसका मानस निश्चित है, जो अपने विश्वासों में अडिग खड़ा है, जिसके भीतर यह शंका या जिज्ञासा उठती ही नहीं कि उसके विश्वास गलत हैं या ठीक हैं, जो मानसिक और मनोवैज्ञानिक कोलाहल से मुक्त है तथा जो मानता है कि उसके सामने कोई सुस्पष्ट आदर्श विद्यमान है, जो उसे खींच रहा है।

लिखना ऐसी प्रक्रिया है जिसमें लेखक और पाठक, दोनों भाग लेते हैं। लेखक लिखता है, किन्तु, अपने जानते वह जिन पाठकों के लिए लिखता है, उनकी रुचि लेखक को बहुत दूर तक प्रभावित करती है। अतएव, जो कवि निश्चित हैं और अपने पाठकों को भी वैसा ही समझते हैं, उनका मानसिक कोलाहल से मुक्त रहना अत्यन्त स्वाभाविक बात है। कौन नहीं जानता कि समाज में अभी वे ही लोग बहुत हैं जो परंपरा के अनुसार सोचते हैं, जिन्होंने विज्ञान से उत्पन्न होने-वाली उलझनों को समझा ही नहीं है अथवा समझा है तो उनसे वे अपनी आँखें मूँदे हुए हैं?

विज्ञान के कारण दुनिया की हालत बदल गयी, किन्तु, विज्ञान छोड़ कर अन्यत्र हमारे सोचने का ढंग नहीं बदला है, यद्यपि, उसे बदलना चाहिए और जितना शीघ्र यह बदलेगा, विज्ञान के साथ हमारा रागात्मक सामंजस्य भी उतना ही शीघ्र स्थापित होगा। सोचने का यही पुराना ढंग कविता में हमारा पीछा कर रहा है। कविता को हम बहुत कुछ उसी दृष्टि से देखते हैं, जिस दृष्टि से दो सौ पीढ़ी पूर्व देखा करते थे। कविता, यानी वह चीज जिसमें छोटी बातें बड़ी बना कर कही जाती हैं; कविता, यानी वह चीज जो हमें दुनिया को भूलने में सहायता देती है; कविता, यानी वह चीज जो वायलिन पर गायी जाती है;

कविता, यानी वह चीज जिसमें मादक छवियों का ध्यान होता है ; कविता, यानी वह चीज जिसमें प्रेमी तड़पते और प्रेमिकाएँ आँसू बहाती हैं ; कविता, यानी वह चीज जिसके जरिये आन्दोलन चलाये जाते हैं और कविता, यानी वह चीज जिसमें कान्ता-सम्मित उपदेश होता है। कोई आश्चर्य नही कि उन्नीसवी सदी के आरंभ में, टामस लव पिकाक ने कविता पर जोर से आक्रमण किया, जो एक तरह से, काव्य पर विज्ञान के ही आक्रमण का प्रतीक था। "ज्ञान, विज्ञान और बुद्धिवाद के युग में कविता का कोई उपयोग नही है। कवि सुसभ्य समाज में अर्ध-सभ्य प्राणी के समान जीता है। कविता चाहे जैसी भी हो, किन्तु, वह ज्ञान की किसी न किसी उपयोगी शाखा की कीमत पर जीती है। कितने खेद की बात है कि जो मस्तिष्क कठोर ज्ञान की साधना करने के योग्य है वह बौद्धिक प्रयासों के रिक्त एवं निरर्थक अनुकरणों में बर्बाद हो रहा है! जब सभ्यता बच्ची थी, कविता का यह उपयोग था कि वह मानसिक खड़खड़ाहट पैदा करके बुद्धि में थोड़ी जागृति उत्पन्न कर देती थी। किन्तु, यदि ज्ञान की वयस्कता के काल में भी, मनुष्य अपने बचपन के खिलौनों को गंभीर चिंतन का विषय मान ले, तो यह बिलकुल बेहूदी बात है।"

पिकाक की बाते अप्रिय और असत्य भी थी। किन्तु, समाज में ऐसे बहुत-से लोग हैं, कविता के विषय मे, जिनकी ऐसी ही धारणा है। यही कारण था कि विज्ञान के उस आक्रमण के उत्तर में शेली ने "इन डिफेन्स आव् पोयट्री" नामक निबंध लिखा और मैथ्यू आर्नाल्ड को जब पिकाक की दलीलों का कोई जवाब नहीं सूझा, तब वे यह कह कर बैठ गये कि चाहे जो हो, किन्तु, विज्ञान से यदि सभ्यता विनष्ट होने लगी, तो मनुष्य की रक्षा केवल कविता कर सकेगी। और वर्त्तमान सदी में भी, आइ० ए० रिचर्ड्स ने "सायन्स एण्ड पोयट्री" नामक अपने अत्यन्त लघु, किन्तु, विचारोत्तेजक ग्रन्थ में पिकाक का उद्धरण दे कर कवियों और आलोचकों के सामने, फिर से, यह प्रश्न उपस्थित किया है कि कौन वह उपाय है जिससे विज्ञान के युग में कविता अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध कर सकती है।

कविता ज्ञान है या आनन्द, यह प्रश्न बहुत दिनों से विश्व के चिंतकों को हैरान करता रहा है। कठिनाई यह है कि कविता को यदि ज्ञान कहें तो दर्शन, इतिहास, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा अन्य विद्याओं के सामने कविता गौरवहीन हो जाती है, क्योंकि ज्ञान जितना इन विद्याओं से मिलता है, उतना कविता से नहीं मिल सकता। और यदि कविता को आनन्द कहें तो वह मनोरंजन की वस्तु बन जाती है तथा जीवन में उसका कोई गौरवपूर्ण स्थान नहीं रह जाता। और

यदि यह कहें कि कविता ज्ञान और आनन्द, दोनों का मिश्रण है, तब भी कविता के गौरव में वृद्धि नहीं होती। वह कुछ तो दान या उधार पर जीनेवाली कंगालिनी हो जाती है तथा उसका कुछ रूप उस गवैये का रूप हो जाता है जिसका काम खा-पी कर डकार लेते हुए बाबुओं का मनोरंजन करना है। ज्ञान और विज्ञान से भरे हुए संसार में कविता की मर्यादा तब तक न बढ़ेगी, जब तक यह प्रमाणित न हो जाय कि मनुष्य के मन और जीवन में ऐसे भी कुछ क्षेत्र हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं और कविता उन क्षेत्रों की एकमात्र स्वामिनी है, अर्थात् कविता जो काम करती है वह अत्यन्त आवश्यक है और उसे कविता के सिवा और कोई विद्या नहीं कर सकती।

धर्म और विज्ञान पर विचार करते हुए आइंस्टीन इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि इन दोनों के कार्यक्षेत्र दो हैं। विज्ञान उन वस्तुओं का विश्लेषण करता है जिनका अस्तित्व है, अर्थात् विज्ञान के द्वारा हम उन नियमों का ज्ञान प्राप्त करते हैं जो इन वस्तुओं के पारस्परिक संबन्धों के आधार हैं। किन्तु, धर्म ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता। वह केवल इस बात पर विचार करता है कि मनुष्य को होना कैसा चाहिए। विज्ञान यह पता लगाता है कि हृदय मानव-शरीर में दाहिनी या बायीं ओर है। धर्म यह बतलाता है कि मानव-जीवन में हृदय का महत्त्व क्या है। विज्ञान नित्य नयी शक्तियों का अर्जन करके उन्हें मनुष्य के हाथों में रखता जा रहा है, किन्तु, मनुष्य इन शक्तियों का उपयोग किन ध्येयों के लिए करे, यह शिक्षा विज्ञान से नहीं निकाली जा सकती। यह बात हमें धर्म बतला सकता है। किन्तु, धर्म अनादृत हो गया और मनुष्य ने अपने कार्यों के लिए धर्म से राय-मशविरा करना छोड़ दिया है। वह अपना सारा काम अब केवल बुद्धि से पूछ कर करता है। परिणाम यह है कि विज्ञान की शक्तियाँ मनुष्य का काल बन रही हैं, क्योंकि मनुष्य यह जानता ही नहीं कि इन शक्तियों का सम्यक् उपयोग क्या है।

धर्म और कविता एक नहीं हैं। किन्तु, जैसे धर्म को छोड़ कर मनुष्य संकट में आ पड़ा है, वैसे ही, यदि कविता उसके जीवन से विदा हो गयी तो वह इससे भी भयानक संकटों में गिरने वाला है। कारण यह है कि धर्म की अपेक्षा कविता का मूल मानवीय अस्तित्व की अधिक गहराई में है। धर्म को नहीं माननेवाले कितने ही व्यक्ति हैं, जो समाज के अच्छे सदस्य हैं। किन्तु, जिसके भीतर भाव (दया, प्रेम, घृणा, उत्साह आदि) नहीं जगते हों, ऐसे व्यक्ति की कल्पना करना कठिन है और यदि यह अकल्पनीय व्यक्ति कहीं है तो वह समाज के लिए सुखकर

नहीं, कष्टकर ही होगा। इसीलिए, मैथ्यू आर्नाल्ड ने संकेत किया था कि विज्ञान ने यदि धर्म को मार भी दिया, तो ऐसे समय में एकमात्र कविता मनुष्य की रक्षिका और सहायिका हो सकती है।

किन्तु, धर्म को क्या विज्ञान ने मारा है? विज्ञान ने बुद्धिवाद का दीपक जलाया। धर्म इस दीपक का प्रकाश न सह सकने के कारण आपसे आप लांछित हो गया। विज्ञान की संगति में आकर मनुष्य ने यह शिक्षा ग्रहण की कि सत्य सापेक्ष होता है और मनुष्य का ज्ञान नयी शोधों के अनुसार बराबर बदलता रहता है। इतिहास, दर्शन और विज्ञान में भी, एक समय, मनुष्य ऐसी बातों में विश्वास करता था जो ग़लत थीं। इसलिए, उसने नयी शोध की ओर बहुत-सी प्राचीन भूलों को सुधार कर वह नयी बातों में विश्वास करने लगा। किन्तु, धर्माचार्यों ने कहा, संशोधित धर्म कोई धर्म नहीं है। धर्म जैसा जन्मा था, वैसा ही सत्य है। उसमें सुधार की गुंजाइश कहीं भी नहीं मानी जा सकती। अतएव, इस दुराग्रह के कारण धर्म निन्दित हो गया और मनुष्य उसकी अधीनता से छूट कर यह सोचने लगा कि आत्म-तुष्टि के लिए अब जो कुछ भी किया जाय, वह जायज है, बशर्ते कि हम पुलिस के हाथों से बचे रहें। धर्म का पतन इस कारण हुआ कि धार्मिक लोग विज्ञान और बुद्धिवाद के साथ अपना सामंजस्य नहीं बिठा सके। सामंजस्य बिठाना अनिवार्य रूप से समझौते की प्रक्रिया नहीं है। उसका अर्थ केवल इतना है कि नये सत्यों के अनुसन्धान से हमारे मन और जीवन में जो हलचल उठती है, हमारे विश्वासों में जो कंपन आता है, उसका हम कोई समाधान खोज सकें।

जैसी समस्या धर्म के सामने थी, वैसी ही समस्या अब कविता के सामने उपस्थित हुई है। और कहीं कवियों और काव्यरसिकों ने यह हठ किया कि काव्य-सम्बन्धी वे ही धारणाएँ ठीक हैं जो पहले से चली आ रही है, तो एक दिन कविता का भी वही हाल होगा जो धर्म का हुआ है। विशेषत:, विज्ञान के युग में काव्य-विषयक रोमांटिक धारणाएँ टिकनेवाली नहीं हैं।

कविता के सम्बन्ध में पूछा जाने योग्य अब यह प्रश्न नहीं रहा कि कविता ज्ञान है या आनन्द। हमें पूछना यह चाहिए कि कौन वह कार्य है जिसे केवल कविता कर सकती है। ज्ञान और आनन्द अपनी जगह पर रहें। हमें उनसे कोई झगड़ा नहीं है। किन्तु, कविता के रूप और आत्मा पर प्रभाव अब उस उत्तर का पड़ेगा जो इस प्रश्न से निकलता है कि कविता किन कारणों से अन्य विद्याओं से भिन्न है अथवा कौन वह कार्य है जिसे अन्य विद्याएँ नहीं कर सकतीं, किन्तु, कविता कर सकती है।

बरट्रेंड रसल ने मानव-स्वभाव का विश्लेषण करते हुए एक जगह लिखा है कि मनुष्य की मूल-प्रवृत्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं। पहली प्रवृत्ति तो वह है जो स्थूल और अनगढ़ रूप में सभी जीवधारियों में देखी जाती है। यह प्रवृत्ति जीवधारी-प्रवृत्ति है जो हममें क्षुधा, तृषा और यौनेच्छा जाग्रत करती है तथा जिसकी प्रेरणा से हम क्रोध, प्रेम, घृणा और उत्साह का अनुभव करते हैं। आत्मरक्षा की प्रवृत्ति इसी जीवधारी-प्रवृत्ति के साथ है और वह मनुष्य के साथ पशु में भी पायी जाती है। भेद केवल सूक्ष्मता और स्थूलता का है। भैंस नहीं चाहती कि उसके खूँटे पर कोई दूसरी भैंस आये। घृणा का यही भाव परिष्कृत होकर मानव-समाज में राष्ट्रीयता कहलाता है।

मनुष्य में दूसरी प्रवृत्ति सोचने अथवा चिंतन करने की प्रवृत्ति है। सोचने की किंचित् शक्ति पशुओं में भी होती है। किन्तु, पशुओं का सोचना केवल उपयोग की दृष्टि से चलता है। गायें इतना ही सोच सकती हैं कि कौन घास खाने योग्य है और कौन नहीं अथवा खतरों के समय कैसे और किधर को भागना चाहिए। जो उपयोगी नहीं है, उस पर पशु विचार नहीं करते। किन्तु, मनुष्य बहुत-सी ऐसी बातों पर भी विचार करता है, जिनका कोई उपयोग नहीं है। संसार के सारे के सारे आविष्कार आकस्मिक रूप से हुए हैं। मनुष्य पूरब की ओर सोच रहा था, अचानक पश्चिम की ओर से झलक आ गयी। ज्ञान ज्ञान के लिए और चिंतन चिंतन के लिए, यह बात यदि सत्य नहीं होती तो सोचने की प्रक्रिया में जो कष्ट है, उसे कौन स्वीकार करता? यदि ज्ञान का संचय, अपने आप में ही, आनन्द की वस्तु न हो तो कोई भी व्यक्ति अधिक ज्ञान संचित करना नहीं चाहेगा। सभी ज्ञान उपयोगी और सोद्देश्य नहीं होते। बहुत-से ऐसे ज्ञान भी हैं जिनका मनुष्य की जीवित रहने की प्रवृत्ति से कोई संबंध नहीं है। बल्कि, मनुष्य ने बड़ी कठिनाई झेल कर ऐसा भी ज्ञान प्राप्त किया है जिसका एकमात्र उपयोग आत्महत्या में किया जा सकता है।

मनुष्य की तीसरी प्रवृत्ति सदसद्-विवेक की प्रवृत्ति है जिसे धर्म की भाषा में आत्मा कहते हैं। कई लोग इस प्रवृत्ति को भी बुद्धि का ही अंश मानते हैं। किन्तु, बुद्धि सोचने का यंत्र मात्र है। वह क्या सोचे और क्या न सोचे, किस दिशा में जाय और किस दिशा में न जाय, यह प्रेरणा किसी और शक्ति से आती है। यही शक्ति धर्म, कांसेंस, स्पिरिट आदि नामों से अभिहित की जाती है। अथवा यों कहें कि सोचने के यंत्र में भी इतना विवेक है कि वह आधिभौतिक संकटों से बच कर चले, मानों, कोई इंजिन पहाड़ों और नदी-नालों को देख कर आपसे-

आप मुड़ जाता हो। किन्तु, एक और प्रकार का संकट है जो आधिभौतिक नहीं, आध्यात्मिक होता है, जैसे यह बात कि बुद्धि मनुष्य को धनवान बनाना चाहती हो, किन्तु, कोई शक्ति आ कर उसे यह बता जाय कि चोरी करके धनवान नहीं बनना चाहिए।

मनुष्य की सदसद्-विवेकवाली प्रवृत्ति जन्मजात प्रवृत्ति है या वह अनुभव और अभ्यास से बनी है, इस विचिकित्सा का कोई बड़ा महत्त्व मैं नहीं मानता। मनुष्य के भावों का मूल कहाँ है, इसका अन्तिम समाधान, प्रायः, असंभव बात है। वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य में अब हम इन तीनों प्रवृत्तियों को काम करते देखते हैं और हमारे व्यक्तित्व का चौकोर विकास इन तीनों प्रवृत्तियों के संतुलित विकास पर ही निर्भर करता है। असभ्य मनुष्य में जीवधारी-प्रवृत्ति अत्यंत प्रबल होती है तथा बाकी दो प्रवृत्तियाँ उसके भीतर नाममात्र को ही होती हैं। इसी प्रकार, वर्त्तमान सभ्यता में ऐसे भी लोग हैं जिनकी चिंतन-शक्ति तो बहुत समुन्नत हो गयी है, किन्तु, आत्मिक और जीवधारी प्रवृत्तियाँ उनमें अपेक्षाकृत अविकसित अथवा अपरिमार्जित रह गयी हैं। परिणाम यह है कि उनकी बुद्धि में बहुत दूर तक अमानुषिकता और निर्जीवता के दोष दिखायी देते हैं।

असंतुलित जीवन का एक उदाहरण असभ्य प्राणी है जिसमें जीवधारी प्रवृत्ति बिलकुल अनियंत्रित होती है जैसे वह पशुओं में दिखायी देती है। उसका दूसरा उदाहरण वह सिनिक या विक्षिप्त चिंतक है जिसने आत्मा की उपेक्षा की है तथा जो मनुष्य की जीवधारी प्रवृत्तियों की ओर से भी आँख मूँदे हुए है। और असंतुलित जीवन का तीसरा उदाहरण वह हठयोगी है जो केवल आत्मिक शक्तियों का ही विकास चाहता है तथा जो बौद्धिक एवं जीवधारी , दोनों प्रवृत्तियों का दलन सिखाता है। जो प्रवृत्तियाँ दलित की जाती हैं, वे सुन्दर नहीं, कुरूप हो जाती हैं, वे मरती नहीं, प्रत्युत्, अपरिमार्जित रह जाने के कारण भयानक भ्रम और कुंठाएँ उत्पन्न करती हैं। जो व्यक्ति क्रियाशील चिंतन का प्रेमी है तथा जो जीवन से स्वस्थ प्राकृतिक आनन्द भी चाहता है, वह हठयोग को संतुलित जीवन का आदर्श नहीं मान सकता। केवल योगी, केवल पंडित और केवल भोगी में से प्रत्येक व्यक्ति मनुष्य के एकांगी विकास का उदाहरण होगा। मनुष्य का सर्वांगीन विकास उसकी योग, भोग और पाण्डित्य, तीनों प्रवृत्तियों के अधिक से अधिक संतुलित विकास में है। इसीलिए, जीवन में विज्ञान भी चाहिए तथा साहित्य और धर्म भी।

इन तीनों प्रवृत्तियों में से मनुष्य की जीवधारी-प्रवृत्ति सबसे प्रबल होती है और साहित्य के जो मूल भाव (रति, क्रोध, घृणा, उत्साह आदि) हैं, वे इसी प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं। चूंकि इस धरातल पर मनुष्य पशुओं का साथी होता है, इसलिए, हमारे मनोवेग पाशविक संवेगों के रूप में आते हैं। किन्तु, बुद्धि और आत्मा की प्रवृत्तियाँ उन्हें छील कर कोमल और चिकना कर देती हैं। कला का जन्म जीवधारी-धरातल पर होता है और जन्म ले कर वह आत्मा की ओर बढ़ना चाहती है। इसीलिए, कलाओं में वासना भी होती है, विश्व की सुन्दरता का भी बखान होता है और, अन्त में, उसके भीतर रहस्यात्मक अनुभूतियाँ भी प्रकट होती हैं। रहस्यात्मक अनुभूति का स्तर वह स्तर है जहाँ पहुँच कर वस्तुओं का स्थूल रूप विलीन होने लगता है तथा वे अत्यंत सूक्ष्म आवरण मात्र रह जाती हैं जिनके पीछे विश्व का सार मनुष्य को अर्ध-निरावृत रूप में दिखायी पड़ता है।

और धर्म का जन्म आत्मा के धरातल पर होता है। किन्तु, उसकी सार्थकता इस बात में है कि वह आत्मा के स्तर पर से उतर कर जीवधारी-धरातल की प्रवृत्तियों को प्रभावित करे। जीवधारी-प्रवृत्तियाँ उल्लंग और असंयत होती हैं, किन्तु, धर्म के भाव जब उन्हें प्रभावित करते हैं, तब वे ही प्रवृत्तियाँ सावधान, अतः, सुन्दर हो जाती हैं। धर्म की इसी प्रक्रिया से नीतियों का जन्म होता है। और जीवन, मस्तिष्क एवं आत्मा की इन्हीं तीन प्रवृत्तियों से साहित्य, विज्ञान और धर्म उत्पन्न होते हैं। साहित्य और कलाओं का जन्म जीवधारी-प्रवृत्ति से होता है, विज्ञान का मस्तिष्क से तथा धर्म का आत्मा से। और इन्हीं प्रवृत्तियों से उत्पन्न होनेवाली क्रियाओं को पहले, क्रमशः, काम, अर्थ और धर्म कहते थे।

अपने निम्नतम धरातल पर मनुष्य पशुओं का भाई है, किन्तु, चरम विकास पर पहुँचते-पहुँचते वही देवत्व का स्पर्श करने लगता है। तो पशुत्व से देवत्व तक की जो दूरी है उसे मनुष्य कैसे तय करता है? क्या बुद्धि के बल पर? तब तो सभी पंडित और विद्वान् देवता हो गये होते। किन्तु, वे देवता नहीं हैं। एक मनुष्य वह था जो गुफाओं में रहता था और दाँतों या नखों से अपने बैरी को फाड़ डालता था। दूसरा मनुष्य वह है जो वातानुकूलित भवन में रहता है और एक भी आँसू बहाये बिना हिरोशिमा में एक बम फेंक कर चार लाख मनुष्यों को मार डालता है। और इन दोनों में से देवता कोई भी नहीं है, न तो गुफावासी वह असभ्य मानव, न वातानुकूलित भवन में रहनेवाला यह सुसभ्य मनुष्य। बुद्धि बहुत बड़ी शक्ति है, किन्तु, वह अपने आप में इतनी समर्थ नहीं है कि मनुष्य

को पशुत्व से उठा कर देवत्व तक पहुँचा दे। मनुष्य का यह उत्थान उसके भावों के परिष्कार से होता है और भावों का परिष्कार ही वह कार्य है जिसके लिए साहित्य और कलाओं की आवश्यकता है।

केवल इतना ही कहना यथेष्ट नहीं दीखता कि बुद्धि मनुष्य के भावों का परिष्कार करने में अक्षम और असमर्थ है, प्रत्युत्, कहना यह चाहिए कि भावों के परिष्कार की क्रिया बुद्धि के स्वभाव में ही नहीं है। उलटे, यदि लक्षणों से कोई अनुमान निकाला जा सकता है तो वह बुद्धि के और भी प्रतिकूल पड़ेगा, क्योंकि जब से विज्ञान का उत्थान हुआ, दयालु, श्रद्धालु, परोपकारी और दूसरों के निमित्त कष्ट सहनेवाले व्यक्तियों की संख्या कम होती गयी है। यही नहीं, प्रत्युत्, विज्ञान के युग में जो थोड़े-से ऐसे संत हुए भी उनमें से अधिकांश विज्ञान को शंका से देखते थे। इस वैज्ञानिक युग की विचित्रता यह है कि लंदन के घंटे की आवाज तो हमें रेडियो के द्वारा पटने में भी सुनायी पड़ती है, किन्तु, पास-पड़ोस में कराहने-वाले रोगी की आवाज हमारे कान नहीं सुन सकते।

विज्ञान ने जो भी आविष्कार या अनुसन्धान किये हैं उनसे मनुष्य की सुजनता नहीं,शक्ति की वृद्धि हुई है,क्रूरता नहीं,कठिनाइयों में कमी आयी है। शरीर में जहाँ भी कोई धमनी, नाड़ी, रेशा या तार है, विज्ञान उन सब को जानता है। किन्तु, उसने कभी भी यह जानने की कोशिश नहीं की कि मनुष्य कवि क्यों होता है, वह नाचना और गाना क्यों चाहता है, तथा वह सांसारिक सुखों को लात मार कर रहस्यवादी और सन्त क्यों बन जाता है। और कोशिश नहीं की, इसमें उसका कोई दोष नहीं है, क्योंकि इन रहस्यों को जानने का विज्ञान के पास कोई साधन ही नहीं है, न ये रहस्य उसके क्षेत्र में ही पड़ते हैं। इधर मनोविज्ञान के नाम से जो साहित्य निर्मित हो रहा है, संभव है, उसे आगे करके यह कहा जाय कि अब विज्ञान भावों के क्षेत्र में भी प्रवेश कर रहा है। किन्तु, मनोविज्ञान, शुद्ध विज्ञान नहीं, आधा साहित्य है और उसकी स्थापनाओं को हम बुद्धि के साथ-साथ भावों की भी उपस्थिति में स्वीकार करते हैं। यह साहित्य की एक नयी शाखा है जो मनुष्य की भावनाओं और प्रेरणाओं का विश्लेषण,करीब-करीब,विज्ञान की भाषा में करती है।

और साहित्य, यद्यपि, वही कार्य नहीं करता जो मनोविज्ञान करता है, किन्तु, दोनों के बीच समानता की भी कुछ बातें हैं। उदाहरणार्थ, मनोविज्ञान यह जानना चाहता है कि भावों के पारस्परिक सम्बन्ध क्या हैं और प्रवृत्तियों के बीच घात-प्रतिघात के काम कैसे चलते हैं। किन्तु, मनोविज्ञान जिसे अटकल से जानना

चाहता है, साहित्य उसे आँखों से देख लेता है। यही नहीं, साहित्य स्वयं जो कुछ देखता है, वह साहित्य के पाठकों की भी आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो उठता है। और यह तो है ही कि नाटकों, उपन्यासों और कविताओं के द्वारा मनुष्य के भावों में चढ़ाव-उतार की जो प्रक्रिया चलती है, उससे मनुष्य के भावों का परिष्कार होता है, उसकी मानसिक गुत्थियाँ ढीली होती हैं और उसके अचेतन मन पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ता है। यह कुछ-कुछ वैसी ही प्रक्रिया है जैसे अस्पतालों में पगलों का पागलपन दूर करने के लिए उन्हें इनसुलीन की सूई देकर पहले बेहोश कर देते हैं और फिर ग्लूकोज देकर उन्हें होश में लाते हैं। लगभग दो हजार वर्ष पहले प्लेटो ने कविता पर यह आक्षेप लगाया था कि वह अनैतिक वस्तु है, क्योंकि वह रागों का शमन नहीं करके उन्हें उत्तेजित बनाती है। इस आक्षेप का उत्तर अरस्तू ने यह कह कर दिया था कि नाटक रागों में वृद्धि नहीं करके उनका रेचन करते हैं। दुःखान्त नाटकों को देख कर हममें भय,घृणा या क्रोध के जो भाव जगते हैं उनके परिणामस्वरूप, हम भीरु, मानवद्वेष्टा या क्रूर नहीं बन जाते। उलटे, इन दुर्गुणों के रेचित हो जाने के कारण हमारे भाव पहले की अपेक्षा कुछ अधिक शुद्ध हो जाते हैं। मेरा ख्याल है, अरस्तू ठीक थे। मनुष्यका आन्तरिक परिष्कार साहित्य उसके भावों को ही जगा कर करता है। इसीलिए, भरत ने साहित्य के रस-पक्ष पर इतना जोर दिया। इसीलिए, पश्चिम में विज्ञानेतर साहित्य को ह्यूमेनिटीज़ कहने की प्रथा अब तक प्रचलित है। शक्तियाँ मनुष्य की ज्ञान और विज्ञान से अती हैं, किन्तु, उसके मानवीय गुणों का विकास साहित्य और कला से होता है। बुद्धि पर जमी हुई पपड़ियाँ विज्ञान की नयी शोधों से टूटती हैं, किन्तु, मनुष्य के हृदय पर की पपड़ियों को तोड़ने का काम नाटक, उपन्यास, चित्र, संगीत तथा कविताएँ करती हैं।

इस प्रसंग में, रिचर्ड्स का यह मत उल्लेख के योग्य है कि कविता का श्रेय अब मनोविज्ञान की उस प्रक्रिया को प्रभावित करने में है*जो मनुष्य की चेतना में सतत सुगबुगाहट और तरंग उत्पन्न करती रहती है तथा कविता की जाँच भी अब इसी कसौटी पर की जानी चाहिए कि उसके द्वारा मनुष्य की अधिक से अधिक मानसिक प्रवृत्तियों के बीच संतुलन उत्पन्न होता है या नहीं तथा उसके जरिये मनुष्य की

---

* प्रथम "तार-सप्तक" पर विचार करते हुए मैंने "मिट्टी की ओर" नामक ग्रन्थ में लिखा था, "उसकी (नयी कविता की) चिंताधारा पर चित्रव्यंजना से अधिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-पद्धति का प्रभाव है।"

उदारता या आत्मिक प्रसार की वृद्धि होती है अथवा कुंठा और संकीर्णता की। यदि रिचर्ड्स का यह मत चला तो काव्यालोचन का असली क्षेत्र मनोविज्ञान हो जायगा (जो बहुत दूर तक आज भी है) और कवि की जो शक्ति आज वादों, विचारों और आन्दोलनों के समर्थन या विरोध में नष्ट होती है, उसका उपयोग मनुष्य के मनोवैज्ञानिक स्वरूप के चित्रण में होने लगेगा। सारा क्रोध राजनीति पर उतारना बेकार है। राजनीति के संचालक और जो उनसे पीड़ित हैं, दोनों ही श्रेणियों में ऐसे लोगों की संख्या बेशुमार है जो अपनी मानसिक प्रवृत्तियों के बीच सामंजस्य नहीं ला सकने के कारण लोभी, कायर या क्रूर हो गये हैं, जो मानसिक धरातल पर ठीक से नहीं जी सकने के कारण अर्धमनुष्यता की स्थिति में जी रहे हैं, जो मानसिक कुंठाओं से ग्रस्त होने के कारण हीन भावना अथवा अहंकार से पीड़ित हैं। इन रोगियों की ओर से राजनीति पर हल्ला बोलना आसान है, किन्तु, वह सदैव चिकित्सा का सही ढंग नहीं माना जा सकता। रोगी पर केवल दया दिखाना ही यथेष्ट नहीं है। उसे रोग की निद्रा से जगने के लिए मानसिक झकझोर की भी आवश्यकता हो सकती है और यह झकझोर उसे साहित्य दे सकता है। और यह साहित्य उन आलोचकों का भी उपकार करेगा जो अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने का और कोई उपाय नहीं देख कर जीवित या मृत लेखकों की कृतियों को धुन कर यशस्वी होना चाहते हैं। यह भी एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक रोग है। सार्त्र ने कहा है, "ज्यादा आलोचक ऐसे ही हैं जिन्हें अच्छे दिन देखने का सुयोग नहीं मिला है; जिनकी पत्नियाँ, शायद, उनकी वैसी प्रशंसा नहीं करतीं जैसी उन्हें करनी चाहिए; जिनके बच्चे, कदाचित्, कृतघ्न हैं अथवा जिन्हें पैसों की कमी के कारण कष्ट है।" अपने परिवार और समाज में जो व्यक्ति सम्मान नहीं पाता, वह आलोचना में आने पर कटुता उद्गीर्ण करता है।

इस मत के प्रचलन का दूसरा परिणाम यह होगा कि कविता की भाषा ढीली-ढाली न रह कर कुछ अधिक सुनिश्चित और चुस्त हो जायगी, यद्यपि, वह विज्ञान की भाषा कभी नहीं बनेगी। विज्ञान और कविता में जो भेद है वह दोनों के भाषा-प्रयोगों में स्पष्ट हो जाता है। वैज्ञानिक और कवि शब्द तो, प्रायः, एक ही कोष से लेते हैं, किन्तु, शब्दों को वाक्यों के भीतर बिठाने में दोनों के तरीकों में भेद पड़ जाता है। कवि शब्दों को इस उद्देश्य से बिठाता है कि वे अपनी ध्वनि को झंकृत कर सकें, एक नहीं अनेक अर्थों का संकेत दे सकें, उनसे प्रभावोत्पादकता टपके और वे पाठकों के भीतर किंचित् आवेश भी उत्पन्न कर सकें। किन्तु,

वैज्ञानिक का उद्देश्य इसके सर्वथा विपरीत होता है। किसी भी वैज्ञानिक का विश्वास हम इसलिए नहीं करते कि वह प्रभावोत्पादक ढंग से बोलता है, बल्कि, वह यदि प्रभाव जमाने को बोलने लगे तो हमें उस पर सन्देह होने लगेगा। वैज्ञानिक एक शब्द से एक ही अर्थ लेना चाहता है और न तो वह स्वयं आवेश में आता है, न अपने शब्दों के द्वारा दूसरों को आविष्ट बनाना चाहता है।

प्रकृति अथवा सुन्दरता का वर्णन यदि कविता में किया जाय और फिर वैज्ञानिक ढंग से गद्य में तो, प्रायः, काव्यगत वर्णन अधिक सत्य और सुनिश्चित वर्णन प्रतीत होगा। कारण यह है कि अर्थों के जितने विम्ब (शेड्स या न्वांसेज़) हैं, किसी भी भाषा में उन सबके लिए अलग-अलग शब्द नहीं हैं। किन्तु, इस शब्दाभाव की कठिनाई को कवि अपने शब्दों को कलापूर्ण योजना से दूर कर देता है। कविता का अर्थ समझने के पहले ही हम पर छन्द, वाक्यविन्यास और शब्दों के बैठने की अदा का असर होने लगता है। परिणाम यह होता है कि कविता पढ़ते-पढ़ते हमारे भाव जग पड़ते हैं, हम में एक विशेष प्रकार की भावदशा उत्पन्न हो जाती है और भावों की जागृति की अवस्था में हम शब्दों से वह अर्थ ले लेते हैं जो कवि हमें बतलाना चाहता है। किन्तु, वैज्ञानिक पद्धति से प्रयुक्त शब्द ऐसे अर्थ देने में असमर्थ होते हैं क्योंकि शब्दों के भीतर वे अर्थ होते ही नहीं। यह तो कवि-कौशल का चमत्कार है कि वह कई शब्दों को कलापूर्वक आसपास बिठाकर कोई ऐसा अर्थ उत्पन्न कर दे जो अलग-अलग खोजने पर किसी भी एक शब्द में नहीं मिल सकता।

रिचर्ड्स की परिभाषा साहित्य में स्वीकृत हो या नहीं, किन्तु, मुझे ऐसा लगता है कि कविता में महान् पैरिवर्तन होने जा रहा है, बल्कि, यह कहना चाहिए कि कविता पुनर्जन्म लेने की तैयारी में है और यह तैयारी नयी कविता के जन्म के पूर्व बहुत काल तक चलनेवाली है। और यह बात मैं इसलिए नहीं कहता कि अपने चारों ओर मुझे जो कोलाहल सुनायी देता है, मैं उसके प्रभाव में हूँ। सच तो यह है कि आगामी कविता की दूरागत पदचाप मुझे अपनी ही रचनाओं के भीतर सुनायी पड़ी है।

"नील कुसुम" में परंपरागत शैली की भी कविताएँ हैं और कुछ रोमांटिक गीत भी हैं। किन्तु, मेरे जानते ये कविताएँ नील कुसुम की विशिष्टता का प्रमाण नहीं हैं। इस संग्रह की विशिष्टता उन कविताओं में देखी जा सकती है, जिनका छन्द गद्य की भंगिमा लिये हुए है तथा जिनकी भाषा बिलकुल साधारण बोलचाल की है। और इन्हीं कविताओं में भावुकता भी बौद्धिकता के अनुशासन में चलती

है। "शबनम की जंजीर", "कल कहा एक साथी ने तुम बर्बाद हुए", "तुम क्यों लिखते हो ?","सपनों का धुआँ". "नील कुसुम", "भावी पीढ़ी से","सब से बड़ी आवाज"आदि कविताओं की रचना मैं ने जानबूझकर अपनी तकनीक बदलने के लिए नहीं की थी। जीवन की समस्याओं पर सोचते-सोचते ये कविताएँ आप से आप स्फुरित हो गयीं। हाँ, रचना के बाद मैंने देखा कि इन कविताओं की भंगिमा या वातावरण वही नहीं है जो मेरी पहली कविताओं में था। फिर, मुझे यह भी लगा कि ये कविताएँ अधिक ताजी और मेरी आत्मा के अधिक समीप हैं। अतएव, मुझे अपने ही कृत प्रयोग से यह भासित हो गया कि कविता की प्रचलित शैली अपूर्ण होने लगी है और यहाँ से काव्य का मार्ग वे प्रशस्त करेंगे जिनपर परंपरा का बन्धन उतना कड़ा नहीं है जितना कि वह हमलोगों पर है। विशेषतः, मुझे यह महसूस हो रहा है कि अब हम जिस युग में जी रहे हैं उसका संगीत टूट गया है। इसका कारण यह है कि जैसे छन्दों में काव्य-रचना करने का मैं अभ्यासी रहा था, वे छन्द अब मुझे अधूरे लगने लगे हैं। "नील कुसुम" और "शबनम की जंजीर" वाले छन्द में मुझे जो तृप्ति हुई,वह इधर हाल में और किसी भी छन्द में न हुई थी। यदि मेरा यह आत्मविश्वास गलत या अतिरंजित नहीं है कि मेरे भीतर का चेतना-यंत्र अभी काल के हृदय की धड़कनों को पकड़ सकने में समर्थ है, तो मेरा अनुमान है कि जो छन्द संगीत को अपील करते हैं, उन के द्वारा वर्त्तमान युग का टूटा हुआ संगीत पकड़ा नहीं जा सकता। किन्तु, जिस दिन मैंने ये पंक्तियाँ लिखीं कि

रचना तो पूरी हुई, जान भी है इसमें ?
पूछूँ जो कोई बात, मूर्त्ति बतलायेगी ?
लग जाय आग यदि किसी रोज देवालय में,
चौंकेगी या यह खड़ी-खड़ी जल जायेगी ?

उस दिन मुझे लगा कि काल का भग्न संगीत इन में बहुत दूर तक गिरफ्तार हो गया है। और यह छन्द जिस जोर से चल पड़ा और जिस उत्साह से अगणित नवयुवक उसमें कविताएँ लिखने लगे हैं,उससे मेरा यह विश्वास और भी बढ़ गया है कि अब वे ही छन्द कवियों के भीतर से नवीन अनुभूतियों को बाहर ला सकेंगे जिनमें संगीत कम, सुस्थिरता अधिक होगी, जो उड़ान की अपेक्षा चिंतन के अधिक उपयुक्त होंगे।

लेकिन, मैं यह नहीं मानता कि केवल यह या ऐसे ही छन्द भावी कविता के छन्द होंगे। इन पाँच-सात कविताओं की रचना के बाद जो बात मुझे दिखलायी

पड़ी वह यह थी कि हमारी मनोदशाएँ परिवर्तित हो रही हैं और इन मनोदशाओं की अभिव्यक्ति वे छन्द नहीं कर सकेंगे जो पहले से चले आ रहे हैं। इन कविताओं को लिख कर मैंने सब से बड़ी चेतावनी अपने आपको दी थी कि यदि कविता की भूमि में अभी और रहना है तो अब गर्जमान छन्दों से काम नहीं चलेगा।

बन्धु मेरे सिन्धु, यों क्या चीखते हो?
तुम सुयश के भिक्षु मुझको दीखते हो?
मोह में भूले हुए प्लुत में पुकारो,
या कि उससे भी अधिक निज कंठ फाड़ो।
यह जगत इस छोर से उस छोर तक
क्या कभी गर्जन तुम्हारा सुन सकेगा?
जिस तरह तुम धुन रहे मस्तक यहाँ पर
उस तरह संसार क्या सिर धुन सकेगा?
मूक हो जाओ अगर बल चाहते हो।
रव नहीं, रवहीन की झंकार है वह,
मूकता के साथ एकाकार है वह,
मूक है, प्रच्छन्न है सबसे बड़ी आवाज।

फिर भी, मैं तो युवकों की तुलना में परंपरा का ही प्रतिनिधि हूँ। यदि भविष्य मुझे अपनी लपेट में लेता भी है तो मेरे लिए वैसे छन्द पर्याप्त होंगे जो परंपरागत छन्दों से किंचित् भिन्न हैं तथा जिनमें चिंतन की प्रक्रिया बाधित नहीं होती जैसे वह गेय छन्दों में रुकती है। किन्तु, यह सीमा युवकों के लिए नहीं है। जब मुझे ही यह भासित हो रहा है कि सभी छन्द मेरे अनुकूल नहीं रहे, बल्कि, सब से अनुकूल अब वे छन्द हैं जो गद्य के पास से होकर चलते हैं, तब युवकों की चेतना तो उन्हें खींच कर कहीं भी ले जा सकती है। इसीलिए, मेरी आधी सहानुभूति उन सभी लोगों के साथ है जो छन्दों को अपनी चेतना के प्रतिकूल पाकर उन्हें तोड़ रहे हैं अथवा अर्ध छन्दों या गद्यखंडों में अपनी कविताएँ लिख रहे हैं।

छन्दों की महिमा सर्वविदित है। और अभी तो यह सोचा भी नहीं जा सकता कि छन्द किसी भी समय कविता से बिलकुल बहिष्कृत हो जायँगे। किन्तु, छन्दों के महत्त्व का एक कारण यह भी है कि कविता को अधिकांश जनता अबतक मनोरंजन का साधन मानती रही है। एक तरह की कविता रोमांटिक कहलाती है, वह अलग बात है। परन्तु, सभी कविताओं का अबतक एक रोमांटिक

मूल्य भी रहा है और इस मूल्य के कारण भी छन्द आदरणीय रहे हैं। वर्डस्वर्थ ने कहा था कि छन्द आनन्दवृद्धि का साधन है। छन्दों के कारण काव्य-चेतना दैनिक जीवन के धरातल से जरा ऊपर उठ जाती है। छन्द विश्व से कवि की रागात्मक दूरी की भी वृद्धि करते हैं। गद्य में जो दिवा-जागरूकता है, छन्द उसे कम करके कविता में अर्ध-जागृति का वातावरण उत्पन्न करते हैं। छन्दों का गुण है कि वास्तविकता का वर्णन करनेवाली कविता पर भी वे अवास्तविकता का किंचित् रंग छिड़क देते हैं।

ये सारी अच्छी बातें हैं, किन्तु, ज्यों-ज्यों मनुष्य रोमांटिक चेतना के रंगीन मोह से निकलता जायगा, त्यों-त्यों अच्छी बातें भी अनावश्यक होती जायँगी। राजाओं की जड़ाऊ पोशाकें बहुत अच्छी थीं। किन्तु, अब उन पोशाकों को कोई नहीं पहनता। अब तो राजे भी बुश-शर्ट पहनना ही अधिक पसन्द करते हैं। एक समय पंत जी ने कहा था, "तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनायी पड़ता है।" मेरा अनुमान है, राग जैसे-जैसे विचारों से उलझेगा, वैसे-वैसे ही उसके हृदय में से तुक के पाँव उखड़ते जायँगे। तुकें भावों की अभिव्यक्ति में बाधा डालती हैं, इसके दो-एक अनुभव प्रत्येक कवि को होंगे। फिर भी, दो-एक बातें ऐसी भी हैं जो छन्दों और तुकों के पक्ष में पड़ती हैं। छन्द पाठकों के आकर्षण को शिथिल होने से बचाते हैं, वे पढ़नेवालों के भीतर इस कौतूहल को बनाये रखते हैं कि देखें, अगली पंक्ति कैसे चलती है और कैसे खत्म होती है। उर्दू की गजलों में काफिये का चमत्कार कभी-कभी कविता के सारे चमत्कारों को ढँक लेता है। काफियों से मिलनेवाला आनन्द ही एक ऐसा आनन्द है जिसे हम केवल शैली की देन कह सकते हैं। और, अंत में, जैसा कि कालरिज ने कहा है, छन्द का पूरा प्रभाव कविता के भीतर सुवासित वातावरण का प्रभाव उत्पन्न करता है।

ये दो-एक बातें ऐसी हैं जो छन्दों के पक्ष में पड़ती हैं। परन्तु, यह नहीं भूलना चाहिए कि जब भी साहित्य में, सचमुच, कोई साहित्यिक क्रान्ति आती है तब सब से पहले छन्द परिवर्तित होते हैं। भारतेन्दु के समय नये छन्द प्रकट हुए, द्विवेदी-युग ने भी अपने अनुकूल छन्दों को प्रधानता दी और छायावाद ने तो छन्दों का एक नया संसार ही बसा दिया। केवल प्रगतिवाद ही ऐसा आन्दोलन था जिसने छन्दों पर कोई खास जोर नहीं दिया। यह भी एक प्रमाण है कि वह साहित्यिक आन्दोलन नहीं था, इसलिए, साहित्य के शैली-पक्ष की चिंता उसे हुई ही नहीं।

कविता के नये माध्यम, यानी नये ढाँचे और नये छन्द कविता की नवीनता के प्रमाण होते हैं। उनसे युग-मानस की जड़ता टूटती है; उनसे यह आभास मिलता है कि काव्याकाश में नया क्षितिज उदय ले रहा है। जब कविता पुराने छन्दों की भूमि से निकल कर नये छन्दों के भीतर पाँव धरती है, तभी यह अनुभूति जगने लगती है कि कविता वहीं तक सीमित नहीं है जहाँ तक हम उसे समझते आये हैं; और भी नयी भूमियाँ हैं, जहाँ कविता के चरण पड़ सकते हैं। नये छन्दों से नयी भावदशा पकड़ी जाती है। नये छन्दों से काव्य को नयी आयु प्राप्त होती है।

अतएव, छन्दों के चरमराने या उनके टूटने से साहित्य में जो कर्कशता का नाद छा रहा है, वह अपने में चिंता का कोई बड़ा कारण नहीं हो सकता। न मैं इसी को बुरा समझता हूँ कि कवियों का सारा ध्यान छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ गढ़ने में लगा हुआ है। नयी भाषा, नये छन्द, नयी लय और नव-जीवन से उठ कर आनेवाले नये चित्र, ये अगर कोई बड़ा लक्ष्य सिद्ध न कर सकें, तब भी, इनका साहित्यिक महत्त्व होगा ही, क्योंकि ये साहित्य को, यों भी, समृद्ध बनाते हैं। और तो और, मैं तारों की भाषा (उदाहरणार्थ, एक शब्द का वाक्य) का भी समर्थन करूँगा यदि उसमें चिट्ठियों से ज्यादा संकेत हों अथवा कविता के भीतर उस एमर्जेन्सी या आतुरता का प्रमाण हो जिसके कारण चिट्ठी के बदले तार भेजना आवश्यक हो जाता है। किन्तु, अभी मैं ठीक से नहीं जानता कि कविता की तकनीक में ये परिवर्तन क्यों रहे हैं। इनकी पूरी सार्थकता तभी मानी जायगी जब कि आगे चल कर महान् कृतियों द्वारा यह प्रमाणित हो जायगा कि कविता किसी बड़ी, व्यापक और कठोर मनोदशा की अभिव्यक्ति के लिए उतना हाथ-पाँव पटक रही थी। और यदि आंशिक सार्थकता चाहें, तो वह तो साहित्य के असफल प्रयोगों को भी प्राप्त होती है।

इसी प्रकार, प्रयोगवाद में चित्रों पर जो अधिक से अधिक जोर है, उसे भी मैं साहित्य में साहित्यिकता उत्तेजित करने का ही प्रयास मानता हूँ और इस प्रयास की महत्ता के विषय में भी मेरे जानते दो मत नहीं हो सकते। काव्यगत चित्र उस चित्रकाव्य के उदाहरण नहीं होते जिसकी भारतीय साहित्यशास्त्र में निन्दा की गयी है, प्रत्युत्, यह वह कला है जिसके द्वारा काव्य में शब्दों के संयोग से वस्तुओं और विचारों के मूर्त्तिमान रूप प्रस्तुत किये जाते हैं। चित्र-रचना की सामग्री, अक्सर, अलंकारों की सामग्री होती है, किन्तु, चित्र अलंकार लाये बिना भी रचे जा सकते हैं। यही नहीं, प्रत्युत्, किसी भी विशेष योजना के बिना,

केवल विशेषणों अथवा क्रियापदों के आधार पर भी सजीव चित्रों की रचना हो सकती है। परन्तु, व्यवहारतः, चित्र-रचना में उपमानों से इतना अधिक काम पड़ता है कि अंगरेजी में चित्र और रूपक, प्रायः, पर्याय बन कर चल रहे हैं।

और चित्र तथा मूर्त्ति शब्द से दृश्य वस्तु का जो बोध होता है, उससे भी यह नहीं समझना चाहिए कि काव्यगत चित्र केवल नेत्रेन्द्रिय के लिए होते हैं। प्रसंगानुसार, वे सभी वस्तुएँ और क्रियाएँ काव्य में मूर्त्त रूप ले सकती हैं जिनका संबन्ध नेत्र से न हो कर जिह्वा, नासिका, श्रुति अथवा स्पर्श इन्द्रिय से है। इंन्द्रियों की एक क्रिया तो स्थूल होती है जिसे हम, सचमुच का, देखना, सुनना, सूँघना और स्पर्श करना कह सकते हैं। किन्तु, इन क्रियाओं का एक रूप वह भी है जो हमारी स्मृति में चलता है। ऐंद्रिय क्रियाओं के ये स्मृतिवाले रूप ही चित्रविधान के आधार होते हैं।

लता-भवन ते प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ,
निकसे जनु जुग विमल विधु जलद-पटल बिलगाइ।

इस दोहे में जो चित्र है वह नेत्र का विषय है और उसे हम मन की आँखों से देख सकते हैं।

किन्तु,

शाम का झुटपुटा - सा होता है,
दूर पर छै की गजर डूब रही।

—गिरिजाकुमार

इन पंक्तियों में जो चित्र है उसका अनुभव हम श्रवण-शक्ति से करते हैं।

इसी प्रकार,

कच्ची मिट्टी का ठंडापन

अथवा

अब ब्राह्म घड़ी का ठंडा-सा आलोक जगा।

—गिरिजाकुमार

में जो चित्र हैं उनकी अनुभूति हमें स्पर्शेन्द्रिय से होती है।

और,

आयी खेलि होरी घरै नवल किसोरी कहूँ
बोरी गयी रंगते सुगन्धनि झकोरे है।

पद्माकर की इस पंक्ति में सुगन्ध की लपट का जो चित्र है, उसकी अनुभूति नासिका और स्पर्श, दोनों इन्द्रियाँ करती हैं।

चित्र कविता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण है, प्रत्युत्, कहना चाहिए कि यह कविता का एकमात्र शाश्वत गुण है जो उस से कभी भी नहीं छूटता। कविता और कुछ चाहे करे या न करे, किन्तु, चित्रों की रचना वह अवश्य करती है और जिस कविता के भीतर बननेवाले चित्र जितने ही स्वच्छ यानी विभिन्न इंद्रियों से स्पष्ट अनुभूत होने के योग्य होते हैं, वह कविता उतनी ही सफल और सुन्दर होती है। भामह आदि ने अलंकारों को जो काव्य की आत्मा कहा था, वह उक्ति इसी प्रसंग में सार्थक प्रतीत होती है। कविताओं में क्रान्तियाँ होती हैं,किन्तु, प्रत्येक क्रान्ति अपने को अनुरूप चित्रों में व्यक्त करती है। कविताओं की प्रवृत्तियाँ बराबर बदलती रहती हैं। किन्तु, चित्र प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ रहते हैं। कविताओं की शैली बदलती है, छन्द बदल जाते हैं और कभी-कभी छन्द टूट भी जाते हैं। किन्तु, चित्र कभी भी नहीं रुकते, वे टूटे छन्दों के भीतर भी वाक्यों में मोती के समान जड़े रहते हैं। और तो और, जब कविता के भीतर का सारा द्रव्य बदल जाता है, दर्शन और दृष्टिकोण, सभी कुछ परिवर्तित हो जाते हैं, तब भी चित्र कविता का साथ नहीं छोड़ते। कविता में चित्रों का आना संयोग की बात नहीं है। प्रत्येक सुन्दर कविता चित्रों का अलबम अथवा स्वयं एक पूर्ण चित्र होती है।

चित्र रेगिस्तान से उड़कर नहीं आते। वे उस कवि के मस्तिष्क से निकलते हैं, जो कल्पना और विचार से लबालब भरा हुआ है तथा जो संक्षिप्त होने के लिए अलंकारों में बोलना चाहता है। अलंकार शब्द से, वैसे तो, अनावश्यक बनाव-सिंगार की भी ध्वनि निकलती है, किन्तु, कविता में अलंकारों के प्रयोग का वास्तविक उद्देश्य अतिरंजन नहीं, वस्तुओं का अधिक से अधिक सुनिश्चित वर्णन ही होता है। साहित्य में जब भी हम संक्षिप्त और सुनिश्चित होना चाहते हैं, तभी रूपक की भाषा हमारे लिए स्वाभाविक हो उठती है। रूपकों पर संपूर्ण अधिकार को अरस्तू ने कवि-प्रतिभा का सबसे बड़ा लक्षण कहा है। और येट्स का विचार था कि परिपक्व ज्ञान बराबर रूपकों में व्यक्त होता है। सच्चे अर्थों में मौलिक कवि वह है जिसके उपमान मौलिक होते हैं और श्रेष्ठ कविता की पहचान यह है कि उसमें उगनेवाले चित्र स्वच्छ और सजीव होते हैं।

किन्तु, चित्रों के प्रसंग में भी एक बात है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और वह यह कि चित्र भी कविता के साधन होते हैं, साध्य नहीं। शक्तिशालिनी कविता केवल चित्र दिखलाकर संतुष्ट नहीं हो जाती, वह चित्रों के भीतर से कुछ और दिखलाना चाहती है। केवल चित्र केवल आतिशबाजी के खेल हैं,। जार्ज

रसल (ए० ई०) ने लिखा है कि जब मेरे सामने कोई कविता आती है, मैं अपने आपसे दो प्रश्न करता हूँ। पहला यह कि यह कविता अंधी है या पारदर्शी अर्थात् कविता केवल ऊपर-ऊपर रंगीन है या रंगों के भीतर से कुछ दिखायी भी देता है। और दूसरा यह कि यदि कविता पारदर्शी है तो उसके भीतर कितनी दूर की चीजें दिखायी देती हैं।

चित्र-रचना का एक तरीका सुर्रियलिष्ट लोगों ने भी निकाला है। किन्तु, उनके चित्र साधना से अधिक "डूडलिंग" (अन्यमनस्कता में खींची या लिखी गयी चीजें) के ही परिणाम प्रतीत होते हैं। भीतर से भावों का जो निर्झर चलता है, सभी कलाकार उसमें चुनाव और उसका नियंत्रण करते हैं। किन्तु, जो व्यक्ति इस झरने में न तो चुनाव करता है, न उसका नियंत्रण, वह सुर्रियलिष्ट चित्रकार बन जाता है।

प्रगतिवाद ने अपना सारा जोर साहित्यगत विचारों पर देकर जैसी भूल की थी, कुछ वैसी ही भूल प्रयोगवाद से भी हो सकती है,यदि उसने अपनी सारी शक्ति साहित्य की शैली सँवारने में लगा दी, यद्यपि, यह भूल पहली भूल की अपेक्षा, फिर भी, कम घातक और कम भयानक होगी। शैली साहित्य का सर्वस्व है, किन्तु, यदि उसके भीतर से कुछ कहा ही न जाय तो शैली का क्या महत्त्व रह जाता है? नये चित्र, नये ढाँचे, नये छन्द और नयी विच्छित्ति, ये तभी सार्थक हैं यदि उनके भीतर से ऐसे कवि बोलते हों जिनका हृदय नये काल का हृदय है, जिनका कंठ नयी मानवता का कंठ है और जिनका आवास उस कोलाहल के पास पड़ता है जो नाना कुंठाओं से ग्रसित मनुष्य के मन में मचा हुआ है।

मैं नहीं जानता कि प्रयोगवादी कवि कविता को किस दिशा की ओर ले जाना चाहते हैं, न मैं यही अनुमान लगा सकता हूँ कि भविष्य की कविता की जो कल्पना मुझे दिखायी पड़ती है, वह शीघ्र साकार होगी या उसके रूप धरने में अभी काफी विलंब है। वृक्ष मुझे दिखायी नहीं देते। मैंने अपनी सारी आशा वन के विस्तार से लगा रखी है। किन्तु, एक बात है जिस पर मुझे बार-बार सोचने पर भी कभी संदेह नही होता। और वह यह कि भावी कविता केवल शैली के कारण पूजी नही जायगी। उसकी पूजा का कारण यह होगा कि वह मनुष्य के आत्मनिरीक्षण की कविता होगी, वह अपने अस्तित्व के भीतर आप निमग्न होने की कविता होगी, वह मन के भीतर चलनेवाली मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की कविता होगी। उस कविता में मिठास और रंगीनी कम, बौद्धिक चितन की कठोरता अधिक होगी। मेरा अनुमान है कि कविता का परंपरागत स्वभाव बदलनेवाला

है। भविष्य की कविता पाठकों को विश्व सें बाहर न ले जाकर उन्हें साथ लिये हुए विश्व की आन्तरिकता में प्रवेश करेगी। वह रिझाने, दुलराने और गुदगुदाने की कविता नहीं होगी। वह अपने पाठकों का मनोरंजन कम, उन्हें सोचने को विवश अधिक करेगी। वह मनुष्यों को उस दिशा की ओर प्रेरित करेगी जो आत्म-मंथन और आत्मज्ञान की दिशा है, जहाँ मनुष्य अपने आपको समझने का प्रयास करता है। संभव है, वह हमें किसी गंभीर सत्य की संगति में ले जाकर छोड़ दे; संभव है, वह हमें झकझोर कर अलग हो जाय; अथवा यह भी संभव है कि, कभी-कभी, वह कवि-मानस की अस्पष्ट क्षणिक छाया बन कर ही रह जाय। किन्तु, हर हालत में वह हममें विचारों को उत्तेजना देगी। भविष्य की कविता गाने और सुनाने की चीज न होकर पढ़ने और सोचने-समझने की वस्तु होगी।

अगली कविता का एक लक्षण यह भी होगा कि वह विलावल, केदारा, ग़जल और दादरा से बहुत दूर हो जायगी। काव्य का संगीत से जो संबन्ध अभी चल रहा है, वह गलत संबन्ध है। उन्नत देशों में कविता और संगीत, ये दो कलाएँ अब परस्पर बहुत दूर हो गयी हैं। वही दूरी इन दोनों कलाओं के बीच भारत में भी उत्पन्न होनेवाली है।

भाषा में जो छुई-मुई-सी सुकुमारता और कल्पना में जो रोमांटिक कोमलता और वैचित्र्य अब तक कविता में आदर पा रहे थे, अब उनकी भी विदाई के दिन पास हैं। अगली कविता की भाषा और विचार, दोनों कठोर होंगे। भाषा की कठोरता, यानी वह गुण जो लोहे और इस्पात को भी पचा सके, जो कारखानों से उड़कर साहित्य में पहुँचनेवाले चित्रों को देखकर भागे नही, प्रत्युत्, उन्हें उसी सहजता से अंगीकार कर ले जैसे वह कमलवन से आनेवाले सपनों को अंगीकार करती रही है। और विचारों की कठोरता, यानी वह गुण जो विज्ञान से टक्कर लेगा और जिससे उलझने का आनन्द लेने को बड़े-बड़े चितक कविताओं की ओर उसी उत्साह से मुड़ेंगे जिस उत्साह से वे दर्शन और विज्ञान की ओर जाते हैं। भावुकता, अतिरंजन और अल्पवयस्कता के विचार, ये कविता मे दिनोंदिन कम होते जायँगे और जब यह कविता अपने पूरे विकास पर पहुँचेगी, उसकी कल्पना पुरुष-कल्पना और उसके भाव कठोर चितक के भाव होंगे। अगला युग विचारक-कवियों का युग होगा क्योंकि विचारों के कविता का विषय बनने में कोई दोष नही है और तर्क भी जब उत्तम कोटि का होता है तब उसके भीतर से आग धधक उठती है, जो कविता की आग है; एक प्रकार का प्रकाश बल उठता है, जो कल्पना से

खिलनेवाला प्रकाश है। और इस प्रकाश के भीतर से सत्य बौद्धिक धारणा बनकर नहीं, बल्कि, विज्ञन या अनुभूति के रूप में ही प्रकट होता है। इलियट दार्शनिक मुद्रा में भी कवि रहते है,क्योंकि सत्य की वे शिक्षा नहीं देते, एकबारगी उसके दर्शन ही करा देते है। उनके "फोर क्वार्टेट" में दार्शनिक सूक्तियाँ और काव्यात्मक चित्र इस प्रकार गुम्फित है कि सहसा यह पता नहीं चलता कि कौन दर्शन और कौन काव्य है।

अगले युग की कवि-प्रतिभा सजावट, रंगीनी और रोचकता में कुशल होने के कारण पूजी नहीं जायगी, प्रत्युत्, उसके सम्मान का कारण यह होगा कि वह प्रातिभ विस्फोट अथवा आविष्कारवाली प्रतिभा होगी। और उसमें भी जो सबसे प्रतिभाशाली कवि होंगे उनकी पहचान यह होगी कि लोग उनकी कृतियों को छोटी खुराकों में पढ़ेंगे। कविता की अगली राह जुही और चमेली के कुंज से होकर नहीं, प्रत्युत्, समर्थ बुद्धि की कड़ी चट्टान पर से जानेवाली है।

पटना
विजयादशमी
सन् १९५६ ई०

रामधारी सिंह 'दिनकर'

चक्रवाल

मंगल-आह्वान

भावों के आवेग प्रबल
मचा रहे उर में हलचल।

कहते, उर के बाँध तोड़
स्वर-स्रोतों में बह-बह अनजान,
तृण, तरु, लता, अनिल, जल-थल को
छा लेंगे हम बनकर गान।

पर, हूँ विवश, गान से कैसे
जग को हाय! जगाऊँ मैं,
इस तमिस्र युग-बीच ज्योति की
कौन रागिनी गाऊँ मैं?

बाट जोहता हूँ लाचार,
आओ, स्वरसम्राट्! उदार।

पल भर को मेरे प्राणों में
ओ विराट् गायक! आओ,
इस वंशी पर रसमय स्वर में
युग-युग के गायन गाओ।

वे गायन, जिनको न आज तक
गाकर सिरा सका जल-थल,
जिनकी तान-तान पर आकुल
सिहर-सिहर उठता उडु-दल।

आज सरित का कल - कल, छल - छल,
निर्झर का अविरल झर - झर,
पावस की बूँदों की रिम - झिम,
पीले पत्तों का मर्मर,

जलधि - साँस, पक्षी के कलरव,
अनिल - सनन, अलि का गुन - गुन,
मेरी वंशी के छिद्रों में
भर दो ये मधु स्वर चुन - चुन।

दो आदेश, फूँक दूँ शृंगी,
उठें प्रभाती - राग महान,
तीनों काल ध्वनित हों स्वर में,
जागें सुप्त भुवन के प्राण।

गत विभूति, भावी की आशा
ले युगधर्म पुकार उठे,
सिंहों की घन - अन्ध गुहा में
जागृति की हुंकार उठे।

जिनका लुटा सुहाग, हृदय में
उनके दारुण हूक उठे,
चीखूँ यों कि याद कर ऋतुपति
की कोयल रो कूक उठे।

प्रियदर्शन इतिहास कंठ में
आज ध्वनित हो काव्य बने,
वर्त्तमान की चित्रपटी पर
भूतकाल सम्भाव्य बने।

जहाँ-जहाँ घन-तिमिर हृदय में
भर दो वहाँ विभा प्यारी,
दुर्बल प्राणों की नस-नस में
देव! फूंक दो चिनगारी।

ऐसा दो वरदान, कला को
कुछ भी रहे अजेय नहीं,
रजकण से ले पारिजात तक
कोई रूप अगेय नहीं।

प्रथम खिली जो मधुर ज्योति
कविता बन तमसा-कूलों में,
जो हँसती आ रही युगों से
नभ-दीपों, वनफूलों में;

सूर-सूर, तुलसी-शशि जिसकी
विभा यहाँ फैलाते हैं,
जिसके बुझे कणों को पा कवि
अब खद्योत कहाते हैं;

उसकी विभा प्रदीप्त करे
मेरे उर का कोना-कोना,
छू दे यदि लेखनी, धूल भी
चमक उठे बनकर सोना।

१९३३ ई०]

तांडव

नाचो हे, नाचो, नटवर!
चन्द्रचूड़! त्रिनयन! गंगाधर! आदि-प्रलय! अवढर! शंकर!
नाचो हे, नाचो, नटवर!

आदि लास, अविगत, अनादि स्वन,
अमर नृत्य-गति, ताल चिरन्तन,
अंगभंगि, हुंकृति-झंकृति कर थिरक-थिरक हे विश्वम्भर!
नाचो हे, नाचो, नटवर!

सुन शृंगी-निर्घोष पुरातन,
उठे सृष्टि-हृत् में नव स्पन्दन,
विस्फारित लख काल-नेत्र फिर
काँपे त्रस्त अतनु मन-ही-मन।
स्वर-खरभर संसार, ध्वनित हो नगपति का कैलास-शिखर।
नाचो हे, नाचो, नटवर!

नचे तीव्रगति भूमि कील पर,
अट्टहास कर उठें धराधर,
उपटे अनल, फटे ज्वालामुख,
गरजे उथल-पुथल कर सागर।
गिरे दुर्ग जड़ता का, ऐसा प्रलय बुला दो प्रलयंकर!
नाचो हे, नाचो, नटवर!

घहरें प्रलय-पयोद गगन में,
अन्ध-धूम हो व्याप्त भुवन में,
बरसे आग, बहे झंझानिल,
मचे त्राहि जग के आँगन में,

फटे अतल पाताल, धँसे जग, उछल-उछल कूदें भूधर।
नाचो हे, नाचो, नटवर!

प्रभु! तव पावन नील गगन-तल,
विदलित अमित निरीह-निबल-दल,
मिटे राष्ट्र, उजड़े दरिद्र-जन,
आह! सभ्यता आज कर रही
असहायों का शोणित-शोषण।
पूछो, साक्ष्य भरेंगे निश्चय नभ के ग्रह-नक्षत्र-निकर।
नाचो हे, नाचो, नटवर!

नाचो, अग्निखंड भर स्वर में,
फूँक-फूँक ज्वाला अम्बर में,
अनिल-कोष, द्रुम-दल, जल-थल में,
अभय विश्व के उर-अन्तर में,
गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो,
लगे आग इस आडम्बर में,
वैभव के उच्चाभिमान में,
अहंकार • के उच्च शिखर में,
स्वामिन्, अन्धड़-आग बुला दो,
जले पाप जग का क्षण-भर में।
डिम-डिम डमरु बजा निज कर में
नाचो, नयन तृतीय तरेरे!
ओर-छोर तक सृष्टि भस्म हो,
अर्चिपुंज अम्बर को घेरे।
रच दो फिर से इसे विधाता, तुम शिव, सत्य और सुन्दर!
नाचो हे, नाचो, नटवर!

१९३३ ई०]

हिमालय

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

साकार, दिव्य, गौरव विराट,
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त,
युग-युग शुचि, गर्वोन्नत, महान,
निस्सीम व्योम में तान रहा
युग से किस महिमा का वितान ?

कैसी अखंड यह चिर समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमिट ध्यान ?
तू महाशून्य मे खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान ?
उलझन का कैसा विषम जाल ?
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

ओ, मौन तपस्या-लीन यती !
पल भर को तो कर दृगुन्मेष !
रे ज्वालाओं से दग्ध, विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश।

सुखसिन्धु, पंचनद, ब्रह्मपुत्र,
गंगा, यमुना की अमिय-धार
जिस पुण्यभूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार,

जिसके द्वारों पर खड़ा क्रांत
सीमापति! तू ने की पुकार,
'पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार।'

उस पुण्यभूमि पर आज तपी!
रे, आन पड़ा संकट कराल,
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे,
डँस रहे चतुर्दिक् विविध व्याल।
मेरे नगपति! मेरे विशाल!

कितनी मणियाँ लुट गयीं? मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष!
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश।

किन द्रौपदियों के बाल खुले?
किन-किन कलियों का अन्त हुआ?
कह हृदय खोल चित्तौर! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ?

पूछे सिकता-कण से हिमपति!
तेरा वह राजस्थान कहाँ?
वन-वन स्वतंत्रता-दीप लिये
फिरनेवाला बलवान कहाँ?

तू पूछ अवध से, राम कहाँ ?
वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक ?
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?

पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
तू पूछ कहाँ इसने खोईं
अपनी अनन्त निधियाँ सारी ?

री कपिलवस्तु ! कह, बुद्धदेव
के वे मंगल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए संदेश कहाँ ?

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी - शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता
विद्यापति - कवि के गान कहाँ ?

तू तरुण देश से पूछ अरे,
गूँजा यह कैसा ध्वंस - राग ?
अम्बुधि - अन्तस्तल - बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग ?

प्राची के प्राङ्गण - बीच देख,
जल रहा स्वर्ण - युग - अग्नि - ज्वाल,
तू सिंहनाद कर जाग तपी !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर, फिरा हमें गांडीव-गदा,
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।

कह दे शंकर से, आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे,
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार।

ले अँगड़ाई, उठ, हिले धरा,
कर निज विराट स्वर में निनाद,
तू शैलराट्! हुंकार भरे,
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद।

तू मौन त्याग कर सिंहनाद,
रे तपी! आज तप का न काल।
नव-युग-शंखध्वनि जगा रही,
तू जाग, जाग, मेरे विशाल!

१९३३ ई०]
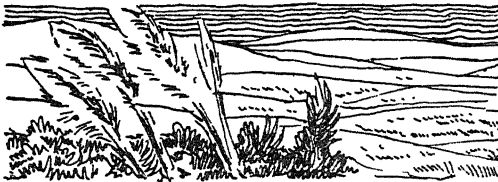
कविता की पुकार

आज न उडु के नील-कुंज में स्वप्न खोजने जाऊँगी,
आज चमेली में न चंद्र-किरणों से चित्र बनाऊँगी।
अधरों में मुसकान, न लाली बन कपोल में छाऊँगी,
कवि ! किस्मत पर भी न तुम्हारी आँसू आज बहाऊँगी।
नालन्दा-वैशाली में तुम रुला चुके सौ बार,
धूसर भुवनस्वर्ग—ग्रामों—में कर पायी न विहार।
आज यह राज-वाटिका छोड़, चलो कवि ! वनफूलों की ओर।

चलो, जहाँ निर्जन कानन में वन्य कुसुम मुसकाते हैं,
मलयानिल भूलता, भूलकर जिधर नहीं अलि जाते हैं।
कितने दीप बुझे झाड़ी-झुरमुट में ज्योति पसार ?
चले शून्य में सुरभि छोड़कर कितने कुसुम-कुमार ?
कब्र पर मैं कवि ! रोऊँगी, अश्रु-आरती सँजोऊँगी।

विद्युत् छोड़ दीप साजूँगी, महल छोड़ तृण-कुटी-प्रवेश,
तुम गाँवों के बनो भिखारी, मैं भिखारिणी का लूँ वेश।

स्वर्णांचला अहा ! खेतों में उतरी संध्या श्याम परी,
रोमन्थन करती गायें आ रहीं रौंदती घास हरी।
घर-घर से उठ रहा धुआँ, जलते चूल्हे बारी-बारी,
चौपालों में कृषक बैठ गाते 'कहँ अटके बनवारी ?'
पनघट से आ रही पीतवसना युवती सुकुमार,
किसी भाँति ढोती गागर-यौवन का दुर्वह भार।
बनूँगी मैं कवि ! इसकी माँग, कलश, काजल, सिन्दूर, सुहाग।

वन-तुलसी की गन्ध लिये हलकी पुरवैया आती है,
मन्दिर की घंटा-ध्वनि युग-युग का संदेश सुनाती है।
टिमटिम दीपक के प्रकाश में पढ़ते निज पोथी शिशुगण,
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह-गीत उन्मन,
"भैया! लिख दे एक कलम खत मों बालम के जोग,
चारो कोने खेम-कुसल माँझे ठाँ मोर बियोग।"
दूतिका मैं बन जाऊँगी, सखी! सुधि उन्हें सुनाऊँगी।

पहन शुक्र का कर्णफूल है दिशा अभी भी मतवाली,
रहते रात रमणियाँ आयीं ले-ले फूलों की डाली।
स्वर्ग-स्रोत, करुणा की धारा, भारत-माँ का पुण्य तरल,
भक्ति-अश्रुधारा-सी निर्मल गंगा बहती है अविरल।
लहर-लहर पर लहरातें हैं मधुर प्रभाती-गान,
भुवन स्वर्ग बन रहा, उड़े जाते ऊपर को प्राण,
पुजारिन की बन कंठ-हिलोर, भिगो दूँगी अग-जग के छोर।

कवि! असाढ़ की इस रिमझिम में धनखेतों में जाने दो,
कृषक-सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो।
दुखियों के केवल उत्सव में इस दम पर्व मनाने दो,
रोऊँगी खलिहानों में, खेतों में तो हर्षाने दो।

मैं बच्चों के संग जरा खेलूंगी दूब-बिछौने पर।
मचलूँगी मैं जरा इन्द्रधनु के रंगीन खिलौने पर।
तितली के पीछे दौड़ूँगी, नाचूंगी दे-दे ताली,
मैं मकई की सुरभि बनूँगी, पके आम-फल की लाली।

वेणु-कुंज में जुगनू बन मैं इधर-उधर मुसकाऊँगी,
हरसिंगार की कलियाँ बनकर वधुओं पर झर जाऊँगी।

सूखी रोटी खायेगा जब कृषक खेत मे धरकर हल,
तब दूँगी मै तृप्ति उसे बनकर लोटे का गगाजल।
उसके तन का दिव्य स्वेदकण बनकर गिरती जाऊँगी,
और खेत मे उन्ही कणो-से मै मोती उपजाऊँगी।

शस्य-श्यामता निरख करेगा कृषक अधिक जब अभिलाषा,
तब मै उसके हृदय-स्रोत मे उमडूँगी बनकर आशा।
अर्द्धनग्न दम्पति के गृह मे मै झोका बन आऊँगी,
लज्जित हो न अतिथि-सम्मुख वे, दीपक तुरत बुझाऊँगी।

ऋण-शोधन के लिए दूध-घी बेच-बेच धन जोडेगे,
बूँद-बूँद बेचेगे, अपने लिए नही कुछ छोड़ेगे।
शिशु मचलेगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी,
मै फाडूँगा हृदय, लाज से आँख नही रो पायेगी।

इतने पर भी धन-पतियो की उनपर होगी मार,
तब मै बरसूँगी बन बेबस के आँसू सुकुमार।
फटेगा भू का हृदय कठोर, चलो कवि! वनफूलो की ओर।

१९३३ ई०]

बुद्धदेव

सिमट विश्व - वेदना निखिल बज उठी करुण अन्तर में,
देव ! हुंकरित हुआ कठिन युगधर्म तुम्हारे स्वर में।
काँटों पर कलियों, गैरिक पर किया मुकुट का त्याग,
किस सुलग्न में जगा प्रभो ! यौवन का तीव्र विराग ?

चले ममता का बंधन तोड़
विश्व की महामुक्ति की ओर।

तप की आग, त्याग की ज्वाला से प्रबोध - संधान किया,
विष पी स्वयं, अमृत जीवन का तृषित विश्व को दान किया।
वैशाली की धूल चरण चूमने ललक ललचाती है,
स्मृति - पूजन में तप - कानन की लता पुष्प बरसाती है।

वट के नीचे खड़ी खोजती लिये सुजाता खीर तुम्हें,
बोधिवृक्ष - तल बुला रहे कलरव में कोकिल - कीर तुम्हें।
शस्त्र - भार से विकल खोजती रह - रह धरा अधीर तुम्हें,
प्रभो ! पुकार रही व्याकुल मानवता की जंजीर तुम्हें।

आह ! सभ्यता के प्राङ्गण में आज गरल - वर्षण कैसा !
घृणा सिखा निर्वाण दिलानेवाला यह दर्शन कैसा !
स्मृतियों का अंधेर ! शास्त्र का दम्भ ! तर्क का छल कैसा !
दीन - दुखी असहाय जनों पर अत्याचार प्रबल कैसा !

आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं,
देव ! बना था क्या दुखियों के लिए निठुर संसार नहीं ?
धन - पिशाच की विजय, धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुई,
दौड़ो बोधिसत्त्व ! भारत में मानवता अस्पृश्य हुई।

धूप-दीप, आरती, कुसुम ले भक्त प्रेम-वश आते हैं,
मन्दिर का पट बन्द देख 'जय' कह निराश फिर जाते हैं।
शबरी के जूठे बेरों से आज राम को प्रेम नहीं,
मेवा छोड़ शाक खाने का याद नाथ को नेम नहीं।

पर, गुलाब-जल में गरीब के अश्रु राम क्या पायेंगे?
बिना नहाये इस जल में क्या नारायण कहलायेंगे?
मनुज-मेध के पोषक दानव आज निपट निर्द्वन्द्व हुए;
कैसे बचें दीन? प्रभु भी धनियों के गृह में बन्द हुए।
अनाचार की तीव्र आँच में अपमानित अकुलाते हैं,
जागो बोधिसत्त्व! भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं।

जागो विप्लव के वाक्! दम्भियों के इन अत्याचारों से,
जागो, हे जागो, तप-निधान! दलितों के हाहाकारों से।
जागो, गाँधी पर किये गये मानव-पशुओं के वारों से,*
जागो, मैत्री-निर्घोष! आज व्यापक युगधर्म-पुकारों से।

जागो, गौतम! जागो, महान!
जागो, अतीत के क्रांति-गान!
जागो, जगती के धर्म-तत्त्व!
जागो हे! जागो बोधिसत्त्व!

१९३३ ई०]

* देवघर (बिहार) में महात्मा गाँधी पर किये गये प्रहार का उल्लेख।

पाटलिपुत्र की गंगा से

संध्या की इस मलिन सेज पर गंगे! किस विषाद के संग,
सिसक-सिसक कर सुला रही तू अपने मन की मृदुल उमंग?
उमड़ रही आकुल अन्तर में कैसी यह वेदना अथाह?
किस पीड़ा के गहन भार से निश्चल-सा पड़ गया प्रवाह?

मन के मौन मुकुल से उड़कर देवि! कौन-सी व्यथा अपार
बनकर गन्ध अनिल में मिल जाने को खोज रही लघु द्वार?
चल अतीत की रंगभूमि में स्मृति-पंखों पर चढ़ अनजान,
विकल-चित्त सुनती तू अपने चन्द्रगुप्त का क्या जय-गान?

घूम रहा पलकों के भीतर स्वप्नों-सा गत विभव विराट?
आता है क्या याद मगध का सुरसरि! वह अशोक सम्राट?
संन्यासिनी-समान विजन में कर-कर गत विभूति का ध्यान,
व्यथित कंठ से गाती है क्या गुप्त-वंश का गरिमा-गान?

गूँज रहे तेरे इस तट पर गंगे! गौतम के उपदेश,
ध्वनित हो रहे इन लहरों में देवि! अहिंसा के संदेश।
उसी सत्य के गीत कुहुक गाती कोयल डाली-डाली,
वही स्वर्ण-संदेश नित्य बन आता ऊषा की लाली।

तुझे याद है चढ़े पदों पर कितने जय-सुमनों के हार?
कितनी बार समुद्रगुप्त ने धोयी है तुझमें तलवार?
तेरे तीरों पर दिग्विजयी नृप के कितने उड़े निशान?
कितने चक्रवर्त्तियों ने हैं किये कूल पर अवभृथ-स्नान?

विजयी चन्द्रगुप्त के पद पर सैल्यूकस की वह मनुहार,
तुझे याद है देवि! मगध का वह विराट उज्ज्वल शृंगार?
जगती पर छाया करती थी कभी हमारी भुजा विशाल,
बार-बार झुकते थे पद पर ग्रीक-यवन के उन्नत भाल।

उस अतीत गौरव की गाथा छिपी इन्हीं उपकूलों में,
कीर्त्ति-सुरभि वह गमक रही अब भी तेरे वन-फूलों में।
नियति-नटी ने खेल-कूद में किया नष्ट सारा शृंगार,
खँडहर की धूलों में सोया अपना स्वर्णोदय साकार।

तू ने सुख-सुहाग देखा है, उदय और फिर अस्त, सखी!
देख, आज निज युवराजों को भिक्षाटन में व्यस्त सखी!
एक-एक कर गिरे मुकुट, विकसित वन भस्मीभूत हुआ,
तेरे सम्मुख महासिन्धु सूखा, सैकत उद्भूत हुआ।

धधक उठा तेरे मरघट में जिस दिन सोने का संसार,
एक-एक कर लगा दहकने मगध-सुन्दरी का शृंगार,
जिस दिन जली चिता गौरव की, जय-भेरी जब मूक हुई,
जमकर पत्थर हुई न क्यों, यदि टूट नहीं दो-टूक हुई?

मंद-मंद बज रही मंद्र ध्वनि मिट्टी में नक्कारों की,
गूँज रही झन-झन धूलों में मौर्यों की तलवारों की।
दायें पार्श्व पड़ा सोता मिट्टी में मगध शक्तिशाली,
वीर लिच्छवी की विधवा बायें रोती है वैशाली।

तू निज मानस-ग्रंथ खोल दोनों की गरिमा गाती है,
वीचि-दृगों से हेर-हेर सिर धुन-धुन कर रह जाती है।

देवि! दुखद है वर्त्तमान की यह असीम पीड़ा सहना।
नहीं सुखद संस्मृति में भी उज्ज्वल अतीत की रत रहना।

अस्तु, आज गोधूलि-लग्न में गंगे! मंद-मंद बहना;
गाँवों, नगरों के समीप चल कलकल स्वर से यह कहना,
"खँडहर में सोयी लक्ष्मी का फिर कब रूप सजाओगे?
भग्न देव-मन्दिर में कब पूजा का शंख बजाओगे?"

१९३१ ई०]
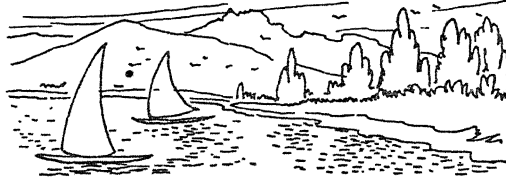
कस्मै देवाय ?

रच फूलों के गीत मनोहर, चित्रित कर लहरों के कम्पन,
कविते ! तेरी विभव-पुरी में स्वर्गिक स्वप्न बना कवि-जीवन।
छाया सत्य चित्र बन उतरी, मिला शून्य को रूप सनातन,
कवि-मानस का स्वप्न भूमि पर बन आया सुरतरु-मधु-कानन।

भावुक मन था, रोक न पाया, सज आये पलकों में सावन,
नालन्दा-वैशाली के ढूहों पर बरसे पुतली के घन।
दिल्ली की गौरव-समाधि पर आँखों ने आँसू बरसाये,
सिकता में सोये अतीत के ज्योति-वीर स्मृति में उग आये।

बार-बार रोती रावी की लहरों से निज कंठ मिलाकर,
देवि ! तुझे, सच, रुला चुका हूँ सूने में आँसू बरसा कर।
मिथिला में पाया न कहीं, तब ढूँढ़ा बोधि-वृक्ष के नीचे,
गौतम का पाया न पता, गंगा की लहरों ने दृग मीचे।

मैं निज प्रियदर्शन अतीत का खोज रहा सब ओर नमूना,
सच है या मेरे दृग का भ्रम ? लगता विश्व मुझे यह सूना।
छीन-छीन जल-थल की थाती संस्कृति ने निज रूप सजाया,
विस्मय है, तो भी न शान्ति का दर्शन एक पलक को पाया।

जीवन का यति-साम्य नहीं क्यों फूट सका अब तक तारों से ?
तृप्ति न क्यों जगती में आयी अब तक भी आविष्कारों से ?
जो मंगल-उपकरण कहाते, वे मनुजों के पाप हुए क्यों ?
विस्मय है, विज्ञान बिचारे के वर ही अभिशाप हुए क्यों ?

धरणी चीख-कराह रही है दुर्वह शस्त्रों के भारों से,
सभ्य जगत् को तृप्ति नहीं अब भी युगव्यापी संहारों से।
गूँज रहीं संस्कृति-मंडप में भीषण फणियों की फुंकारें,
गढ़ते ही भाई जाते हैं भाई के वध-हित तलवारें।

शुभ्र वसन वाणिज्य-न्याय का आज रुधिर से लाल हुआ है,
किरिच-नोंक पर अवलंबित व्यापार, जगत् बेहाल हुआ है।
सिर धुन-धुन सभ्यता-सुन्दरी रोती है बेबस निज रथ में,
"हाय! दनुज किस ओर मुझे ले खींच रहे शोणित के पथ में?"

दिशि-दिशि शस्त्रों की कराल ध्वनि, धन-पिशाच का भैरव-नर्त्तन,
दिशा-दिशा में कलुष-नीति, हत्या, तृष्णा, पातक-आवर्त्तन।
दलित हुए निर्बल सबलों से, मिटे राष्ट्र, उजड़े दरिद्र जन,
आह! सभ्यता आज कर रही असहायों का शोणित-शोषण।

क्रान्ति-धात्रि कविते! जागे, उठ, आडम्बर में आग लगा दे,
पतन, पाप, पाषंड जलें, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।
विद्युत् की इस चकाचौंध में देख, दीप की लौ रोती है।
अरी, हृदय को थाम, महल के लिए झोंपड़ी बलि होती है।

देख, कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय-शोणित की धारें;
बनती ही उनपर जाती हैं वैभव की ऊँची दीवारें।
धन-पिशाच के कृषक-मेध में नाच रही पशुता मतवाली,
अतिथि मग्न पीते जाते हैं दीनों के शोणित की प्याली।

उठ भूषण की भाव-रंगिणी! लेनिन के दिल की चिनगारी!
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला! जाग-जाग, री क्रान्ति-कुमारी!
लाखों क्रौंच कराह रहे हैं, जाग, आदि कवि की कल्याणी?
फूट-फूट तू कवि-कंठों से बन व्यापक निज युग की वाणी।

बरस ज्योति बन गहन तिमिर में, फूट मूक की बनकर भाषा,
चमक अंध की प्रखर दृष्टि बन, उमड़ गरीबी की बन आशा।
गूँज, शान्ति की सुखद साँस-सी कलुष-पूर्ण युग-कोलाहल में,
बरस, सुधामय कनक-वृष्टि-सी ताप-तप्त जग के मरुथल में।

खींच मधुर स्वर्गीय गीत से जगती को जड़ता से ऊपर,
सुख की सरस कल्पना-सी तू छा जाये कण-कण में भू पर।
क्या होगा, अनुचर न वाष्प हो, पड़े न विद्युत्-दीप जलाना;
मैं न अहित मानूँगा, चाहे मुझे न नभ के पन्थ चलाना।

तमसा के अति भव्य पुलिन पर, चित्रकूट के छाया-तरु तर,
कहीं तपोवन के कुंजों में देना पर्णकुटी का ही घर।
जहाँ तृणों में तू हँसती हो, बहती हो सरि में इठलाकर,
पर्व मनाती हो तरु-तरु पर तू विहंग-स्वर में गा-गाकर।

कन्द, मूल, नीवार भोगकर, सुलभ इंगुदी-तैल जलाकर,
जन-समाज सन्तुष्ट रहे हिल-मिल आपस में प्रेम बढ़ाकर।
धर्म-भिन्नता हो न, सभी जन शैल-तटी में हिल-मिल जायें;
ऊषा के स्वर्णिम प्रकाश में भावुक भक्ति-मुग्ध-मन गायें।

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्,
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् कस्मै देवाय हविषा विधेम?"

१९३१ ई०]

जागरण

[वसन्त के प्रति शिशिर की उक्ति]

मैं शिशिर-शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली !

खोल दृग, मधु नींद तज, तंद्रालसे, रूपसि विजन की !
साज नव श्रृंगार, मधु-घट संग ले, कर सुधि भुवन की।
विश्व में तृण-तृण जगी है आज मधु की प्यास आली !
मैं शिशिर-शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली !

वर्ष की कविता सुनाने खोजते पिक मौन भोले,
स्पर्श कर द्रुत बौरने को आम्र आकुल बाँह खोले;
पंथ में कोरकवती जूही खड़ी ले नम्र डाली।
मैं शिशिर-शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली !

लौट जाता गंधवह सौरभ बिना फिर-फिर मलय को,
पुष्पशर चिन्तित खड़ा संसार के उर की विजय को।
मौन खग विस्मित—'कहाँ अटकी मधुर उल्लासवाली?'
मैं शिशिर-शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली !

मुक्त करने को विकल है लाज की मधु-प्रीति कारा;
विश्व-यौवन की शिरा में नाचने को रक्तधारा।
चाहती छाना दृगों में आज तजकर गाल लाली।
मैं शिशिर-शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली !

है विकल उल्लास वसुधा के हृदय से फूटने को,
प्रात-अंचल-ग्रंथि से नव रश्मि चंचल छूटने को।
मद्य पीने को खड़े हैं भृंग ले कर रिक्त प्याली।
मैं शिशिर-शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली!

इन्द्र की धनुषी बनी तितली पवन में डोलती है;
अप्सराएँ भूमि के हित पंख-पट निज खोलती है।
आज बन साकार छाना चाहते कवि-स्वप्न आली!
मैं शिशिर-शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली!

१९३४ ई०]

राजा-रानी

राजा बसन्त, वर्षा ऋतुओं की रानी,
लेकिन, दोनों की कितनी भिन्न कहानी!
राजा के मुख में हँसी, कंठ में माला,
रानी का अन्तर विकल, दृगों में पानी।

डोलती सुरभि राजा-घर कोने-कोने,
परियाँ सेवा में खड़ीं सजाकर दोने।
खोले अलकें रानी व्याकुल-सी आयी,
उमड़ी जानें क्या व्यथा, लगी वह रोने।

रानी रोओ, पोंछो न अश्रु अंचल से,
राजा अबोध खेलें कचनार-कमल से।
राजा के वन में कैसे कुसुम खिलेंगे,
सींचों न धरा यदि तुम आँसू के जल से?

लेखनी लिखे, मन में जो निहित व्यथा है,
रानी की सब दिन गीली रही कथा है।
त्रेता के राजा क्षमा करें यदि बोलूँ,
राजा-रानी की युग से यही प्रथा है।

विधु-संग-संग चाँदनी खिली वन-वन में,
सीते! तुम तो खो रही चरण-पूजन में।
तो भी यह अग्नि-विधान! राम निष्ठुर हैं;
रानी! जनमी थीं तुम किस अशुभ लगन में?

नृप हुए राम, तुमने विपदाएँ झेलीं;
थी कीर्त्ति उन्हें प्रिय, तुम वन गयी अकेली।
वैदेहि! तुम्हें माना कलकिनी प्रिय ने,
रानी! करुणा की तुम भी विषम पहेली।

रो-रो राजा की कीर्त्तिलता पनपाओ,
रानी! आयसु है, लिये गर्भ वन जाओ।
सूखो सरयू! साकेत! भस्म हो; रानी!
माँ के उर में छिप रहो, न मुख दिखलाओ।

औ' यहाँ कौन यह विधु की मलिन कला-सी,
संध्या-सुहाग-सी, तेज-हीन चपला-सी?
अयि मूर्त्तिमती करुणे द्वापर की! बोलो,
तुम कौन मौन क्षीणा अलका-अबला-सी?

अयि शकुन्तले! कैसा विषाद आनन में?
रह-रह किसकी सुधि कसक रही है मन में?
प्याली थी वह विष-भरी, प्रेम में भूली,
पी गयी जिसे भोली तुम लता-भवन में।

माधवी-कुंज की मादक प्रणय-कहानी,
नयनों में है साकार आज बन पानी।
पुतली में रच तसवीर निठुर राजा की
रानी रोती फिरती वन-वन दीवानी।

राजा हँसते हैं, हँसें, तुम्हें रोना है,
मालिन्य मुकुट का भी तुमको धोना है;
रानी! विधि का अभिशाप, यहाँ ऊसर में
आँसू से मोती-बीज तुम्हें बोना है।

किरणों का कर अवरोध उड़ा अंचल है,
छाया में राजा मना रहा मंगल है।
रानी! राजा को ज्ञात न, पर अनजाने,
भ्रू-इंगित पर वह घूम रहा पल-पल है।

वह नव बसन्त का कुसुम, और तुम लाली,
वह पावस-नभ, तुम सजल घटा मतवाली;
रानी! राजा की इस सूनी दुनिया में
बुनती स्वप्नों से तुम सोने की जाली।

सुख की तुम मादक हँसी, आह दुर्दिन की,
सुख-दुख, दोनों में, विभा इन्दु अमलिन की।
प्राणों की तुम गुंजार, प्रेम की पीड़ा,
रानी! निशि का मधु और दीप्ति तुम दिन की।

पग-पग पर झरते कुसुम, सुकोमल पथ है,
रानी! कवरी का बन्ध तुम्हारा श्लथ है,
झिलमिला रही मुसकानों से अँधियाली,
चलता अबाध, निर्भय राजा का रथ है।

छिटकीं तुम विद्युत्-शिखा, हुआ उजियाला,
तम-विकल सैनिकों में संजीवन डाला;
हल्दीघाटी हुंकार उठी जब रानी!
तुम धधक उठीं बनकर जौहर की ज्वाला।

राजा की स्मृति बन ज्योति खिली जौहर में,
असि चढ़ चमकी रानी की विभा समर में;
भू पर रानी जूही, गुलाब राजा है;
राजा-रानी हैं सूर्य-सोम अम्बर में।

१९३५ ई०]

निर्झरिणी

मधु - यामिनी - अंचल - ओट में सोयी थी
बालिका - जूही उमंग - भरी;
विधु - रंजित ओस - कणों से भरी
थी बिछी वन - स्वप्न - सी दूब हरी;
मृदु चाँदनी - बीच थी खेल रही
वन - फूलों से शून्य मे इन्द्र - परी,
कविता बन शैल - महाकवि के
उर से मै तभी अनजान झरी।

हरिणी - शिशु ने निज लास दिया,
मधु राका ने रूप दिया अपना,
कुमुदी ने हँसी, परियों ने उमंग,
चकोरी ने प्रेम में यों तपना।
नभ नील ने जन्म - घड़ी ही में नील
समुद्र का भव्य दिया सपना,
'पी कहाँ' कह प्रेमी पपीहरे ने
सिखलाया मुझे 'पी ' कहाँ' जपना।

गति - रोध किया गिरि ने, पर, मैं
द्रुत भाग चली घहराती हुई,
सरकी उपलों में भुजंगिनी - सी
मै शिला से कहीं टकराती हुई;
जननी - गृह छोड़ चली, मुड़ देखा
कभी न उसे ललचाती हुई,
गिरि - शृंग से कूद पड़ी मैं अभय
'पी कहाँ?' 'पी कहाँ?' धुन गाती हुई।

वनभूमि ने दूब के अंचल में
गिरि से गिरते मुझे छान लिया,
गिरि-मल्लिका कुन्तल-बीच पिरो
मुझको निज बालिका मान लिया;
कलियों ने सुहाग के मोती दिये,
नव ऊषा ने सेंदुर-दान दिया,
जगती को हरी लख मैंने हरी-हरी
दूबों का ही परिधान लिया।

तट की हिमराशि की आरसी में
अपनी छवि देख दीवानी हुई।
प्रिय-दर्शन की मधु लालसा में
पिघली, पल में घुल पानी हुई।
टकराने चली मैं असीम के वक्ष से,
रूप के ज्वार की रानी हुई।
उनमाद की रागिनी, बेकली की
अपनी ही मैं आप कहानी हुई।

जननी-धरणी मुझे गोद लिये
थी सचेत कि मैं भग जाऊँ नहीं,
वन-जन्तुओं के शिशु आन जुटे
कि सखा बिन मैं दुख पाऊँ नहीं।
थी डरी मैं, पड़ी ममता में कहीं
इस देश में ही रह जाऊँ नहीं,
प्रिय देखे बिना झर जाऊँ न व्यर्थ,
कहीं छवि यों ही गँवाऊँ नहीं।

एक रोज उनींदी हुई जो धरा,
द्रुत भागी मैं आँख बचाती हुई,
वन - वल्लरी - अंचल - बीच कहीं
तृण - पुंज में वेश छिपाती हुई।
निकली द्रुम - कुंज की छाँह से तो
मैं चली फिर से घहराती हुई,
सिकता - से पिपासित विश्व के कंठ में
स्वर्ग - सुधा सरसाती हुई।

वनदेवि ! द्रुमांचल श्याम हिला
फिरने का करो न इशारा मुझे,
उपलो ! पद यों न गहो, भुज खोल
न बाँध, तू हाय ! किनारा ! मुझे।
किसकी ध्वनि दूर से आयी ? पुकार
रहा सुन अम्बुधि प्यारा मुझे,
जननी धरणी ! तिरछी हो जरा,
अरी ! वेग से खींच तू धारा मुझे।

अभिसारिका मैं मिलने हूँ चली,
प्रिय - पंथ रे, कोई बताना जरा,
किस शूली पै 'मीरा' - पिया की है सेज ?
इशारों से कोई दिखाना जरा।
पथ - भूली - सी कुंज में राधिका के
हित श्याम ! तू वेणु बजाना जरा,
तुझमें प्रिय ! खोने को तो आ रही,
पर, तू भी गले से लगाना जरा।

१९३३ ई०]

कोयल

कैसा होगा वह नन्दन-वन?
सखि! जिसकी स्वर्ण-तटी से तू स्वर में भर-भर लाती मधुकण।
कैसा होगा वह नन्दन-वन?

कुंकुम-रंजित परिधान किये,
अधरों पर मृदु मुसकान लिये,
गिरिजा निर्झरिणी को रँगने
कंचन-घट में सामान लिये।

नत नयन, लाल कुछ गाल किये,
पूजा-हित कंचन-थाल लिये,
ढोती यौवन का भार, अरुण
कौमार्य-विन्दु निज भाल दिये।

स्वर्णिम दुकूल फहराती-सी,
अलसित, सुरभित, मदमाती-सी,
दूबों से हरी-भरी भू पर
आती षोडशी उषा सुन्दर।

हँसता निर्झर का उपल-कूल
लख तृण-तरु पर नव छवि-दुकूल;
तलहटी चूमती चरण-रेणु,
उगते पद-पद पर अमित फूल।

तब तृण-झुरमुट के बीच कहाँ देते हैं पंख भिगो हिमकन ?
किस शान्त तपोवन में बैठी तू रचती गीत सरस, पावन ?
यौवन का प्यार-भरा मधुवन,
खेलता जहाँ हँसमुख बचपन,
कैसा होगा वह नन्दन-वन ?

गिरि के पदतल पर आस-पास
मखमली दूब करती विलास।
भावुक पर्वत के उर से झर
बह चली काव्यधारा (निर्झर)

हरियाली में उजियाली-सी,
पहने दूर्वा का हरित चीर
नव चन्द्रमुखी मतवाली-सी;

पद-पद पर छितराती दुलार,
बन हरित भूमि का कंठ-हार।

तनता भू पर शोभा-वितान,
गाते खग द्रुम पर मधुर गान
उन्मुख हो उठती चकित दिशा,
चुप हो सुनते गिरि लगा कान।

रोमन्थन करती मृगी कहीं,
कूदते अंग पर मृग-कुमार,
स्वर्णातप में निर्झर-तट पर
लेटे हैं कुछ मृग पद पसार।

टीलों पर चरती गाय सरल,
गो-शिशु पीते माता का थन,
ऋषि-बालाएँ ले-ले लघु घट
हँस-हँस करती द्रुम का सिचन।

तरु-तल सखियों से घिरी हुई, वल्कल से कस कुच का उभार,
बिरहिनि शकुन्तला आँसू से लिखती मन की पीड़ा अपार,
ऊपर पत्तों में छिपी हुई तू उसका मृदु हृदयस्पन्दन,
अपने गीतों की कड़ियों में भर-भर करती कूजित कानन।
वह साम-गान-मुखरित उपवन!
जगती की बालस्मृति पावन!
वह तप-कानन! वह नन्दन-वन!

किन कलियों ने भर दी श्यामा,
तेरे सु-कंठ में यह मिठास?
किस इन्द्र-परी ने सिखा दिया
स्वर का कंपन, लय का विलास?

भावों का यह व्याकुल प्रवाह,
अन्तरतम की यह मधुर तान,
किस विजन बसन्त-भरे वन में
सखि! मिला तुझे स्वर्गीय गान?

थे नहा रहे चाँदनी-बीच जब गिरि, निर्झर, वन विजन, गहन,
तब वनदेवी के साथ बैठ कब किया कहाँ सखि! स्वर-साधन?
परियों का वह श्रृंगार-सदन!
कवितामय है जिसका कन-कन!
कैसा होगा वह नन्दन-वन!

१९३३ ई०]

अमा-संध्या

नीरव, प्रशान्त जग, तिमिर गहन।
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन?
किसकी किंकिणि - ध्वनि? मौन विश्व में झनक उठा किसका कंकण?
झिल्ली - स्वन? संध्या श्याम परी की हृदय - शिराओं का गुंजन?
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन?

अन्तिम किरणें भर गईं ऊर्मि-
अधरों में मोती के चुम्बन,
वन - कुसुम वृन्त पर ऊँघ रहे,
दूर्वा - मुख सींच रहे हिम - कण।
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन?

नीलिमा - सलिल में अमा खोल
कलिका - गुम्फित कबरी - बंधन,
लहरों पर तिरती मग्न विसुध
कर रही व्योम में अवगाहन।
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन?

मुक्ता कुंतल में गूंथ, शुक्र का
पहन कुसुम - कर्णाभूषण
दिग्वधू क्षितिज पर बजा रही
मंजीर, चपल कँप रहे चरण।
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन?

यह भुवन-प्राण-तंत्री का स्वन?
लघु तिमिर-वीचियों का कम्पन?
यह अमा-हृदय का क्या गुनगुन?
किस विरह-गीत का स्वर उन्मन?
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन?

१९३३ ई०]

कला-तीर्थ

(१)

पूर्णचन्द्र - चुम्बित निर्जन वन, विस्तृत शैलप्रान्त अति सुन्दर,
द्रुम - द्रुम सुमन - भरित, मानों, हो खड़ा देह धर कर कुसुमाकर।

पहन शुक्र का कर्ण - विभूषण दिशा - सुन्दरी रूप - लहर से
मुक्त - कुन्तला मिला रही थी अवनी को ऊँचे अम्बर से।

कला - तीर्थ को मै जाता था एकाकी वनफूल - नगर मे,
सहसा दीख पड़ी सोने की हंसग्रीव नौका लघु सर में।

पूर्णयौवना, दिव्य सुन्दरी जिसपर बीन लिये निज कर में
भेद रही थी विपिन - शून्यता भर शत स्वर्गो का मधु स्वर में।

लहरें खेल रही किरणों से, ढुलक रहे जल - कण पुरइन में,
हलके यौवन थिरक रहा था ओस - कणों - सा गान - पवन में।

मैंने कहा, "कौन तुम वन में रूप - कोकिला बन गाती हो,
इस वसन्त - वन के यौवन पर निज यौवन - रस बरसाती हो?"

वह बोली, "क्या नही जानते? मैं सुन्दरता चिर - सुकुमारी,
अविरत निज आभा से करती आलोकित जगती की क्यारी।

मै अस्फुट यौवन का मधु हूँ, मदभोरी, रसमयी, नवेली
प्रेममयी तरुणी का दृग - मद, कवियों की कविता अलबेली।

वृन्त - वृन्त पर मै कलिका हूँ, मैं किसलय - किसलय पर हिमकन।
फूल - फूल पर मैं फिरती हूँ, दीवानी तितली - सी वन - वन।

प्रेम - व्यथा के सिवा न दुख है, यहाँ चिरन्तन सुख की लाली।
सदा यहाँ सर में मराल के संग विचरती सुखी मराली।

लगा लालसा-पंख मनोरम, आओ, इस आनन्द-भवन में,
जी-भर पी लो आज अधर-रस, कल तो आग लगी जीवन में।"

यौवन! तृषा! प्रेम! आकर्षण! हाँ, सचमुच, तरुणी मधुमय है,
इन आँखों में अमर-सुधा है, इन अधरों में रस-संचय है।

मैंने देखा, और दिनों से, आज कहीं मादक था हिमकर,
उडुओं की मुसकान स्पष्ट थी, विमल व्योम, स्वर्णाभ सरोवर।

विम्बित रजत-दीप ऊपर को झाँक रहे थे लहर-लहर से,
कला-तीर्थ को मैं जाता था, एकाकी सौन्दर्य-नगर से।

(२)

बढ़ा और कुछ दूर विपिन में, देखा पथ संकीर्ण, सघन है,
दूब, फूल, रस, गंध न किंचित्, केवल कुलिश और पाहन हैं।

झुरमुट में छिप रहा पंथ, ऊँचे-नीचे प्रस्तर बिखरे हैं।
दुर्गम पथ, मैं पथिक अकेला, इधर-उधर वन-जन्तु भरे हैं।

कोमल-प्रभ चढ़ रहा पूर्ण विधु क्षितिज छोड़कर मध्य गगन में,
पर, देखूँ कैसे उसकी छवि? कहीं, हार हो जाय न रण में!

कुछ आगे चल उस निर्जन में देखा एक युवक अति सुन्दर
पूर्ण स्वस्थ, रक्ताभवदन, विकसित, प्रशस्त-उर, परम मनोहर।

श्रम में रत, फावड़ा चलाता हुआ, पोंछता श्रमकण कर से,
नहर काटता वह आता था किसी दूरवाही निर्झर से।

मैंने कहा, 'कौन तुम?' बोला वह, "कर्त्तव्य, सत्य का प्यारा,
कृषि-सिंचन के लिए लिये जाता हूँ यह निर्झर की धारा।

मैं बलिष्ठ आशा का सुत हूँ, सतत मग्न जीवन के रण में।
तंद्रा, अलस मुझे क्यों घेरें? मैं अविरत तल्लीन लगन में।

बाधाएँ घेरतीं किन्तु, मैं उन्हें देखकर मुसकाता हूँ।
कुचल कुलिश-कंटक-जालों को, लक्ष्य-ओर बढ़ता जाता हूँ।

डरो नहीं पथ के काँटों से, भरा अमित आनन्द अजिर में।
यहाँ दुःख ही ले जाता है हमें अमर सुख के मन्दिर में।

सुन्दरता पर कभी न भूलो, शाप बनेगी वह जीवन में।
लक्ष्य-विमुख कर भटकायेगी, तुम्हें व्यर्थ फूलों के वन में।

बढ़ो लक्ष्य की ओर, न अटको, मुझे याद रख जीवन-रण में।"
उसके इस आतिथ्य-भाव से व्यथा हुई कुछ मेरे मन में।

वह रत हुआ कर्म में अपने, मैं श्रम-शिथिल बढ़ा निज पथ पर।
"सुन्दरता या सत्य श्रेष्ठ है?" उठने लगा द्वन्द्व पग-पग पर।

सुन्दरता आनन्द-मूर्त्ति है, प्रेम-नदी मोहक, मतवाली।
कर्म-कुसुम के बिना किन्तु, क्या भर सकती जीवन की डाली?

सत्य सींचता हमें स्वेद से, सुन्दरता मधु-स्वप्न-लहर से।
कला-तीर्थ को मैं जाता था एकाकी कर्त्तव्य-नगर से।

(३)

कुछ क्षण बाद मिला फिर पथ में गंध-फूल-दूर्वामय प्रान्तर।
हरी-भरी थी शैल-तटी, त्यों, सघन रत्न-भूषित नीलाम्बर।

दूबों की नन्हीं फुनगी पर जगमग ओस बने आभा-कण,
कुसुम आँकते उनमें निज छवि, जुगनू बना रहे निज दर्पण।

राशि-राशि वन-फूल खिले थे, पुलकस्पन्दित वन-हृत्-शतदल;
दूर-दूर तक फहर रहा था श्यामल शैलतटी का अंचल।

एक विन्दु पर मिले मार्ग दो आकर दो प्रतिकूल विजन से;
संगम पर था भवन कला का सुन्दर घनीभूत गायन से।

अमित प्रभा फैला जलता था महाज्ञान-आलोक चिरन्तन,
दीवारों पर स्वर्णांकित था, "सत्य भ्रमर, सुन्दरता गुंजन।

प्रखर, अजस्र कर्मधारा के अन्तराल में छिप कम्पन-सी
सुन्दरता गुंजार कर रही भावों के अंतर्गायन-सी।

प्रेम सत्य की प्रथम प्रभा है, जिधर अमर छवि लहराती है;
उधर सत्य की प्रभा प्रेम बन बेसुध-सी दौड़ी जाती है।

प्रेमाकुल जब हृदय स्वयं मिट हो जाता सुन्दरता में लय,
दर्शन देता उसे स्वयं तब सुन्दर बनकर सत्य निरामय।"

× × × ×

देखा, कवि का स्वप्न मधुर था, उमड़ी अमिय-धार जीवन में;
पूर्ण चन्द्र बन चमक रहे थे 'शिव-सुन्दर' 'आनन्द'-गगन में।

मानवता देवत्व हुई थी, मिले प्राण आनन्द अमर से।
कला-तीर्थ में आज मिला था महा सत्य भावुक सुन्दर से।

१९३३ ई०]

परदेशी

माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी ?
भय है, सुनकर हँस दोगे मेरी नादानी परदेशी !
सृजन-बीच संहार छिपा, कैसे बतलाऊँ परदेशी !
सरल कंठ से विषम राग कैसे मै गाऊँ परदेशी ?

एक बात है सत्य कि झर जाते है खिलकर फूल यहाँ,
जो अनुकूल वही बन जाता दुर्दिन में प्रतिकूल यहाँ।
मैत्री के शीतल कानन में छिपा कपट का शूल यहाँ,
कितने कीटों से सेवित है मानवता का मूल यहाँ।
इस उपवन की पगडंडी पर बच कर जाना परदेशी !
यहाँ मेनका की चितवन पर मत ललचाना परदेशी !

जगती में मादकता देखी, लेकिन, अक्षय तत्त्व नहीं,
आकर्षण में तृप्ति और सुन्दरता में अमरत्व नहीं।
यहाँ प्रेम में मिली विकलता, जीवन में परितोष नहीं,
बाल-युवतियों के आलिगन में पाया संतोष नहीं।
हमें प्रतीक्षा में न तृप्ति की मिली निशानी परदेशी !
माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी ?

महाप्रलय की ओर सभी को इस मरु में चलते देखा,
किससे लिपट जुड़ाता ? सबको ज्वाला में जलते देखा।
अन्तिम बार चिता-दीपक में जीवन को बलते देखा;
चलते समय सिकन्दर-से विजयी को कर मलते देखा।
सब ने देकर प्राण मौत की कीमत जानी परदेशी !
माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी ?

रोते जग की अनित्यता पर सभी विश्व को छोड़ चले,
कुछ तो चढ़े चिता के रथ पर, कुछ कब्रों की ओर चले।
रुके न पल-भर मित्र, पुत्र माता से नाता तोड़ चले,
लैला रोती रही, किन्तु, कितने मजनूँ मुँह मोड़ चले।

जीवन का मधुमय उल्लास,
औ' यौवन का हास-विलास,
रूप-राशि का यह अभिमान,
एक स्वप्न है, स्वप्न अजान।

मिटता लोचन-राग यहाँ पर,
मुरझाती सुन्दरता प्यारी,
एक-एक कर उजड़ रही है
हरी-भरी कुसुमों की क्यारी।

मैं न रुकूँगा इस भूतल पर
जीवन, यौवन, प्रेम गँवाकर;
वायु, उड़ाकर ले चल मुझको
जहाँ-कहीं इस जग से बाहर।

मरते कोमल वत्स यहाँ, बचती न जवानी परदेशी!
माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी?

१९३२ ई०]

विधवा

जीवन के शुचि, शून्य सदन में
जलता है यौवन-प्रदीप; हँसता तारा एकान्त गगन में।
जीवन के शुचि, शून्य सदन में।

पल्लव रहा शुष्क तरु पर हिल,
मरु में फूल चमकता झिलमिल,
ऊषा की मुसकान नहीं, यह संध्या बिहँस रही उपवन में।
जीवन के शुचि, शून्य सदन में।

उजड़े घर, निर्जन खँडहर में
कंचन-थाल लिये निज कर में,
रूप-आरती सजा खड़ी किस सुन्दर के स्वागत-चिन्तन में?
जीवन के शुचि, शून्य सदन में।

सूखी-सी सरिता के तट पर,
देवि! खड़ी सूने पनघट पर,
अपने प्रिय-दर्शन अतीत की कविता बाँच रही हो मन में?
जीवन के शुचि, शून्य सदन में।

नव यौवन की चिता बनाकर,
आशा-कलियों को स्वाहा कर,
भग्न मनोरथ की समाधि पर तपस्विनी बैठी निर्जन में।
जीवन के शुचि, शून्य सदन में।

१९३१ ई०]

याचना

प्रियतम ! कहूँ मैं और क्या ?
शतदल, मृदुल जीवन-कुसुम में प्रिय ! सुरभि बनकर बसो।
घन-तुल्य हृदयाकाश पर मृदु मन्द गति विचरो सदा।
प्रियतम ! कहूँ मैं और क्या ?

दृग बन्द हों तब तुम सुनहले स्वप्न बन आया करो,
अमितांशु ! निद्रित प्राण में प्रसरित करो अपनी प्रभा।
प्रियतम ! कहूँ मैं और क्या ?

उडु-खचित नीलाकाश में ज्यों हँस रहा राकेश है,
दुखपूर्ण जीवन-बीच त्यों जाग्रत करो अव्यय विभा।
प्रियतम ! कहूँ मैं और क्या ?

निर्वाण-निधि दुर्गम बड़ा, नौका लिये रहना खड़ा,
कर पार सीमा विश्व की जिस दिन कहूँ 'वन्दे, विदा।'
प्रियतम ! कहूँ मैं और क्या ?

१९३४ ई०]

वर्त्तमान का निमन्त्रण

समय-ढूह की ओर सिसकते मेरे गीत विकल धाये,
आज खोजते उन्हें बुलाने वर्त्तमान के पल आये!

"शैल-शृङ्ग चढ़ समय-सिन्धु के आर-पार तुम हेर रहे,
किन्तु, ज्ञात क्या तुम्हे भूमि का कौन दनुज पथ घेर रहे?

दो वज्रों का घोष, विकट संघात धरा पर जारी है,
वह्नि-रेणु चुन स्वप्न सजा लो, छिटक रही चिनगारी है।

रण की घड़ी, जलन की वेला, रुधिर-पंक में गान करो,
अपनी आहुति धरो कुण्ड में, कुछ तुम भी बलिदान करो।"

वर्त्तमान के हठी वाल ये रोते है, बिललाते हैं,
रह-रह हृदय चौंक उठता है, स्वप्न टूटते जाते है।

शृङ्ग छोड़ मिट्टी पर आया, किन्तु, कहो क्या गाऊँ मैं?
जहाँ बोलना पाप, वहाँ क्या गीतों से समझाऊँ मै?

विधि का शाप, सुरभि-साँसों पर लिखूँ चरित मैं क्यारी का,
चौराहे पर बँधी जीभ से मोल करूँ चिनगारी का?

यह बेबसी, गगन में भी छूता धरती का दाह मुझे,
ऐसा घमासान! मिट्टी पर मिली न अब तक राह मुझे।

तुम्हें चाह जिसकी वह कलिका इस वन में खिलती न कहीं,
खोज रहा मैं जिसे, जिन्दगी वह मुझको मिलती न कहीं।

किन्तु, न बुझती जलन हृदय की, हाय, कहाँ तक हूक सहूँ?
बुलबुल सीना चाक करे औ' मैं फूलों-सा मूक रहूँ?

रण की घड़ी, जलन की वेला, तो मैं भी कुछ गाऊँगा,
सुलग रही यदि शिखा यज्ञ की अपना हवन चढ़ाऊँगा।

'वर्त्तमान की जय', अभीत हो खुलकर मन की पीर बजे,
एक राग मेरा भी रण में, बन्दी की जंजीर बजे।

नई किरण की सखी, बाँसुरी, के छिद्रों से लूक उठे,
साँस-साँस पर खड्ग-धार पर नाच हृदय की हूक उठे।

नये प्रात के अरुण! तिमिर-उर में मरीचि-सन्धान करो,
युग के मूक शैल! उठ जागो, हुंकारो, कुछ गान करो।

किसकी आहट? कौन पधारा? पहचानो, टुक ध्यान करो,
जगो भूमि! अति निकट अनागत का स्वागत-सम्मान करो।

'जय हो', युग के देव पधारो! विकट, रुद्र, हे अभिमानी!
मुक्त-केशिनी खड़ी द्वार पर कब से भावों की रानी।

अमृत-गीत तुम रचो कलानिधि! बुनो कल्पना की जाली,
तिमिर-ज्योति की समर-भूमि का मैं चारण, मैं वैताली।

होलिकोत्सव, १९९५ वि०]

आलोकधन्वा

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौर-मण्डल का,
मेरा शिखण्ड अरुणाभ, किरीट अनल का।
रथ में प्रकाश के अश्व जुते हैं मेरे,
किरणों में उज्ज्वल गीत गुँथे हैं मेरे।

मै उदय-प्रान्त का सिह प्रदीप्त विभा से,
केसर मेरे बलते हैं कनक-शिखा से।
ज्योतिर्मयि अन्त:शिखा अरुण है मेरी,
हैं भाव अरुण, कल्पना अरुण है मेरी।

पाया निसर्ग ने मुझे पुण्य के फल-सा,
तम के सिर पर निकला मैं कनक-कमल-सा।
हो उठा दीप्त धरती का कोना-कोना,
जिसको मैंने छू दिया हुआ वह सोना।

रँग गयी घास पर की शबनम की प्याली,
हो गयी लाल कुहरे की झीनी जाली।
मेरे दृग का आलोक अरुण जब छलका,
बन गयीं घटाएँ विम्ब उषा-अंचल का।

उदयाचल पर आलोक-शरासन ताने
आया मैं उज्ज्वल गीत विभा के गाने।
ज्योतिर्धनु की शिंजिनी बजा गाता हूँ,
टंकार-लहर अम्बर में फैलाता हूँ।

किरणों के मुख में विभा बोलती मेरी,
लोहिनी कल्पना उषा खोलती मेरी।
मैं विभा-पुत्र, जागरण गान है मेरा,
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।

कोदण्ड-कोटि पर स्वर्ग लिये चलता हूँ,
कर-गत दुर्लभ अपवर्ग किये चलता हूँ।
आलोक-विशिख से बेध जगा जन-जन को,
सजता हूँ नूतन शिखा जला जीवन को।

जड़ को उड़ने की पाँख दिये देता हूँ,
चेतन के मन को आँख दिये देता हूँ।
दौड़ा देता हूँ तरल अग्नि नस-नस में,
रहने देता बल को न बुद्धि के बस में।

स्वर को कराल हुंकार बना देता हूँ,
यौवन को भीषण ज्वार बना देता हूँ।
शूरों के दृग अंगार बना देता हूँ,
हिम्मत को ही तलवार बना देता हूँ।

लोहू में देता हूँ वह तेज रवानी,
जूझती पहाड़ों से हो अभय जवानी।
मस्तक में भर अभिमान दिया करता हूँ,
पतनोन्मुख को उत्थान दिया करता हूँ।

म्रियमाण जाति को प्राण दिया करता हूँ,
पीयूष प्रभा-मय गान दिया करता हूँ,

जो कुछ ज्वलन्त हैं भाव छिपे नर-नर में,
है छिपी विभा उनकी मेरे खर शर में।

किरणें आती हैं समय-वक्ष से कढ़ के,
जाती हैं अपनी राह धनुष पर चढ़ के।
हूँ जगा रहा आलोक अरुण बाणों से,
मरघट में जीवन फूँक रहा गानों से।

मैं विभा-पुत्र, जागरण गान है मेरा,
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।

१९४० ई०]

हाहाकार

दिव की ज्वलित शिखा-सी उड़ तुम जबसे लिपट गयी जीवन में;
तृषावन्त मैं घूम रहा कविते! तब से व्याकुल त्रिभुवन में।

उर में दाह, कण्ठ में ज्वाला, सम्मुख यह प्रभु का मरुथल है;
जहाँ पथिक जल की झाँकी में एक बूँद के लिए विकल है!

घर-घर देखा धुआँ धरा पर, सुना, विश्व में आग लगी है;
'जल ही जल' जन-जन रटता है, कण्ठ-कण्ठ में प्यास जगी है!

सूख गया रस श्याम गगन का एक घूँट विष जग का पीकर;
ऊपर ही ऊपर जल जाते सृष्टि-ताप से पावस-सीकर।

मनुज-वंश के अश्रु-योग से जिस दिन हुआ सिन्धु-जल खारा,
गिरि ने चीर लिया निज उर, मैं ललक पड़ा लख जल की धारा।

पर विस्मित रह गया, लगी पीने जब वही मुझे सुधि खोकर;
कहती—'गिरि को फ़ाड़ चली हूँ मैं भी बड़ी पिपासित होकर!'

यह वैषम्य नियति का मुझपर, किस्मत बड़ी धन्य उन कवि की,
जिनके हित कविते! बनती तुम झाँकी नग्न अनावृत छवि की।

दुखी विश्व से दूर जिन्हें लेकर आकाश-कुसुम के वन में
खेल रही तुम अलस जलद-सी किसी दिव्य नन्दन-कानन में।

भूषण-वसन जहाँ कुसुमों के, कहीं कुलिश का नाम नहीं है।
दिन भर सुमन-हार-गुम्फन को छोड़ दूसरा काम नहीं है।

वही धन्य, जिनको लेकर तुम बसी कल्पना के शतदल पर;
जिनका स्वप्न तोड़ पाती है मिट्टी नहीं चरण-तल बजकर।

मेरी भी यह चाह, विलासिनि! सुन्दरता को शीश झुकाऊँ;
जिधर-जिधर मधुमयी बसी हो, उधर वसन्तानिल बन धाऊँ।

एक चाह कवि की यह देखूँ, छिपकर कभी पहुँच मालिनि-तट,
किस प्रकार चलती मुनि-बाला यौवनवती लिये कटि पर घट।

झाँकूँ उस माधवी-कुंज में, जो बन रहा स्वर्ग कानन में;
प्रथम परस की जहाँ लालिमा सिहर रही तरुणी-आनन में।

जनारण्य से दूर स्वप्न में मैं भी निज संसार बसाऊँ,
जग का आर्त्त नाद सुन अपना हृदय फाड़ने से बच जाऊँ।

मिट जाती ज्यों किरण बिहँस सारा दिन कर लहरों पर झिल-मिल,
खो जाऊँ त्यों हर्ष मनाता, मैं भी निज स्वप्नों से हिलमिल।

पर, नभ में न कुटी बन पाती, मैंने कितनी युक्ति लगायी,
आधी मिटती कभी कल्पना, कभी उजड़ती बनी-बनायी।

रह-रह पंखहीन खग-सा मैं गिर पड़ता भू की हलचल में;
झटिका एक बहा ले जाती स्वप्न-राज्य आँसू के जल में।

कुपित देव की शाप-शिखा जब विद्युत् बन सिर पर छा जाती,
उठता चीख हृदय विद्रोही, अन्ध भावनाएँ जल जातीं।

निरख प्रतीची-रक्त-मेघ में अस्तप्राय रवि का मुख-मंडल,
पिघल-पिघल कर चू पड़ता है दृग से क्षुभित, विवश अंतस्तल।

रणित विषम रागिनी मरण की आज विकट हिंसा-उत्सव में;
दबे हुए अभिशाप मनुज के लगे उदित होने फिर भव में।

शोणित से रँग रही शुभ्र पट संस्कृति निठुर लिये करवालें,
जला रही निज सिंहपौर पर दलित-दीन की अस्थि-मशालें।

घूम रही सभ्यता दानवी, 'शांति! शांति!' करती भूतल में,
पूछे कोई, भिंगो रही वह क्यों अपने विष-दन्त गरल में।

टाँक रही हो सुई चर्म, पर, शान्त रहें हम, तनिक न डोलें;
यही शान्ति, गरदन कटती हो, पर हम अपनी जीभ न खोलें?

बोलें कुछ मत क्षुधित, रोटियाँ श्वान छीन खायें यदि कर से;
यही शान्ति, जब वे आयें, हम निकल जायँ चुपके निज घर से?

हब्शी पढ़ें पाठ संस्कृति के खड़े गोलियों की छाया में;
यही शान्ति, वे मौन रहें जब आग लगे उनकी काया में?

चूस रहे हों दनुज रक्त, पर, हों मत दलित प्रबुद्ध कुमारी!
हो न कहीं प्रतिकार पाप का, शान्ति या कि यह युद्ध कुमारी!

जेठ हो कि हो पूस, हमारे कृषकों को आराम नहीं है,
छूटे कभी संग बैलों का, ऐसा कोई याम नहीं है।

मुख में जीभ, शक्ति भुज में, जीवन में सुख का नाम नहीं है,
वसन कहाँ? सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है।

विभव-स्वप्न से दूर, भूमि पर यह दुखमय संसार कुमारी!
खलिहानों में जहाँ मचा करता है हाहाकार कुमारी!

बैलों के ये बन्धु वर्ष भर, क्या जानें, कैसे जीते हैं?
बँधी जीभ, आँखें विषण्ण, गम खा, शायद, आँसू पीते हैं!

पर, शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आँसू पीना?
चूस-चूस सूखा स्तन माँ का सो जाता रो-विलप नगीना।

विवश देखती माँ, अंचल से नन्हीं जान तड़प उड़ जाती;
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती।

कब्र-कब्र मे अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है;
"दूध, दूध!" की कदम-कदम पर सारी रात सदा होती है।

"दूध, दूध!" ओ वत्स! मन्दिरों में बहरे पाषाण यहाँ है;
"दूध, दूध!" तारे, बोलो, इन बच्चों के भगवान कहाँ है?

"दूध, दूध!" दुनिया सोती है, लाऊँ दूध कहाँ, किस घर से?
"दूध, दूध!" हे देव गगन के! कुछ बूँदें टपका अम्बर से।

"दूध, दूध!" गंगा, तू ही अपने पानी को दूध बना दे।
"दूध, दूध!" उफ! है कोई, भूखे मुर्दो को जरा मना दे?

"दूध, दूध!" फिर "दूध!" अरे, क्या याद दूध की खो न सकोगे?
"दूध, दूध!" मर कर भी क्या तुम बिना दूध के सो न सकोगे?

वे भी यहीं, दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते है!
ये बच्चे भी यही, कब्र में "दूध, दूध!" जो चिल्लाते है!

बेकसूर, नन्हें देवों का शाप विश्व पर पड़ा हिमालय!
हिला चाहता मूल सृष्टि का, देख रहा क्या खड़ा हिमालय?

"दूध, दूध!" फिर सदा कब्र की, आर्ज दूध लाना ही होगा;
जहाँ दूध के घड़े मिलें, उस मंजिल पर जाना ही होगा।

जय मानव की धरा साक्षिणी! जय विशाल अम्बर की जय हो!
जय गिरिराज! विन्ध्य-गिरि, जय-जय! हिन्द-महासागर की जय हो!

हटो व्योम के मेघ! पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं;
"दूध, दूध!..." ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते है।

१९३७ ई०]

दिगम्बरी

उदय-गिरि पर पिनाकी का कहीं टंकार बोला,
दिगम्बरि! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला।

(१)

तिमिर के भाल पर चढ़ कर विभा के बाणवाले,
खड़े हैं मुन्तजिर कब से नये अभियानवाले!
प्रतीक्षा है, सुनें कब व्यालिनी! फुंकार तेरा;
विदारित कब करेगा व्योम को हुंकार तेरा?
दिशा के बन्ध से झंझा विकल है छूटने को;
धरा के वक्ष से आकुल हलाहल फूटने को।
कलेजों से लगी बत्ती कहीं कुछ जल रही है;
हवा की साँस पर बेताव-सी कुछ चल रही है।
धराधर को हिला गूँजा धरणि में राग कोई,
तलातल से उभरती आ रही है आग कोई।
क्षितिज के भाल पर नव सूर्य के सप्ताश्व बोले,
चतुर्दिक् भूमि के उत्ताल पारावार बोला!
नये युग की भवानी, आ गयी वेला प्रलय की,
दिगम्बरि! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला।

(२)

थकी बेड़ी कफस की हाथ में सौ बार बोली,
हृदय पर झनझनाती टूट कर तलवार बोली।
कलेजा मौत ने जब-जब टटोला इम्तिहाँ में,
जमाने को तरुण की टोलियाँ ललकार बोलीं।

पुरातन और नूतन वज्र का संघर्ष बोला;
विभा-सा कौंध कर भू का नया आदर्श बोला;
नवागम-रोर से जागी बुझी-ठण्ढी चिता भी;
नयी शृङ्गी उठा कर वृद्ध भारतवर्ष बोला।
दरारें हो गयीं प्राचीर में बन्दी-भवन के,
हिमालय की दरी का सिंह भीमाकार बोला।
नये युग की भवानी, आ गयी वेला प्रलय की,
दिगम्बरि! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला।

(३)

लगी है धूल को परवाज, उड़ती छा रही है,
कड़कती दामिनी, झंझा कहीं से आ रही है।
घटा-सी दीखती जो, वह उमड़ती आह मेरी,
खड़ी जो विश्व का पथ रोक, है वह चाह मेरी।
सजी चिनगारियाँ, निर्भय प्रभंजन मग्न आया,
कयामत की घड़ी आयी, प्रलय का लग्न आया।
दिशा गूँजी, बिखरता व्योम में उल्लास आया,
नये युगदेव का नूतन कटक लो पास आया।
पहन द्रोही-कवच रण में युगों के मौन बोले,
ध्वजा पर चढ़ अनागत धर्म का हुंकार बोला।
नये युग की भवानी, आ गयी वेला प्रलय की,
दिगम्बरि! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला।

(४)

हृदय का लाल रस हम वेदिका में दे चुके हैं;
बिहँस कर विश्व का अभिशाप सिर पर ले चुके हैं!

परीक्षा में रुचे, वह कौन हम उपहार लायें?
बता, इस बोलने का मोल हम कैसे चुकायें?

युगों से हम अनय का भार ढोते आ रहे हैं;
न बोली तू, मगर, हम रोज मिटते जा रहे हैं।

पिलाने को कहाँ से रक्त लायें दानवों को?
नहीं क्या स्वत्व है प्रतिकार का हम मानवों को?

जरा तू बोल तो, सारी धरा हम फूंक देंगे,
पड़ा जो पन्थ में गिरि, कर उसे दो टूक देंगे।

कहीं कुछ पूछने बूढ़ा विधाता आज आया,
कहेंगे हाँ, तुम्हारी सृष्टि को हमने मिटाया।

जिला फिर पाप को टूटी धरा यदि जोड़ देंगे,
बनेगा जिस तरह उस सृष्टि को हम फोड़ देंगे।

हृदय की वेदना बोली लहू बन लोचनों में,
उठाने मृत्यु का घूँघट हमारा प्यार बोला,

नये युग की भवानी, आ गयी वेला प्रलय की,
दिगम्बरि! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला।

१९३९ ई०]

अनल-किरीट

लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होने वाले!
कालकूट पहले पी लेना, सुधा-बीज बोने वाले!

(१)

धर कर चरण विजित शृङ्गों पर झण्डा वही उड़ाते हैं,
अपनी ही उँगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते हैं।

पड़ी समय से होड़, खींच मत तलवों से काँटे रुक कर,
फूँक-फूँक चलती न जवानी चोटों से बच कर, झुक कर।

नींद कहाँ उनकी आँखों में जो धुन के मतवाले हैं?
गति की तृषा और बढ़ती, पड़ते पद में जब छाले हैं!

जागरूक की जय निश्चित है, हार चुके सोनेवाले;
लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले!

(२)

जिन्हें देख कर डोल गयी हिम्मत दिलेर मरदानों की,
उन मौजों पर चली जा रही किश्ती कुछ दीवानों की।

बेफिक्री का समाँ कि तूफाँ में भी एक तराना है,
दाँतों उँगली धरे खड़ा अचरज से भरा जमाना है।

अभय बैठ ज्वालामुखियों पर अपना मंत्र जगाते हैं,
ये हैं वे, जिनके जादू पानी में आग लगाते हैं।

रूह जरा पहचान रखें इनकी जादू-टोनेवाले,
लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले।

(३)

तीनों लोक चकित सुनते हैं, घर-घर यही कहानी है,
खेल रही नेजों पर चढ़ कर रस से भरी जवानी है।

भू सँभले, हो सजग स्वर्ग, यह दानों की नादानी है।
मिट्टी का नूतन पुतला यह अल्हड़ है, अभिमानी है।

अचरज नहीं, खींच ईंटें यह सुरपुर को बर्बाद करे।
अचरज नहीं, लूट जन्नत वीरानों को आबाद करे।

तेरी आस लगा बैठे हैं पा-पा कर खोनेवाले।
लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले।

(४)

सँभले जग, खिलवाड़ नहीं अच्छा चढ़ते-से पानी से,
याद हिमालय को, भिड़ना कितना है कठिन जवानी से।

ओ मदहोश! बुरा फल है शूरों के शोणित पीने का;
देना होगा तुम्हें एक दिन गिन-गिन मोल पसीने का।

कल होगा इन्साफ, यहाँ किसने क्या किस्मत पायी है;
अभी नींद से जाग रहा युग, यह पहली अँगड़ाई है।

मंजिल दूर नहीं अपनी दुख का बोझा ढोनेवाले!
लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले!

१९३८ ई०]

शब्द-वेध

खेल रहे हिलमिल घाटी में, कौन शिखर का ध्यान करे?
ऐसा वीर कहाँ कि शैलरुह फूलों का मधुपान करे?

लक्ष्यवेध है कठिन, अमा का सूचि - भेद्य तमतोम यहाँ?
ध्वनि पर छोड़े तीर, कौन यह शब्द - वेध संधान करे?

"सूली ऊपर सेज पिया की", दीवानी मीरा! सो ले,
अपना देश वही देखेगा जो अशेष बलिदान करे।

जीवन की जल गयी फसल, तब उगे यहाँ दिल के दाने;
लहरायेगी लता, आग बिजली का तो सामान करे।

सबकी अलग तरी अपनी, दो का चलना मिल साथ मना;
पार जिसे जाना हो वह तैयार स्वयं जलयान करे।

फूल झड़े, अलि उड़े, वाटिका का मंगल - मधु स्वप्न हुआ,
दो दिन का है संग, हृदय क्या हृदयों से पहचान करे?

सिर देकर सौदा लेते हैं, जिन्हें प्रेम का रंग चढ़ा;
फीका रंग रहा तो घर तज क्या गैरिक परिधान करे?

उस पद का मंजीर गूँजता, हो नीरव सुनसान जहाँ;
सुनना हो तो तज वसन्त, निज को पहले वीरान करे।

मणि पर तो आवरण, दीप से तूफाँ में कब काम चला?
दुर्गम पंथ, दूर जाना है, क्या पन्थी अनजान करे?

तरी खेलती रहे लहर पर, यह भी एक समाँ कैसा?
डाँड़ छोड़, पतवार तोड़ कर तू कवि! निर्भय गान करे।

१९३५ ई०]

शहीद-स्तवन

[उनके लिए जो जा चुके हैं]

कलम, आज उनकी जय बोल।

जला अस्थियाँ बारी - बारी,
छिटकायी जिनने चिनगारी,
जो चढ़ गये पुण्य-वेदी पर लिए बिना गरदन का मोल!
कलम, आज उनकी जय बोल।

जो अगणित लघु दीप हमारे
तूफानों में एक किनारे,
जल-जल कर बुझ गये, किसी दिन माँगा नहीं स्नेह मुँह खोल।
कलम, आज उनकी जय बोल।

•

पीकर जिनकी लाल शिखाएँ
उगल रहीं लू-लपट दिशाएँ,
जिनके सिंहनाद से सहमी धरती रही अभी तक डोल।
कलम, आज उनकी जय बोल।

अन्धा चकाचौंध का मारा
क्या जाने इतिहास बिचारा?
साखी हैं उनकी महिमा के सूर्य, चन्द्र, भूगोल, खगोल।
कलम, आज उनकी जय बोल।

[उनके लिए जो जीवित शहीद हैं]

नमन उन्हें मेरा शत बार।

सूख रही है बोटी-बोटी,
मिलती नहीं घास की रोटी,
गढ़ते हैं इतिहास देश का सह कर कठिन क्षुधा की मार।
नमन उन्हें मेरा शत बार।

अर्द्ध-नग्न जिनकी प्रिय माया,
शिशु विषण्ण-मुख, जर्जर काया,
रण की ओर चरण दृढ़ जिनके मन के पीछे करुण पुकार।
नमन उन्हें मेरा शत बार।

जिनकी चढ़ती हुई जवानी
खोज रही अपनी कुरबानी
जलन एक जिनकी अभिलाषा, मरण एक जिनका त्योहार।
नमन उन्हें मेरा शत बार।

दुखी स्वयं जग का दुख लेकर,
स्वयं रिक्त सब को सुख देकर,
जिनका दिया अमृत जग पीता, कालकूट उनका आहार।
नमन उन्हें मेरा शत बार।

वीर, तुम्हारा लिये सहारा
टिका हुआ है भूतल सारा,
होते तुम न कहीं तो कब को उलट गया होता संसार।
नमन तुम्हें मेरा शत बार।

चरण-धूलि दो, शीश लगा लूँ,
जीवन का बल-तेज जगा लूँ,
मैं निवास जिस मूक-स्वप्न का तुम उसके सक्रिय अवतार।
नमन तुम्हें मेरा शत बार।

[उनके लिए जो भविष्य के गर्भ में हैं]

आनेवालो, तुम्हें प्रणाम।

'जय हो', नव होतागण! आओ,
संग नई आहुतियाँ लाओ,
जो कुछ बने फेंकते जाओ, यज्ञ जानता नहीं विराम।
आनेवालो, तुम्हें प्रणाम।

टूटी नहीं शिला की कारा,
लौट गयी टकरा कर धारा,
सौ धिक्कार तुम्हें यौवन के वेगवन्त निर्झर उद्दाम!
आनेवालो, तुम्हें प्रणाम।

फिर डंके पर चोट पड़ी है,
मौत चुनौती लिये खड़ी है,
लिखने चली आग, अम्बर पर कौन लिखायेगा निज नाम?
आनेवालो, तुम्हें प्रणाम।

१६३८ ई०]

मेघ-रन्ध्र में बजी रागिनी

सावधान हों निखिल दिशाएँ, सजग व्योमवासी सुरगन!
बहने चले आज खुल-खुल कर लंका के उनचास पवन।

हे अशेषफण शेष! सजग हो, थामो धरा, धरो भूधर,
मेघ-रन्ध्र में बजी रागिनी, टूट न पड़े कहीं अम्बर।

गूँजे तुमुल विषाण गगन में गाओ, हे गाओ किन्नर!
उतरो भावुक प्रलय! भूमि पर आओ शिव! आओ सुन्दर।

बजे दीप्ति का राग गगन में, बजे किरण का तार बजे;
अघ पीनेवाली भीषण ज्वालाओं का त्योहार सजे।

हिले 'आल्प्स' का मूल, हिले 'राकी', छोटा जापान हिले,
मेघ-रन्ध्र में बजी रागिनी, अब तो हिन्दुस्तान हिले!

चोट पड़ी भूमध्य-सिन्धु में, नील-तटी में शोर हुआ;
मर्कट चढ़े कोट पर देखो, उठो, 'सिलासी'! भोर हुआ।

हुआ विधाता वाम, 'जिनेवा'-बीच सुधी चकराते हैं;
बुझा रहे ज्वाला साँसों से, कर से आँच लगाते हैं!

'राइन'-तट पर खिली सभ्यता, 'हिटलर' खड़ा कौन बोले?
सस्ता खून यहूदी का है, 'नाजी'! निज 'स्वस्तिक' धो ले।

ले हिलोर 'अतलांत'! भयंकर, जाग, प्रलय का बाण चला;
जाग प्रशान्त, कौन जाने, किस ओर आज तूफान चला?

'दजला'! चेत, 'फुरात'! सजग हो, जाग-जाग ओ शंघाई!
लाल सिन्धु! बोले किस पर यह घटा घुमड़ छाने आयी।

बर्फों की दीवार खड़ी, ऊँचे-नीचे पर्वत ढालू,
तो भी पंजा बजा रहा है साइबेरिया का भालू।

काबुल मूक, दूर 'यूरल' है, क्या भोली 'आमू' बोले?
उद्वेलित 'भूमध्य', स्वेज का मुख इटली कैसे खोले?

श्वेतानन स्वर्गीय देव हम! ये हब्शी रेगिस्तानी!
ईसा साखी रहें, इसाई दुनिया ने बर्छी तानी।*

---

*सन् १९३५ ई० में रक्तपिपासु इटैलियन फैसिस्टों द्वारा अबीसीनिया पर आक्रमण के अवसर पर लिखित।

दिल्ली

यह कैसी चाँदनी अमा के मलिन तमिस्र गगन में!
कूक रही क्यों नियति व्यंग्य से इस गोधूलि-लगन में?
मरघट में तू साज रही दिल्ली! कैसे शृङ्गार?
यह बहार का स्वांग अरी, इस उजड़े हुए चमन में!

इस उजाड़, निर्जन खँडहर में,
छिन्न-भिन्न उजड़े इस घर में,
तुझे रूप सजने की सूझी
मेरे सत्यानाश-प्रहर में!

डाल-डाल पर छेड़ रही कोयल मर्सिया तराना,
और तुझे सूझा इस दम ही उत्सव हाय, मनाना;
हम धोते हैं घाव इधर सतलज के शीतल जल से;
उधर तुझे भाता है इन पर नमक हाय, छिड़काना!

महल कहाँ? बस, हमें सहारा
केवल फूस-फाँस, तृणदल का;
अन्न नहीं, अवलम्ब प्राण को
गम, आँसू या गङ्गाजल का;

यह विहगों का झुण्ड लक्ष्य है
आजीवन वधिकों के फल का,
मरने पर भी हमें कफन है
माता शैव्या के अंचल का!

गुलचीं निष्ठुर फेंक रहा कलियों को तोड़ अनल में,
कुछ सागर के पार और कुछ रावी-सतलज-जल में;

हम मिटते जा रहे, न ज्यों, अपना कोई भगवान!
यह अलका-छवि कौन भला देखेगा इस हलचल में?

बिखरी लट, आँसू छलके हैं.
देख, वन्दिनी है बिलखाती,
अश्रु पोंछने हम जाते हैं,
दिल्ली! आह! कलम रुक जाती।

अरी, विवश हैं, कहो, करें क्या?
पैरों में जंजीर हाय, हाथों-
में हैं कड़ियाँ कस जातीं।

और कहें क्या? धरा न धँसती,
हुंकरता न गगन संघाती।
हाय! वन्दिनी माँ के सम्मुख
सुत की निष्ठुर बलि चढ़ जाती।

तड़प-तड़प हम कहो करें क्या?
'बहै न हाथ, दहै रिसि छाती',
अन्तर ही अन्तर घुलते हैं,
'भा कुठार कुण्ठित रिपु-घाती।'

अपनी गर्दन रेत-रेत असि की तीखी धारों पर
राजहंस बलिदान चढ़ाते माँ के हुंकारों पर।
पगली! देख, जरा कैसी मर-मिटने की तैयारी?
जादू चलेगा न धुन के पक्के इन बनजारों पर।

तू वैभव-मद में इठलाती,
परकीया-सी सैन चलाती,
री ब्रिटेन की दासी! किसको
इन आँखों पर है ललचाती?

हमने देखा यहीं पाण्डु-वीरों का कीर्त्ति-प्रसार,
वैभव का सुख-स्वप्न, कला का महा-स्वप्न-अभिसार,
यहीं कभी अपनी रानी थी, तू ऐसे मत भूल,
अकबर, शाहजहाँ ने जिसका किया स्वयं शृङ्गार।

तू न ऐंठ मदमाती दिल्ली!
मत फिर यों इतराती दिल्ली!
अविदित नहीं हमें तेरी
कितनी कठोर है छाती दिल्ली!

हाय! छिनी भूखों की रोटी
छिना नग्न का अर्द्ध वसन है,
मजदूरों के कौर छिने हैं
जिन पर उनका लगा दसन है।

छिनी सजी-साजी वह दिल्ली
अरी! बहादुरशाह 'जफर' की;
और छिनी गद्दी लखनउ की
वाजिद अली शाह 'अख्तर' की।

छिना मुकुट प्यारे 'सिराज' का,
छिना अरी, आलोक नयन का,
नीड़ छिना, बुलबुल फिरती है
वन-वन लिये चंचु में तिनका।

आहें उठीं दीन कृषकों की,
मजदूरों की तड़प, पुकारें,
अरी! गरीबों के लोहू पर
खड़ी हुई तेरी दीवारें।

अंकित है कृषकों के दृग में तेरी निठुर निशानी,
दुखियों की कुटिया रो-रो कहती तेरी मनमानी।
औ' तेरा दृग-मद यह क्या है? क्या न खून बेकस का?
बोल, बोल क्यों लजा रही ओ कृषक-मेघ की रानी?

वैभव की दीवानी दिल्ली!
कृषक-मेघ की रानी दिल्ली!
अनाचार, अपमान, व्यंग्य की
चुभती हुई कहानी दिल्ली!

अपने ही पति की समाधि पर
कुलटे! तू छवि में इतराती!
परदेसी-सँग गलबाँही दे
मन में है फूली न समाती!

दो दिन ही के 'बाल-डांस' में
नाच हुई बेपानी दिल्ली!
कैसी यह निर्लज्ज नग्नता,
यह कैसी नादानी दिल्ली!

अरी हया कर, है जईफ यह खड़ा कुतुब मीनार,
इबरत की माँ जामा भी है यहीं अरी! हुशियार!
इन्हें देखकर भी तो दिल्ली! आँखें, हाय, फिरा ले,
गौरव के गुरु रो न पड़ें, हा, घूँघट जरा गिरा ले!

अरी हया कर, हया अभागी!
मत फिर लज्जा को ठुकराती;
चीख न पड़ें कब्र में अपनी,
फट न जाय अकबर की छाती।

हूक न उठे कहीं 'दारा' को
कूक न उठे कब्र मदमाती!
गौरव के गुरु रो न पड़ें, हा,
दिल्ली घूँघट क्यों न गिराती?
बाबर है, औरंग यहीं है
मदिरा औ' कुलटा का द्रोही,
बक्सर* पर मत भूल, यहीं है
विजयी शेरशाह निर्मोही।

अरी! सँभल, यह कब्र न फट कर कहीं बना दे द्वार!
निकल न पड़े क्रोध में ले कर शेरशाह तलवार!
समझायेगा कौन उसे फिर? अरी, सँभल नादान!
इस घूँघट पर आज कहीं मच जाय न फिर संहार!

जरा गिरा ले घूँघट अपना,
और याद कर वह सुख सपना,
नूरजहाँ की प्रेम-व्यथा में
दीवाने सलीम का तपना;
गुम्बद पर प्रेमिका कपोती
के पीछे कपोत का उड़ना,
जीवन की आनन्द-घड़ी में
जन्नत की परियों का जुड़ना।

जरा याद कर, यहीं नहाती—
थी रानी मुमताज अतर में,
तुझ-सी तो सुन्दरी खड़ी—
रहती थी पैमाना ले कर में।

---

* अंगरेजों की अन्तिम जीत बक्सर में हुई थी।

सुख, सौरभ, आनन्द बिछे थे
गली, कूच, वन, वीथि, नगर में,
कहती जिसे इन्द्रपुर तू वह—
तो था प्राप्य यहाँ घर-घर में।

आज आँख तेरी बिजली से कौंध-कौंध जाती है!
हमें याद उस स्नेह-दीप की बार-बार आती है!

खिलें फूल, पर, मोह न सकती
हमें अपरिचित छटा निराली,
इन आँखों में घूम रही
अब भी मुरझे गुलाब की लाली।

उठा कसक दिल में लहराता है यमुना का पानी,
पलकें जोग रहीं बीते वैभव की एक निशानी,
दिल्ली! तेरे रूप-रंग पर कैसे हृदय फँसेगा?
बाट जोहती खँडहर में हम कंगालों की रानी।

१९३३ ई०]

तकदीर का बँटवारा

है बँधी तकदीर जलती डार से,
आशियाँ को छोड़ उड़ जाऊँ कहाँ?
वेदना मन की सही जाती नहीं,
यह जहर लेकिन उगल आऊँ कहाँ?

पापिनी कह जीभ काटी जायगी
आँख देखी बात जो मुँह से कहूँ,
हड्डियाँ जल जायँगी, मन मार कर
जीभ थामे मौन भी कैसे रहूँ?

तान कर भौंहें, कड़कना छोड़ कर
मेघ बर्फों-सा पिघल सकता नहीं,
शौक हो जिनको, जलें वे प्रेम से,
मैं कभी चुपचाप जल सकता नहीं।

बाँसुरी जनमी तुम्हारी गोद में
देश-माँ, रोने-रुलाने के लिए,
दौड़ कर आगे समय की माँग पर
जीभ क्या, गरदन कटाने के लिए।

जिन्दगी दौड़ी नयी संसार में
खून में सब के रवानी और है;
और हैं लेकिन हमारी किस्मतें,
आज भी अपनी कहानी और है।

हाथ की जिसकी कड़ी टूटी नहीं
पाँव में जिसके अभी जंजीर है;
बाँटने को हाय! तौली जा रही,
बेहया उस कौम की तकदीर है!

बेबसी में काँप कर रोया हृदय,
शाप-सी आहें गरम आयीं मुझे;
माफ करना, जन्म ले कर गोद में
हिन्द की मिट्टी! शरम आयी मुझे!

गुदड़ियों में एक मुट्ठी हड्डियाँ,
मौत-सी, गम की मलीन लकीर-सी,
कौम की तकदीर हैरत से भरी
देखती टुक-टुक खड़ी तस्वीर-सी।

चीथड़ों पर एक की आँखें लगीं,
एक कहता है कि मैं लूँगा जबाँ;
एक की ज़िद है कि पीने दो मुझे
खून जो इसकी रगों में है रवाँ!

खून! खूँ की प्यास, तो जाकर पियो
जालिमो! अपने हृदय का खून ही;
मर चुकी तकदीर हिन्दुस्तान की,
शेष इसमें एक बूँद लहू नहीं।

मुस्लिमो! तुम चाहते जिसकी जबाँ,
उस गरीबिन ने जबाँ खोली कभी?
हिन्दुओ! बोलो तुम्हारी याद में
कौम की तकदीर क्या बोली कभी?

छेड़ता आया जमाना, पर कभी
कौम ने मुँह खोलना सीखा नहीं।
जल गयी दुनिया हमारे सामने,
किन्तु, हमने बोलना सीखा नहीं।

ताव थी किसकी कि बाँधे कौम को
एक होकर हम कहीं मुँह खोलते?
बोलना आता कहीं तकदीर को,
हिन्दवाले आसमाँ पर बोलते।

खूँ बहाया जा रहा इन्सान का
सींगवाले जानवर के प्यार में!
कौम की तकदीर फोड़ी जा रही
मस्जिदों की ईंट की दीवार में।

सूझता आगे न कोई पन्थ है,
है घनी गफलत-घटा छायी हुई,
नौजवानो कौम के! तुम हो कहाँ?
नाश की देखो घड़ी आयी हुई।*

१९३८ ई०]

* कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समझौता-वार्ता के असफल होने पर रचित।

विपथगा

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन,
झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन ।

मेरी पायल झनकार रही तलवारों की झनकारों में,
अपनी आगमनी बजा रही मैं आप क्रुद्ध हुंकारों में,
मैं अहंकार-सी कड़क ठठा हँसती विद्युत् की धारों में,
बन काल-हुताशन खेल रही पगली मैं फूट पहाड़ों में,
अँगड़ाई में भूचाल, साँस में लंका के उनचास पवन।

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन ।

मेरे मस्तक के आतपत्र खर काल-सर्पिणी के शत फन,
मुझ चिर-कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर-चंदन,
आँजा करती हूँ चिता-धूम का दृग में अन्ध तिमिर-अंजन,
संहार-लपट का चीर पहन नाचा करती मैं छूम-छनन ।

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन ।

पायल की पहली झमक, सृष्टि में कोलाहल छा जाता है,
पड़ते जिस ओर चरण मेरे, भूगोल उधर दब जाता है,
लहराती लपट दिशाओं में, खलभल खगोल अकुलाता है,
परकटे विहग-सा निरवलम्ब गिर स्वर्ग-नरक जल जाता है,
गिरते दहाड़ कर शैल-शृङ्ग मैं जिधर फेरती हूँ चितवन ।

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन ।

रस्सों से कसे जवान पाप-प्रतिकार न जब कर पाते हैं,
बहनों की लुटती लाज देखकर काँप-काँप रह जाते हैं,

शस्त्रों के भय से जब निरस्त्र आँसू भी नहीं बहाते हैं,
पी अपमानों के गरल - घूँट शासित जब ओठ चबाते हैं,
जिस दिन रह जाता क्रोध मौन, मेरा वह भीषण जन्म-लगन।

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

पौरुष को बेड़ी डाल पाप का अभय रास जब होता है,
ले जगदीश्वर का नाम खड्ग कोई दिल्लीश्वर धोता है,
धन के विलास का बोझ दुखी - दुर्बल दरिद्र जब ढोता है,
दुनिया को भूखों मार भूप जब सुखी महल में सोता है,
सहती सब कुछ मन मार प्रजा, कसमस करता मेरा यौवन।

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

श्वानों को मिलते दूध - वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा - वसन बेच जब व्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल - फुलेलों पर पानी - सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमंत्रण।

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

डरपोक हुकूमत जुल्मों से लोहा जब नहीं बजाती है,
हिम्मतवाले कुछ कहते हैं, तब जीभ तराशी जाती है,
उलटी चालें ये देख देश में हैरत - सी छा जाती है,
भट्ठी की ओदी आँच छिपी तब और अधिक धुँधुँआती है;
सहसा चिग्घार खड़ी होती दुर्गा मैं करने दस्यु - दलन।

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

चढ़कर जुनून - सी चलती हूँ मृत्युंजय वीर कुमारों पर,
आतंक फैल जाता कानूनी पार्लमेंट, सरकारों पर,

'नीरो' के जाते प्राण सूख मेरे कठोर हुकारों पर,
कर अट्टहास इठलाती हूँ जारों के हाहाकारों पर,
झंझा-सी पकड़ झकोर हिला देती दम्भी के सिंहासन।

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

मैं निस्तेजों का तेज, युगों के मूक मौन की बानी हूँ,
दिल-जले शासितों के दिल की मैं जलती हुई कहानी हूँ,
सदियों की जब्ती तोड़ जगी, मैं उस ज्वाला की रानी हूँ,
मैं जहर उगलती फिरती हूँ, मैं विष से भरी जवानी हूँ,
भूखी बाघिन की घात क्रूर, आहत भुजंगिनी का दंसन।

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

जब हुई हुकूमत आँखों पर, जनमी चुपके मैं आहों में,
कोड़ों की खाकर मार पली पीड़ित की दबी कराहों में,
सोने-सी निखर जवान हुई तप कड़े दमन के दाहों में,
ले जान हथेली पर निकली मैं मर-मिटने की चाहों में,
मेरे चरणों में खोज रहे भय-कम्पित तीनों लोक शरण।

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

असि की नोकों से मुकुट जीत अपने सिर उसे सजाती हूँ,
ईश्वर का आसन छीन कूद मैं आप खड़ी हो जाती हूँ,
थर-थर करते कानून-न्याय इङ्गित पर जिन्हें नचाती हूँ,
भयभीत पातकी धर्मों से अपने पग मैं धुलवाती हूँ,
सिर झुका घमंडी सरकारें करतीं मेरा अर्चन-पूजन।

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

मुझ विपथगामिनी को न ज्ञात किस रोज किधर से आऊँगी,
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अम्बर में आग लगाऊँगी,

आँखें अपनी कर बन्द देश में जब भूकम्प मचाऊँगी,
किसका टूटेगा शृङ्ग, न जानें, किसका महल गिराऊँगी।
निर्बन्ध, क्रूर, निर्मोह सदा मेरा कराल नर्तन-गर्जन।

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

अबकी अगस्त की बारी है, पापों के पारावर! सजग,
बैठे 'विसूवियस' के मुख पर, भोले, अबोध संसार! सजग,
रेशों का रक्त कृशानु हुआ, ओ जुल्मी की तलवार! सजग,
दुनिया के नीरो! सावधान! दुनिया के पापी जार! सजग।
जानें, किस दिन फुंकार उठें पद-दलित काल-सर्पों के फन।

झन-झन-झन-झन-झन झनन-झनन।

ससराम, १९३८ ई०]

कविता का हठ

"बिखरी लट, आँसू छलके, यह सस्मित मुख क्यों दीन हुआ?
कविते! कह, क्यों सुषमाओं का विश्व आज श्री-हीन हुआ?
संध्या उतर पड़ी उपवन में? दिन-आलोक मलीन हुआ?
किस छाया में छिपी विभा? शृङ्गार किधर उड्डीन हुआ?

इस अविकच यौवन पर रूपसि, बता, श्वेत साड़ी कैसी?
आज असंग चिता पर सोने की यह तैयारी कैसी?
आँखों से जलधार, हिचकियों पर हिचकी जारी कैसी?
अरी बोल, तुझ पर विपत्ति आयी यह सुकमारी! कैसी?"

यों कहते-कहते मैं रोया, रुद्ध हुई मेरी वाणी,
ढार मार रो पड़ी लिपट कर मुझ से कविता कल्याणी।
"मेरे कवि! मेरे सुहाग! मेरे राजा! किस ओर चले?
चार दिनों का नेह लगा रे छली! आज क्यों छोड़ चले?

"वन-फूलों से घिरी कुटी क्यों आज नहीं मन को भाती?
राज-वाटिका की हरीतिमा हाय, तुझे क्यों ललचाती?
करुणा की मैं सुता बिना पतझड़ कैसे जी पाऊँगी?
कवि! बसन्त मत बुला, हाय, मैं विभा बीच खो जाऊँगी।

"खँडहर की मैं दीन भिखारिन, अट्टालिका नहीं लूँगी,
है सौगन्ध, शीश पर तेरे रखने मुकुट नहीं दूँगी।
तू जायेगा उधर, इधर मैं रो-रो दिवस बिताऊँगी,
खँडहर में नीरव निशीथ में रोऊँगी, चिल्लाऊँगी।

"व्योम-कुंज की सखी कल्पना उतर सकेगी धूलों में?
नरगिस के प्रेमी कवि ढूँढ़ेंगे मुझको वन-फूलों में?

हँस-हँस कलम नोंक से चुन रजकण से कौन उठायेगा ?
ठुकरायी करुणा का कण हूँ, मन में कौन बिठायेगा ?

"जीवन-रस पीने को देगा, ऐसा कौन यहाँ दानी ?
उर की दिव्य व्यथा कह अपनायेगी दुनिया दीवानी ?
गौरव के भग्नावशेष पर जब मैं अश्रु बहाऊँगी,
कौन अश्रु पोंछेगा, पल भर कहाँ शान्ति मैं पाऊँगी ?

"किसके साथ कहो खेलूंगी दूबों की हरियाली में ?
कौन साथ मिल कर रोयेगा नालन्दा - वैशाली में ?
कुसुम पहन मैं लिये विपंची घूमूंगी यमुना-तीरे,
किन्तु, कौन अंचल भर देगा चुन-चुन धूल भरे हीरे ?

"तेरे कण्ठ-बीच कवि ! मैं बनकर युग-धर्म पुकार चुकी,
प्रकृति-पक्ष ले रक्त-शोषिणी संस्कृति को ललकार चुकी।
वार चुकी युग पर तन-मन-धन, अपना लक्ष्य विचार चुकी,
कवे ! तुम्हारे महायज्ञ की आहुति कर तैयार चुकी।

"उठा अमर तूलिका, स्वर्ग का भू पर चित्र बनाऊँगी,
अमापूर्ण जग के आँगन में आज चन्द्रिका लाऊँगी।
रुला-रुला आँसू में धो जगती की मैल बहाऊँगी,
अपनी दिव्य शक्ति का परिचय भूतल को बतलाऊँगी।

"तू संदेश वहन कर मेरा, महागान मैं गाऊँगी,
एक विश्व के लिए लाख स्वर्गों को मैं ललचाऊँगी।
वहन करूँगी कीर्त्ति जगत में बन नवीन युग की वाणी,
ग्लानि न कर संगिनी प्राण की, हूँ मैं भावों की रानी।"

१९३४ ई०]

फूलों के पूर्व जन्म

प्रिय की पृथुल जाँघ पर लेटी करती थीं जो रँगरलियाँ,
उनकी कब्रों पर खिलती हैं नन्हीं जूही की कलियाँ।

पी न सका कोई जिनके नव अधरों की मधुमय प्याली,
वे भौंरों से रूठ झूमतीं बन कर चम्पा की डाली।

तनिक चूमने से शरमीली सिहर उठी जो सुकुमारी,
सघन तृणों में छिप उग आयी वह बन छुई-मुई प्यारी।

जिनकी अपमानित सुन्दरता चुभती रही सदा बन शूल,
वे जगती से दूर झूमतीं सूने में बन कर वन-फूल।

अपने बलिदानों से जग में जिनने ज्योति जगायी है,
उन पगलों के शोणित की लाली गुलाब में छायी है।

अबुध वत्स जो मरे हाय, जिन पर हम अश्रु बहाते हैं,
वे हैं मौन मुकुल अलबेले खिलने को अकुलाते हैं!

•

सिपाही

वनिता की ममता न हुई, सुत का न मुझे कुछ छोह हुआ,
ख्याति, सुयश, सम्मान, विभव का, त्यों ही, कभी न मोह हुआ।
जीवन की क्या चहल-पहल है, इसे न मैंने पहचाना,
सेनापति के एक इशारे पर मिटना केवल जाना।

मसि की तो क्या बात? गली की ठिकरी मुझे भुलाती है,
जीते जी लड़ मरूँ, मरे पर याद किसे फिर आती है?
इतिहासों में अमर रहूँ, है ऐसी मृत्यु नहीं मेरी,
विश्व छोड़ जब चला, भुलाते लगती फिर किसको देरी?

जग भूले, पर मुझे एक, बस, सेवा-धर्म निभाना है,
जिसकी है यह देह उसीमें इसे मिला मिट जाना है।
विजय-विटप को विकच देख जिस दिन तुम हृदय जुड़ाओगे,
फूलों में शोणित की लाली कभी समझ क्या पाओगे?

वह लाली हर प्रात क्षितिज पर आकर तुम्हें जगायेगी,
सायंकाल नमन कर माँ को तिमिर-बीच खो जायेगी।
देव करेंगे विनय, किन्तु, क्या स्वर्ग-बीच रुक पाऊँगा?
किसी रात चुपके उल्का बन कूद भूमि पर आऊँगा।

तुम न जान पाओगे, पर, मैं रोज खिलूँगा इधर-उधर,
कभी फूल की पंखुड़ियाँ बन, कभी एक पत्ती बनकर।
अपनी राह चली जायेगी वीरों की सेना रण में,
रह जाऊँगा मौन वृन्त पर सोच, न जानें, क्या मन में?

तप्त वेग धमनी का बनकर कभी संग मैं हो लूँगा,
कभी चरण - तल की मिट्टी में छिपकर जय - जय बोलूँगा।
अगले युग की अनी कपिध्वज जिस दिन प्रलय मचायेगी,
मैं गरजूँगा ध्वजा - शृंग पर, वह पहचान न पायेगी।

'न्योछावर में एक फूल', पर, जग की ऐसी रीत कहाँ?
एक पंक्ति मेरी सुधि में भी, सस्ते इतने गीत कहाँ?

* * * *

कविते! देखो विजन विपिन में वन्य - कुसुम का मुरझाना;
व्यर्थ न होगा इस समाधि पर दो आँसू - कण बरसाना।

१९३६ ई०]

परिचय

सलिल-कण हूँ कि पारावार हूँ मैं?
स्वयं छाया, स्वयं आधार हूँ मैं।
बँधा हूँ, स्वप्न है, लघु वृत्त में हूँ,
नहीं तो व्योम का विस्तार हूँ मैं।

समाना चाहती जो बीन-उर में,
विकल वह शून्य की झंकार हूँ मैं।
भटकता, खोजता हूँ ज्योति तम में,
सुना है, ज्योति का आगार हूँ मैं।

जिसे निशि खोजती तारे जला कर,
उसी का कर रहा अभिसार हूँ मैं।
जनम कर मर चुका सौ बार लेकिन,
अगम का पा सका क्या पार हूँ मैं?

कली की पंखड़ी पर ओस-कण में
रँगीले स्वप्न का संसार हूँ मैं;
मुझे क्या आज ही या कल झड़ूँ मैं?
सुमन हूँ, एक लघु उपहार हूँ मैं।

जलन हूँ, दर्द हूँ, दिल की कसक हूँ,
किसी का हाय, खोया प्यार हूँ मैं।
गिरा हूँ भूमि पर नन्दन-विपिन से,
अमर-तरु का सुमन सुकुमार हूँ मैं।

मधुर जीवन हुआ कुछ प्राण! जब से
लगा ढोने व्यथा का भार हूँ मैं।

रुदन ही एक पथ प्रिय का, इसी से,
पिरोता आँसुओं का हार हूँ मैं।

मुझे क्या गर्व हो अपनी विभा का?
चिता का धूलि-कण हूँ, क्षार हूँ मैं।
पता मेरा तुम्हें मिट्टी कहेगी
समा जिस में चुका सौ बार हूँ मैं।

न देखे विश्व, पर, मुझ को घृणा से,
मनुज हूँ, सृष्टि का श्रृंगार हूँ मैं।
पुजारिन! धूलि से मुझको उठा लो,
तुम्हारे देवता का हार हूँ मैं।

सुनूँ क्या सिन्धु! मैं गर्जन तुम्हारा?
स्वयं युग-धर्म का हुंकार हूँ मैं।
कठिन निर्घोष हूँ भीषण अशनि का,
प्रलय-गाण्डीव की टंकार हूँ मैं।

दबी-सी आग हूँ भीषण क्षुधा की,
दलित का मौन हाहाकार हूँ मैं।
सजग संसार, तू निज को सँभाले,
प्रलय का क्षुब्ध पारावार हूँ मैं।

बँधा तूफान हूँ, चलना मना है,
बँधी उद्दाम निर्झर-धार हूँ मैं।
कहूँ क्या, कौन हूँ? क्या आग मेरी?
बँधी है लेखनी, लाचार हूँ मैं।

१९३५ ई०]

पतझड़ की सारिका

सूखे विटप की सारिके !

उजड़ी - कटीली डार से
मैं देखता, किस प्यार से
पहना नवल पुष्पाभरण
तृण, तरु, लता, वनराजि को,
हैं जा रहे विहसित - वदन
ऋतुराज मेरे द्वार से।

मुझ में जलन है, प्यास है,
रस का नहीं आभास है,
यह देख हँसती वल्लरी,
हँसता निखिल आकाश है।

जग तो समझता है यही,
पाषाण में कुछ रस नहीं,
पर, गिरि - हृदय में क्या न
व्याकुल निर्झरों का वास है ?

बाकी अभी रसनाद हो,
पिछली कथा कुछ याद हो,
तो कूक पंचम तान में,
संजीवनी भर गान में।

सूखे विटप की डार को
कर दे हरी करुणामयी;
पढ़ दे ऋचा पीयूष की,
उग जाय फिर कोंपल नयी;

जीवन-गगन के दाह में
उड़ चल सजल नीहारिके!
सूखे विटप की सारिके!

१९३९ ई०]

गीत-शिशु

आशीर्वचन कहो मंगलमयि, गायन चले हृदय से,
दूर्वासन दो अवनि ! किरण मृदु, उतरो नील निलय से।
बड़े यत्न से जिन्हें छिपाया ये वे मुकुल हमारे,
जो अब तक बच रहे किसी विध ध्वंसक इष्ट-प्रलय से।

ये अबोध कल्पक के शिशु क्या रीति जगत की जानें,
कुछ फूटे रोमांच-पुलक से, कुछ अस्फुट विस्मय से।
निज मधु-चक्र निचोड़ लगन से पाला इन्हें हृदय ने,
बड़े नाज से, बड़ी साध से, ममता, मोह, प्रणय से।

चुन अपरूप विभूति सृष्टि की मैंने रूप सँवारा,
उडु से द्युति, गति बाल लहर से, सौरभ रुचिर मलय से।
सोते-जगते मृदुल स्वप्न में सदा किलकते आये,
नहीं उतारा कभी अंक से कठिन भूमि के भय से।

नन्हें अरुण चरण ये कोमल, क्षिति की परुष प्रकृति है,
मुझे सोच, पड़ जाय कहीं पाला न कुलिश निर्दय से।
अर्जित किया ज्ञान कब इनने, जीवन-दुख कब झेला ?
अभी अबुध ये खेल रहे थे रजकण के संचय से।

सीख न पाये रेणु-रत्न का भेद अभी ये भोले,
मुट्ठी भर मिट्टी बदलेंगे कंचन-रचित वलय से।
कुछ न सीख पाये, तो भी रुक सके न पुण्य-प्रहर में,
घुटनों बल चल पड़े, पुकारा तुमने देवालय से।

रुन-झुन-झुन पैंजनी चरण में, केश कुटिल घुँघराले,
नील नयन देखो माँ! इनके दाँत धुले हैं पय से।
देख रहे अति चकित रत्न-मणियों के हार तुम्हारे,
विस्फारित निज नील नयन से, कौतुक-भरे हृदय से।

कुछ विस्मय, कुछ शील दृगों में, अभिलाषा कुछ मन में,
पर, न खोल पाते मुख लज्जित प्रथम-प्रथम परिचय से।
निपुण गायकों की रानी, इनकी भी एक कथा है,
सुन लो, क्या कहने आये हैं ये तुतली-सी लय से।

छूकर भाल वरद कर से, मुख चूम विदा दो इनको,
आशिष दो, ये सरल गीत-शिशु विचरें अजर-अजय-से।
दिशि-दिशि विविध प्रलोभन जग में, मुझे चाह बस इतनी,
कभी निनादित द्वार तुम्हारा हो इनकी जय-जय से।

१९३९ ई०]

गीत-अगीत

गीत, अगीत, कौन सुन्दर है?

(१)

गाकर गीत विरह के तटिनी
वेगवती बहती जाती है,
दिल हलका कर लेने को
उपलों से कुछ कहती जाती है।
तट पर एक गुलाब सोचता,
"देते स्वर यदि मुझे विधाता,
अपने पतझर के सपनों का
मैं भी जग को गीत सुनाता।"

गा-गा कर बह रही निर्झरी,
पाटल मूक खड़ा तट पर है।
गीत, अगीत, कौन सुन्दर है?

(२)

बैठा शुक उस घनी डाल पर
जो खोंते पर छाया देती,
पंख फुला नीचे खोंते में
शुकी बैठ अंडे है सेती।
गाता शुक जब किरण बसन्ती
छूती अङ्ग पर्ण से छन कर,
किन्तु, शुकी के गीत उमड़कर
रह जाते सनेह में सनकर।

गूंज रहा शुक का स्वर वन में,
फूला मग्न शुकी का पर है।
गीत, अगीत, कौन सुन्दर है?

(३)

दो प्रेमी हैं यहाँ, एक जब
बड़े साँझ आल्हा गाता है,
पहला स्वर उसकी राधा को
घर से यहाँ खींच लाता है।
चोरी-चोरी खड़ी नीम की
छाया में छिपकर सुनती है,
'हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की
बिधना', यों मन में गुनती है।

वह गाता, पर किसी वेग से
फूल रहा इसका अन्तर है।
गीत, अगीत, कौन सुन्दर है?

सहरसा, १९३७ ई०]

बालिका से वधू

माथे में सेंदुर पर छोटी दो बिन्दी चमचम-सी,
पपनी पर आँसू की बूँदें मोती-सी, शबनम-सी।
लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम-सी,
यौवन की विनती-सी भोली, गुमसुम खड़ी शरम-सी।

पीला चीर, कोर में जिसकी चकमक गोटा-जाली,
चली पिया के गाँव उमर के सोलह फूलों वाली।
पी चुपके आनन्द, उदासी भरे सजल चितवन में,
आँसू में भींगी माया चुपचाप खड़ी आँगन में।

आँखों में दे आँख हेरती हैं उसको जब सखियाँ,
मुस्की आ जाती मुख पर, हँस देतीं रोती अँखियाँ।
पर, समेट लेती शरमाकर बिखरी-सी मुसकान,
मिट्टी उकसाने लगती है अपराधिनी-समान।

भींग रहा मीठी उमङ्ग से दिल का कोना-कोना,
भीतर-भीतर हँसी देख लो, बाहर-बाहर रोना।
तू वह, जो झुरमुट पर आयी हँसती कनक-कली-सी,
तू वह, जो फूटी शराब की निर्झरिणी पतली-सी।

तू वह, रच कर जिसे प्रकृति ने अपना किया सिंगार,
तू वह जो धूसर में आयी सबुज रंग की धार।
माँ की ढीठ दुलार! पिता की ओ लजवन्ती भोली,
ले जायगी हिया की मणि को अभी पिया की डोली।

कहो, कौन होगी इस घर की तब शीतल उजियारी?
किसे देख हँस-हँस कर फूलेगी सरसों की क्यारी?

वृक्ष रीझ कर किसे करेंगे पहला फल अर्पण-सा?
झुकते किसको देख पोखरा चमकेगा दर्पण-सा?

किसके बाल ओज भर देंगे खुलकर मन्द पवन में?
पड़ जायेगी जान देखकर किसको चन्द्र-किरन में?
महँ-महँ कर मंजरी गले से मिल किसको चूमेगी?
कौन खेत में खड़ी फसल की देवी-सी झूमेगी?

बनी फिरेगी कौन बोलती प्रतिमा हरियाली की?
कौन रूह होगी इस धरती फल-फूलों वाली की?
हँसकर हृदय पहन लेता जब कठिन प्रेम-जंजीर,
खुलकर तब बजते न सुहागिन, पाँवों के मंजीर।

घड़ी गिनी जाती तब निशिदिन उँगली की पोरों पर,
प्रिय की याद झूलती है साँसों के हिंडोरों पर।
पलती है दिल का रस पीकर सवसे प्यारी पीर,
बनती और बिगड़ती रहती पुतली में तस्वीर।

पड़ जाता चस्का जब मोहक प्रेम-सुधा पीने का,
सारा स्वाद बदल जाता है दुनिया में जीने का।
मंगलमय हो पन्थ सुहागिन, यह मेरा वरदान;
हरसिंगार की टहनी-से फूलें तेरे अरमान।

जगे हृदय को शीतल करनेवाली मीठी पीर,
निज को डुबो सके निज में, मन हो इतना गंभीर।
छाया करती रहे सदा तुझको सुहाग की छाँह,
सुख-दुख में ग्रीवा के नीचे हो प्रियतम की बाँह।

पल-पल मङ्गल-लग्न, जिन्दगी के दिन-दिन त्यौहार,
उर का प्रेम फूटकर हो आँचल में उजली धार।

ससराम, १९३८ ई०]

प्रीति

(१)

प्रीति न अरुण साँझ के घन सखि!
पल-भर चमक बिखर जाते जो
मना कनक-गोधूलि-लगन सखि!

प्रीति नील, गंभीर गगन सखि!
चूम रहा जो विनत धरणि को
निज सुख में नित मूक-मगन सखि!

(२)

प्रीति न पूर्ण चन्द्र जगमग सखि!
जो होता नित क्षीण, एक दिन
विभा-सिक्त करके अग-जग सखि!

दूज-कला यह लघु नभ-नग सखि!
शीत, स्निग्ध, नव रश्मि छिड़कती
बढ़ती ही जाती पग-पग सखि!

(३)

मन की बात न श्रुति से कह सखि!
बोले प्रेम विकल होता है,
अनबोले सारा दुख सह सखि!

कितना प्यार? जान मत यह सखि!

सीमा, बन्ध, मृत्यु से आगे
बसती कहीं प्रीति अहरह सखि!

(४)

तृणवत् धधक-धधक मत जल सखि!

ओदी आँच धुनी विरहिन की,
नहीं लपट की चहल-पहल सखि!

अन्तर्दाह मधुर मंगल सखि!

प्रीति-स्वाद कुछ ज्ञात उसे, जो
सुलग रहा तिल-तिल, पल-पल सखि!

१९३६ ई०]

दाह की कोयल

दाह के आकाश में पर खोल,
कौन तुम बोली पिकी के बोल ?

(१)

दर्द में भींगी हुई-सी तान,
होश में आता हुआ-सा गान;
याद आयी आयु की बरसात,
फिर गयी दृग में उजेली रात;
काँपता उजली कली का वृन्त,
फिर गया दृग में समग्र बसन्त।

मुँद गयीं पलकें, खुले जब कान,
सज गया हरियालियों का ध्यान;
मुँद गयीं पलकें कि जागी पीर,
पीर, बिछुड़ी चीज़ की तस्वीर।
प्राण की सुधि-ग्रन्थि भूली खोल,
कौन तुम बोली पिकी के बोल ?

(२)

दूर छूटी छाँहवाली डाल,
दूर छूटी तरु-द्रुमों की माल;
दूर छूटा पत्तियों का देश,
तलहटी का दूर रम्य प्रदेश;
कब सुना, जानें न, जल का नाद,
कब मिलीं कलियाँ, नहीं कुछ याद।

ओस-तृण को आज सिर्फ बिसूर
चल रहा मैं बाग-वन से दूर।
शीश पर जलता हुआ दिनमान,
और नीचे तप्त रेगिस्तान।
छाँह-सी मरु-पन्थ में तब डोल,
कौन तुम बोली पिकी के बोल?

(३)

बालुओं का दाह मेरे ईश!
औ' गुमरते दर्द की यह टीस!
सोचता विस्मित खड़ा मैं मौन,
खोजती आयी मुझे तुम कौन?
कौन तुम, ओ कोमले अनजान?
कौन तुम, किस रोज की पहचान?

हाँ, जरा-सी याद भूली बात,
दूध की धोयी उजेली रात;
जब किरन-हिडोर पर सामोद
स्यात् झूली बैठ मेरी गोद।
या कहीं ऊषा-गली में प्रान!
घूमते तुम से हुई पहचान।

तारकों में या नियति की बात
पढ़ रहा था जब कि पिछली रात,
तुम मिली ओढ़े सुवर्ण-दुकूल
भोर में चुनते विभा के फूल।
भूमि मे, नभ में कहीं ओ प्रान!
याद है, तुमसे हुई पहचान।

(४)

याद है, तुम तो सुधा की धार,
याद है, तुम चाँदनी सुकुमार।
याद है, तुम तो हृदय की पीर,
याद है, तुम स्वप्न की तस्वीर।
याद है, तुम तो कमल की नाल,
मंजरी के पासवाली नर्म कोंपल लाल।
इन्द्र की धनुषी, सजल रंगीन,
खोजती किसको दहकती वायु में उड्डीन?
दाह के आकाश में पर खोल
बोलने आयी पिकी के बोल।

(५)

चिलचिलाती धूप का यह देश,
कल्पने! कोमल तुम्हारा वेश।
लाल चिनगारी यहाँ की धूल,
एक गुच्छा तुम जुही के फूल।
दाह में यह ब्याह का संगीत!
भूल क्या सकती न पिछली प्रीत?
पड़ चुका है आग में संसार,
आज तुम असमय पधारी, क्या करूँ सत्कार?
मेरी बावली मेहमान!
शेष जो अब भी उसे निज को समर्पित जान।
लूह में आशा हरी सुकुमार,
दाह के आकाश मे मन्दाकिनी की धार;
धूप में उड़ती हुई शबनम अरी अनमोल!
कौन तुम बोली पिकी के बोल?

ससराम, १९३८ ई०]

नारी

खिली भू पर जब से तुम नारि,
कल्पना-सी विधि की अम्लान,
रहे फिर तब से अनु-अनु देवि!
लुब्ध भिक्षुक-से मेरे गान।

तिमिर में ज्योति-कली को देख
सुविकसित, वृन्तहीन, अनमोल;
हुआ व्याकुल सारा संसार,
किया चाहा माया का मोल।

हो उठी प्रतिभा सजग, प्रदीप्त,
तुम्हारी छवि ने मारा बाण;
बोलने लगे स्वप्न निर्जीव,
सिहरने लगे सुकवि के प्राण।

लगे रचने निज उर को तोड़
तुम्हारी प्रतिमा प्रतिमाकार,
नाचने लगी कला चहुँ ओर
भाँवरी दे-दे विविध प्रकार।

ज्ञानियों ने देखा सब ओर
प्रकृति की लीला का विस्तार;
सूर्य, शशि, उडु जिनकी नख-ज्योति
पुरुष उन चरणों का उपहार।

अगम 'आनन्द'-जलधि में डूब
तृषित 'सत्-चित्' ने पायी पूर्त्ति;
सृष्टि के नाभि-पद्म पर नारि!
तुम्हारी मिली मधुर रस-मूर्त्ति।

कुशल विधि-मानस का नवनीत,
एक लघु दिव-सी हो अवतीर्ण,
कल्पना-सी, माया-सी, दिव्य
विभा-सी भू पर हुई विकीर्ण।

दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर
गयी खिल कमल-पंक्ति अम्लान;
हिंस्र मानव के कर से स्रस्त
शिथिल गिर गये धनुष औ' बाण।

हो गया मदिर दृगों को देख
सिंह-विजयी बर्बर लाचार,
रूप के एक तन्तु में नारि,
गया बँध मत्त गयन्द-कुमार।

एक चितवन के शर ने देवि!
सिन्धु को बना दिया परिमेय,
विजित हो दृग-मद से सुकुमारि!
झुका पद-तल पर पुरुष अजेय।

कर्मियों ने देखा जब तुम्हें;
टूटने लगे शम्भु के चाप।
बेधने चला लक्ष्य गाण्डीव,
पुरुष के खिलने लगे प्रताप।

हृदय निज फरहादों ने चीर
बहा दी पय की उज्ज्वल धार,
आरती करने को सुकुमारि!
इन्दु को नर ने लिया उतार।

एक इंगित पर दौड़े शूर
कनक-मृग पर होकर हत-ज्ञान,
हुई ऋषियों के तप का मोल
तुम्हारी एक मधुर मुस्कान।

विकल उर को मुरली में फूँक
प्रियक-तरु-छाया में अभिराम,
बजाया हमने कितनी बार
तुम्हारा मधुमय 'राधा' नाम।

कढ़ीं यमुना से कर तुम स्नान,
पुलिन पर खड़ी हुई कच खोल,
सिक्त कुन्तल से झरते देवि!
पिये हमने सीकर अनमोल!

तुम्हारे अधरों का रस प्राण!
वासना-तट पर पिया अधीर;
अरी ओ माँ, हमने है पिया
तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर।

पिया शैशव ने रस-पीयूष,
पिया यौवन ने मधु-मकरन्द;
तृषा प्राणों की पर, हे देवि!
एक पल को न सकी हो मन्द।

पुरुष पँखुडी को रहा निहार
अयुत जन्मों से छवि पर भूल,
आज तक जान न पाया नारि!
मोहिनी इस माया का मूल।

न छू सकते जिसको हम देवि!
कल्पना वह तुम अगुण, अमेय;
भावना अन्तर की वह गूढ,
रही जो युग-युग अकथ, अगेय।

तैरती स्वप्नों में दिन-रात
मोहिनी छवि-सी तुम अम्लान,
कि जिसके पीछे-पीछे नारि!
रहे फिर मेरे भिक्षुक गान।

मुंगेर, १९३६ ई०]

अगुरु-धूम

कल मुझे पूज कर चढ़ा गया
अलि, कौन अपरिचित हृदय-हार?
मैं समझ न पायी गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(१)

श्रुति को इतना भर याद, भिक्षु
गुनगुना रहा था मर्म-गान,
"आ रहा दूर से मैं निराश,
तुम दे पाओगी तृप्ति-दान?
यह प्रेम-बुद्ध के लिए भीख,
चाहिए नहीं धन, रूप, देह,
मैं याच रहा वलिदान पूर्ण,
है यहाँ किसी में सत्य स्नेह?
पुरनारि! तुम्हारे ग्राम-बीच
भगवान पड़े हैं निराहार।"
मैं समझ न पायी गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(२)

सिहरा जानें क्यों मुझे देख,
बोला, "पूजेगी आज आस;
पहचान गया मैं सिद्धि देवि!
हो तुम्हीं यज्ञ का शुचि हुताश।

मैं अमित युगों से हेर रहा,
देखी न कभी यह विमल कान्ति,
ऐसी स्व-पूर्ण भ्रू-बँधी तरी,
ऐसी अमेय, निर्मोघ शान्ति।
नभ-सदृश चतुर्दिक् तुम्हें घेर
छा रहे प्रेम-प्रभु निराकार।"
मैं समझ न पायी गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(३)

अपनी छवि में मैं आप लीन
रह गयी विमुख करते विचार,
'वाणी प्रशस्ति की नयी सीख
आया फिर कोई चाटुकार।'
पर, वीतराग-निभ चला भिक्षु
रचकर मेरा अर्चन-विधान;
कह, "चढ़ा चुका मैं पुष्प, अधिक
अब और सिद्धि क्या मूल्यवान?
फिर कभी खोजने आऊँगा, पद
पर जो रख जा रहा प्यार।"
मैं समझ न पायी गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(४)

"अब और सिद्धि क्या मूल्यवान?"
मैं चौंक उठी सहसा अधीर;
फट गया गहन मन का प्रमाद,
आ लगा वह्नि का प्रखर तीर।

उठ विकल धूम के बीच दौड़
बोलूँ जबतक, "ठहरो किशोर!"
तबतक स्व-सिद्धि को शिला जान
था चला गया साधक कठोर।
मैंने देखा वह धूम-जाल,
मैंने पाया वह सुमन-हार;
पर, देख न पायी उन्हें सजनि!
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(५)

तुम तो पथ के चिर-पथिक देव!
कब ले सकते किस घर विराम?
मैं ही न हाय, पहचान सकी
करगत जीवन का स्वर्ण-याम।
है तृषित कौन? है जलन कहाँ?
मेघों को इसका नहीं ध्यान;
यह तो मिट्टी का भाग्य, कभी
मिल जाता उसको अमृत-दान।
फिरता न कभी मधुमास वही
शत हृदय खिलाकर एक बार;
मैं समझ न पायी गूढ़ भेद,
भर गया अगुरु का अन्धकार।

(६)

चरणों पर कल जो चढ़ा गये
तुम देव! हृदय का मधुर प्यार,
मन में, पुतली में उसे सजा
मैं आज रही धो बार-बार;

जो तुम्हें एक दिन देख नहीं
पायी अपने भ्रम में विभोर,
आकर सुन लो टुक आज उसी
पाषाणी का क्रन्दन किशोर!

छिपकर तुम पूज गये उस दिन,
छिपकर उस दिन मैं गयी हार;
पर छिपा सकेगा अश्रु-ज्योति
क्या आज अगुरु का अन्धकार?

(७)

कल छोड़ गये जो दीप द्वार पर,
उर पर वह आसीन आज;
साधना-चरण की रेणु-हेतु
है विकल सिद्धि अति दीन आज;
मन की देवी को फूल चढ़ा,
चाहिए तुम्हें कुछ नहीं और;
पर, विजित सिद्धि के लिए कहाँ
साधक-चरणों के सिवा ठौर?

मैं भेद न सकती तिमिर-पुंज,
तुम सुन सकते न करुण पुकार;
साधना-सिद्धि के बीच हाय,
छा रहा अगुरु का अन्धकार।

(८)

मैं रह न गयी मानवी आज,
देवी कह तुमने की न भूल;
अन्तर का कंचन चमक उठा,
जल गयी मैल, झर गयी धूल;

नव दीप्ति लिये नारीत्व जगा
यह पहन तुम्हारी विजय-माल;
कुछ नयी विभा ले फूल उठी
जीवन-विटपी की डाल-डाल।

देखे जग मुझ में आज स्त्रीत्व
का महामहिम पूर्णावतार;
मैं खड़ी, चतुर्दिक् मुझे घेर
छा रहा अगुरु का अन्धकार।

(६)

कल सौंप गये जो मुझे प्रेम,
देखो उसका शृङ्गार आज;
मैं कनक-थाल भर खड़ी, बुद्ध-
हित ले जाओ उपहार आज;
सब भूल गयी, कुछ याद नहीं
तरुणी के मद की बात आज;
आओ, पग छू हो जाऊँगी
रमणी, मैं रातों-रात आज।

माँ की ममता, तरुणी का व्रत,
भगिनी का लेकर मधुर प्यार,
आरती त्रिवर्तिक सजा करूँगी
भिन्न अगुरु का अन्धकार।

बह रही हृदय-यमुना अधीर
भर, उमड़ लबालब कोर-कोर,
आओ, कर लो नौका-विहार,
लौटो भिक्षुक, लौटो किशोर!

१९३९ ई०]

रास की मुरली

अभी तक कर पायी न सिँगार,
रास की मुरली उठी पुकार।

(१)

गयी सहसा किस रस से भींग
वकुल-वन में कोकिल की तान?
चाँदनी में उमड़ी सब ओर
कहाँ के मद की मधुर उफान?
गिरा चाहता भूमि पर इन्दु
शिथिलवसना रजनी के संग;
सिहरते पग सकता न सँभाल
कुसुम-कलियों पर स्वयं अनंग!
ठगी-सी रुकी नयन के पास
लिये अंजन उँगली सुकुमार,
अचानक लगे नाचने मर्म,
रास की मुरली उठी पुकार।

(२)

रास की मुरली उठी पुकार।

साँझ तक तो पल गिनती रही,
कहीं तब डूब सका दिनमान;
आँजने जिस क्षण बैठी आँख,
मधुर वेला पहुँची यह आन।

सुहागिनियों में चुनकर एक
मुझे ही भूल गये क्या श्याम ?
बुलाने को न बजाया आज
बाँसुरी में दुखिया का नाम।
बिताऊँ आज रैन किस भाँति ?
पिन्हाऊँ किसे यूथिका-हार ?
धरूँ कैसे घर बैठे धीर ?
रास की मुरली उठी पुकार।

(३)

रास की मुरली उठी पुकार।

उठी उर में कोमल हिल्लोल
मोहिनी मुरली का सुन नाद,
लगा करने कैसे तो हृदय,
पड़ी, जानें, कैसी कुछ याद !
सकूँगी कैसे स्वयं सँभाल
तरङ्गित यौवन का रसवाह ?
ग्रन्थि के ढीले कर सब बन्ध
नाचने को आकुल है चाह।
डोलती श्लथ कटि-पट के संग,
खुली रशना करती झनकार,
न दे पायी कंकन में कील,
रास की मुरली उठी पुकार।

(४)

साज-शृंगार ?
छोड़ दौड़ो सब साज-सिँगार,
रास की मुरली रही पुकार।

अरी भोली मानिनि! इस रात
विनय-आदर का नहीं विधान,
अनामन्त्रित अर्पण कर देह
पूर्ण करना होगा वलिदान।

आज द्रोही जीवन का पर्व,
नग्न उल्लासों का त्योहार;
आज केवल भावों का लग्न,
आज निष्फल सारे शृंगार।

अलक्तक-पद का आज न श्रेय,
न कुंकुम की बेंदी अभिराम,
न सोहेगा अधरों में राग,
लोचनों में अंजन घनश्याम।

हृदय का संचित रंग उँड़ेल
सजा नयनों में अनुपम राग,
भींगकर नख-शिख तक सुकुमारि,
आज कर लो निज सुफल सुहाग।

पहन कर केवल मादक रूप
किरण-वसना परियों-सी नग्न,
नीलिमा में हो जाओ बाल,
तारिकामयी प्रकृति-सी मग्न।

यूथिका के ये फूल बिखेर
पुजारिन! बनो स्वयं उपहार,
पिन्हा बाँहों के मृदुल मृणाल
देवता की ग्रीवा का हार।

खोल बाँहें आलिङ्गन-हेतु
खड़ा संगम पर प्राणाधार;
तुम्हें कंकन-कुंकुम का मोह,
और यह मुरली रही पुकार।

(५)

रास की मुरली रही पुकार!

महालय का यह मंगल-काल,
आज भी लज्जा का व्यवधान?
तुम्हें तनु पर यदि नहीं प्रतीति,
भेज दो अपने आकुल प्रान।

कहीं हो गया द्विधा में शेष
आज मोहन का मादक रास,
सफल होगा फिर कब सुकुमारि!
तुम्हारे यौवन का मधुमास?

रही बज आमन्त्रण के राग
श्याम की मुरली नित्य-नवीन,
विकल-सी दौड़-दौड़ प्रतिकाल
सरित हो रही सिन्धु में लीन।

रहा उड़ तज फेनिल अस्तित्व
रूप पल-पल अरूप की ओर,
तीव्र होता ज्यों-ज्यों जयनाद,
बढ़ा जाता मुरली का रोर।

सनातन महानन्द में आज
बाँसुरी - कंकन एकाकार,
बहा जा रहा अचेतन विश्व,
१९३७ ई०] रास की मुरली रही पुकार।

पुरुष-प्रिया

मै तरुण भानु-सा अरुण भूमि पर उतरा रुद्र-विषाण लिये,
सिर पर ले वह्नि-किरीट दीप्ति का तेजवन्त धनु-बाण लिये।
स्वागत में डोली भूमि, त्रस्त भूधर ने हाहाकार किया,
वन की विशीर्ण अलकें झकोर झंझा ने जयजयकार किया।

नाचती चतुर्दिक् घूर्णि चली, मै जिस दिन चला विजय-पथ पर;
नीचे धरणी निर्वाक् हुई, सिहरा अशब्द ऊपर अम्बर।
मुक्ता ले सिन्धु शरण आया मैंने जब किया सलिल-मन्थन,
मेरे इङ्गित पर उगल दिये भू ने उर के फल, फूल, रतन।

दिग्विदिक् सृष्टि के पर्ण-पर्ण पर मैंने निज इतिहास लिखा,
दिग्विदिक् लगी करने प्रदीप्त मेरे पौरुष की अरुण शिखा।
मै स्वर्ग-देश का जयी वीर, भू पर छाया शासन मेरा;
हाँ, किया वहन नतभाल, दमित मृगपति ने सिंहासन मेरा।

कर दलित चरण से अद्रि-भाल, चीरते विपिन का मर्म सघन,
मै विकट, धनुर्धर, जयी वीर, था घूम रहा निर्भय रन-वन।
उर के मन्थन की दर्द-भरी घड़ियों से थी पहचान नहीं,
सुमनों से हारे भीम शैल, तबतक था इतना ज्ञान नहीं।

चूमे जिसको झुक अहंकार, वह कली, स्यात्, तबतक न खिली;
लज्जित हो अनल-किरीट, चाँदनी तबतक थी ऐसी न मिली।
सहसा आयी तुम मुझ अजेय को हँसकर जय करनेवाली,
आधी मधु, आधी सुधा-सिक्त चितवन का शर भरनेवाली।

मैं युवा सिंह से खेल रहा था एक प्रात निर्झर-तट पर,
तुम उगी तीर पर माया-सी लघु कनक-कुम्भ साजे कटि पर।
लघु कनक-कुम्भ कटि पर साजे, दृग-बीच तरल अनुराग लिये;
चरणों में ईषत् अरुण, क्षीण जलधौत अलक्तक-राग लिये।

सद्य:स्नाता, मद-भरित, सिक्त सरसीरुह की अम्लान कली,
अक्षता, सद्य, पाताल-जनित मदिरा की निर्झरिणी पतली।
मैं चकित देखने लगा तुम्हें, तुमने विस्मित मुझको देखा;
पल-भर हम पढ़ते रहे पूर्व युग का विस्मृत, धूमिल लेखा।

तुम नयी किरण-सी लगी, मुझे सहसा अभाव का ध्यान हुआ,
जिस दिन देखा यह हरित स्रोत, अपने ऊसर का ज्ञान हुआ।
मैं रहा देखता निर्निमेष, तुम खड़ी रही अपलक-चितवन,
नस-नस जृम्भा संचरित हुई, संत्रस्त, शिथिल उर के बन्धन।

सहसा बोली, 'प्रियतम', अधीर; श्लथ कटि से गिरा कलस तेरा,
गिर गये बाण, गिर गया धनुष, सिहरा यौवन का रस मेरा।
'प्रियतम','प्रियतम', रसकूक मधुर कब की श्रुत-सी, कुछ जानी-सी,
'प्रियतम','प्रियतम', रूपसी कौन तुम युग-युग की पहचानी-सी?

उमड़ा व्याकुल यौवन विबन्ध, उर की तन्त्री झनकार उठी;
सब ओर सृष्टि में निकट-दूर 'प्रियतम' की मधुर पुकार उठी।
तुम अर्द्ध चेतना में बोली, "मैं खोज थकी, तुम आ न सके,
लद गयी कुसुम से डाल, किन्तु, अबतक तुम हृदय लगा न सके।

"सीखा यह निर्दय खेल कहाँ? तुम तो न कभी थे निठुर पिया।"
मैं चकित, भ्रमित कुछ कह न सका, मुख से निकले दो वर्ण, 'प्रिया।'
दो वर्ण 'प्रिया', यह मधुर नाम, रसना की प्रथम ऋचा निर्मल,
उल्लसित हृदय की प्रथम वीचि, सुरसरि का विन्दु प्रथम उज्ज्वल।

नर की यह चकित पुकार 'प्रिया', जब पहली दृष्टि पड़ी रानी,
जिस दिन मन की कल्पना उतर भू पर हो गयी खड़ी रानी।
विस्मय की चकित पुकार 'प्रिया', जब तुम नीलिमा गगन की थी;
जब कर-स्पर्श से दूर अगुण रस-प्रतिमा स्वप्न-मगन की थी;

जब पुरुष-नयन में वह्नि नहीं, था विस्मय-जड़ित कुतुक केवल;
जब तुम अचुम्बिता, दूर-ध्वनित थी किसी सुरा का मद-कलकल।
विस्मय की चकित पुकार 'प्रिया', जिस दिन तुम थी केवल नारी;
नर की ग्रीवा का हार नहीं भुजबँधी वल्लरी सुकुमारी।

दो वर्ण, 'प्रिया', यह नाद उषा सुनती शिखरों पर प्रथम उतर;
दो वर्ण 'प्रिया', कुछ मन्द-मन्द इस ध्वनि से ध्वनित गहन अम्बर।
दो वर्ण 'प्रिया', संध्या सुनती झुक अतल मौन सागर-तल में;
सुन-सुनकर हृदय पिघल जाता इसका गुंजन दृग के जल में।

सुन रहीं दिशाएँ मौन खड़ी, सुन रही मग्न नभ की बाला;
सुन रहे चराचर, किन्तु, एक सुनता न पुरुष कहनेवाला।
अकलंक प्राण का सम्बोधन सुनते जो कर्ण अजान प्रिये,
तो पुरुष-प्रिया के बीच आज मिलता न एक व्यवधान प्रिये।

व्यवधान वासना का कराल जगते जो आग लगाती है;
जो तप्त शाप-विष फूँक सरल नयनों को हिंस्र बनाती है।
उन आँखों का व्यवधान, ज्ञात जिनको न रहस्यों का गोपन,
देखा कुछ कहीं कि कह आतीं सब कुछ प्राणों के भवन-भवन।

उत्सुक नर का व्यवधान, शृंग लख जिसे सूझता आरोहण;
जल-राशि देख संतरण और वन सघन देखकर अन्वेषण।
अम्बर का देख वितान उड़ा, 'यह नील-नील ऊपर क्या है?'
मिट्टी खोदी यह सोच, "गुप्त इस वसुधा के भीतर क्या है?"

जिस दिवस अवारित प्रेम - सदन में विस्मित, चकित पुरुष आया,
माणिक्य देख धीरता तजी, मुक्ता - सुवर्ण पर ललचाया।
क्या ले, क्या छोड़े, रत्नराशि का भेद नही लघु जान सका,
वह लिया कि जिसमें तृप्ति नही, पाना था जो वह पा न सका।

पा सका न मन का द्वार, लुब्ध भग चला कुसुम का तन लेकर,
ग्रीवा - विलसित मन्दार - हार का दलन किया चुम्बन लेकर।
जीवन पर प्रसरित खिली चाँदनी को पीने की चाह इसे,
शशि का रस सकल निचोड़ बुझे वह कठिन, चिरन्तन दाह इसे।

तरुणी - उर को कर चूर्ण खोजने लगा सुरभि का कोष कहाँ?
प्रतिमा विदीर्ण कर ढूंढ़ रहा, वरदान कहाँ? सन्तोष कहाँ?
खोजते मोह का उत्स पुरुष ने सारी आयु वृथा खोयी;
इससे न अधिक कुछ जान सका, तुम - सा न कही सुन्दर कोई।

सब ओर तीव्र - गति घूम रहा युग - युग से व्यग्र पुरुष चंचल,
तुम चिर - चंचल के बीच खड़ी प्रतिमा - सी सस्मित, मौन, अचल।
सुन्दर थी तुम जब पुरुष चला, सुन्दर अब भी जब कल्प गया;
जा रहा सकल श्रम व्यर्थ, नहीं मिलता आगे कुछ ज्ञान नया।

जब - जब फिर आता पुरुष श्रान्त, तब तुम कहती रसमग्न 'पिया'!
मिलती न उसे फिर बात नयी, मुख से कढ़ते दो वर्ण, 'प्रिया'!

१९३९ ई०]

आश्वासन

(१)

तृषित! धर धीर मरु में।
कि जलती भूमि के उर में
कहीं प्रच्छन्न जल हो।
न रो यदि आज तरु में
सुमन की गन्ध तीखी,
स्यात्, कल मधुपूर्ण फल हो।

(२)

नये पल्लव सजीले,
खिले थे जो वनश्री को
मसृण परिधान देकर;
हुए वे आज पीले,
प्रभंजन भी पधारा कुछ
नया वरदान लेकर।

(३)

दुखों की चोट खाकर
हृदय जो कूप-सा जितना
अधिक गंभीर होगा;
उसी में वृष्टि पा कर
कभी उतना अधिक संचित
सुखों का नीर होगा।

(४)

सुधा यह तो विपिन की,
गरजती निर्झरी जो आ
रही पर्वत-शिखर से।
वृथा यह भीति घन की,
दया-घन का कहीं तुझ
पर शुभाशीर्वाद बरसे।

(५)

करें क्या बात उसकी
कड़क उठता कभी जो
व्योम में अभिमान बनकर?
कृपा पर, ज्ञात उसकी,
उतरता वृष्टि में जो सृष्टि
का कल्याण बनकर।

(६)

सदा आनन्द लूटें,
पुलक-कलिका चढ़ा या
अश्रु से पद-पद्म धोकर;
तुम्हारे बाण छूटें,
झुके हैं हम तुम्हारे हाथ
में कोदण्ड होकर।

१९३६ ई०]

कवि

ऊषा थी युग से खड़ी लिये प्राची में सोने का पानी,
सर में मृणाल-तूलिका, तटी में विस्तृत दूर्वा-पट धानी।
खींचता चित्र पर कौन? छेड़ती राका की मुसकान किसे?
विम्बित होते सुख-दुख, ऐसा अन्तर था मुकुर-समान किसे?

दन्तुरित केतकी की छवि पर था कौन मुग्ध होनेवाला?
रोती कोयल थी खोज रही स्वर मिला संग रोनेवाला।
अलि की जड़ सुप्त शिराओं को थी कली विकल उकसाने को,
आकुल थी मधु वेदना विश्व की अमर गीत बन जाने को।

थी व्यथा किसे प्रिय? कौन मोल करता आँखों के पानी का?
नयनों को था अज्ञात अर्थ तबतक नयनों की वाणी का।
उर के क्षत का शीतल प्रलेप कुसुमों का था मकरन्द नहीं;
विहगों के आँसू देख फूटते थे मनुजों के छन्द नहीं।

मृगदृगी वन्य-कन्या कर पायी थी मृगियों से प्यार नहीं,
हाँ, प्रकृति-पुरुष तबतक मिल हो पाये थे एकाकार नही।
शैथिल्य देख कलियाँ रोयीं, अन्तर सें सुरभित आह उठी;
ऊसर ने छोड़ी साँस, एक दिन धरणी विकल कराह उठी।

यों विधि-विधान को दुखी देख वाणी का आनन म्लान हुआ;
उर को स्पन्दित करनेवाले कवि के अभाव का ज्ञान हुआ।
आह टकरायी सुर-तरु में, पुष्प आ गिरा विश्व-मरु में।

कवि! पारिजात के छिन्न कुसुम तुम स्वर्ग छोड़ भू पर आये,
उर-पद्म-कोष में छिपा दिव्य नन्दनवन का सौरभ लाये।
जिस दिन तमसा-तट पर तुमने दी फूँक बाँसुरी अनजाने,
शैलों की श्रुतियाँ खुलीं, लगे नीड़ों में खग उठ-उठ गाने।

फूलों को वाणी मिली, चेतना पा हरियाली डोल गयी,
पुलकातिरेक में कली भ्रमर से व्यथा हृदय की बोल गयी।
प्राणों में कम्पन हुआ, विश्व की सिहर उठी प्रत्येक शिरा;
तुम से कुछ कहने लगी स्वयं तृण-तृण में हो साकार गिरा।

निर्झर-मुख पर चढ़ गया रंग सुनहरी उषा के पानी का;
उग गया चित्र हिम-विन्दु-पूर्ण किसलय पर प्रणय-कहानी का।
अंकुरित हुआ नव प्रेम, कंटकित काँप उठी युवती वसुधा;
रस-पूर्ण हुआ उर-कोष, दृगों में छलक पड़ी सौन्दर्य-सुधा।

कवि! तुम अनंग बनकर आये फूलों के मृदु शर-चाप लिये,
चिर-दुखी विश्व के लिए प्रेम का एक और संताप लिये।
सीखी जगती ने जलन, प्रेम पर जब से बलि होना सीखा;
फूलों ने बाहर हँसी और भीतर-भीतर रोना सीखा।

उच्छ्वासों से गल मोम हुई ऊसर की पाषाणी कारा;
सींचने चली संसार तुम्हारे उर की सुधा-मधुर धारा।
तुमने जो सुर में भरा शिशिर-क्रंदन में भी आनंद मिला;
रसवती हुई वेदना, आँसुओं में जग को मकरन्द मिला।

मेघों पर चढ़ कर प्रिया पास प्रेमी की व्याकुल आह चली;
वन-वन दमयन्ती विकल खोजती निर्मोही की राह चली।
कवि! स्वर्ग-दूत या चरम स्वप्न विधि का तुमको सुकुमार कहें?
नन्दन-कानन का पुष्प, व्यथा जग का या राजकुमार कहें?

विधि ने भूतल पर स्वर्ग-लोक रचने का दे सामान तुम्हें;
अपनी त्रुटि को पूरी करने का दिया दिव्य वरदान तुम्हें।
सब कुछ देकर भी चिर-नवीन, चिर-ज्वलित व्यथा का रोग दिया;
फूलों से रचकर गात, भाग्य में लिख शूलों का भोग दिया।

जीवन का रस-पीयूष नित्य जग को करना है दान तुम्हें,
हे नीलकंठ, संतोष करो, था लिखा गरल का पान तुम्हें।
कितना जीवन-रस पिला-पिला पाली तुमने कविता प्यारी?
कवि! गिनो, घाव कितने बोलो, उर-बीच उगे बारी-बारी?

सूने में रो-रो बहा चुके जग का कितना उपहास कहो?
दुनिया कहती है गीत जिन्हें, उन गीतों का इतिहास कहो।
दाएँ कर से जल को उछाल तट पर बैठे क्यों मौन? अरे!
बाएँ कर से मुख ढाँक लिया, चिन्ता जागी यह कौन? हरे!

किरणें लहरों से खेल रही, मेरे कवि! आह, नयन खोलो;
क्यों सिसक-सिसक रो रहे? हाय, हे देवदूत, यह क्या बोलो?
"आँखों से पूछो, स्यात्, आँसुओं में गीतों का भेद मिले;
मुझको इतना भर ज्ञात, व्यथा जब हरी हुई, सब वेद मिले।

"पाली मैंने जो आग, लगा उसको युग का जादू-टोना;
फूटती नहीं, हाँ जला रही चुपके उर का कोना-कोना।
आँखें जो कुछ हैं देख रही उनका कहना भी पाप मुझे;
क्या से क्या होगा विश्व, यही चिन्ता, विस्मय, सन्ताप मुझे।

"मुझको न याद, किस दिन मैंने किस अमर व्यथा का पान किया;
दुनिया कहती है गीत, रुदन कर मैंने साँझ-विहान किया।"

* * *

आँसू पर देता विश्व हृदय का कोहिनूर उपहार नहीं;
रोओ कवि! दैवी व्यथा विश्व में पा सकती उपचार नहीं।

रोओ, रोना वरदान यहाँ प्राणों का आठो याम हुआ;
रोओ, धरणी का मथित हलाहल पीकर ही नभ श्याम हुआ।
खारी लहरों पर, स्यात्, कहीं आशा का तिरता कोक मिले;
रोओ कवि! आँसू-बीच, स्यात्, धरणी को नव आलोक मिले।

१९३५ ई०]

प्रभाती

रे प्रवासी, जाग, तेरे
देश का संवाद आया।

(१)

भेदमय संदेश सुन पुलकित
खगों ने चंचु खोली;
प्रेम से झुक-झुक प्रणति में
पादपों की पंक्ति डोली;
दूर प्राची की तटी से
विश्व के तृण-तृण जगाता;
फिर उदय की वायु का वन में
सुपरिचित नाद आया।

रे प्रवासी, जाग, तेरे
देश का संवाद आया।

(२)

व्योम-सरमें हो उठा विकसित
अरुण आलोक-शतदल;
चिर-दुखी धरणी विभा में
हो रही आनन्द-विह्वल।
चूमकर प्रति रोम से सिर
पर चढ़ा वरदान प्रभु का,
रश्मि-अंजलि में पिता का
स्नेह-आशीर्वाद आया।

रे प्रवासी, जाग, तेरे
देश का संवाद आया।

(३)

सिन्धु - तट का आर्य भावुक
आज जग मेरे हृदय में,
खोजता उद्गम विभा का
दीप्त - मुख विस्मित उदय में;
उग रहा जिस क्षितिज - रेखा
से अरुण, उसके परे क्या?
एक भूला देश धूमिल-
सा मुझे क्यों याद आया?
रे प्रवासी, जाग, तेरे
देश का संवाद आया।

१९३६ ई०]

संध्या

जीर्णवय अम्बर-कपालिक शीर्ण, वेपथुमान,
पी रहा आहत दिवस का रक्त मद्य-समान।
शिथिल, मद-विह्वल, प्रकंपित-वपु, हृदय हतज्ञान,
गिर गया मधुपात्र कर से, गिर गया दिनमान।

खो गयी चूकर जलद के जाल में मद-धार;
नीलिमा में हो गया लय व्योम का शृंगार।
शान्त विस्मित भूमि का गति-रोर;
एक गहरी शान्ति चारों ओर।

कौन तम की आँख-सा कढ़कर प्रतीची-तीर
दिग्विदिक् निस्तब्धता को कर रहा गंभीर?
ज्योति की पहली कली, तम का प्रथम उडु-हंस,
यह उदित किस अप्सरी का एक श्रुति-अवतंस?

व्योम के उस पार अन्तर्धान,
श्याम संध्या का निवास-स्थान।
दिवस-भर छिपकर गगन के पार
साजती अभिसार के शृंगार;
और ज्यों होता दिवा का अन्त,
जोहती आकर किसी का पन्थ।
एक अलका व्योम के उस ओर;
यक्षिणी कोई विषाद-विभोर;
खोजती फिरती न मिलते कान्त;
बीतते जाते अमित कल्पान्त;

वेदना बजती कठिन मन - माँझ;
पल गिना करती कि हो कब साँझ;
अश्रु से भींगी, व्यथा से दीन;
ऊँघती प्रिय - स्वप्न में तल्लीन।

षोडशी, तिमिराम्बरा सुकुमार;
भूलुठित, पुष्पित लता - सी म्लान, छिन्नाधार।
सिक्त पलदल, मुक्त कुन्तल - जाल;
ग्रीव से उतरी, अचुम्बित, त्यक्त पाटल - माल।

एक अलका व्योम के उस ओर,
यक्षिणी कोई विषाद - विभोर।
खोजती फिरती, न मिलते कान्त,
बीतते जाते अमित कल्पान्त।

दीप्ति खोयी, खो गया दिनमान;
व्योम का सारा महल सुनसान;
शून्य में हो, स्यात्, खोया प्यार;
विजन नभ में इसलिए अभिसार।

उडु नहीं, तम में न उज्ज्वल हंस,
शुक्र, संध्या का कनक - अवतंस।
शान्त! पृथ्वी! रोक ले निज रोर,
शान्ति! गहरी शान्ति हो सब ओर।

नीलिमा - पट खोलकर सायास
आ रही संध्या मलीन, उदास।
देखती अवनत धरणि की ओर,
वेदना - पूरित, विषाद - विभोर।

शून्य की अभिसारिका अति दीन,
शून्य के ही प्राण - सी रवहीन।

उठ रहे पल मन्दगति निस्पन्द,
जा रहे बिछते गगन पर अश्रु - विन्दु अमन्द।
साधना - सी मग्न, स्वप्न - विलीन,
निःस्व की आराधना - सी शून्य, वेगविहीन।

पर्ण - कुंजों में न मर्मर - गान;
सो गया थककर शिथिल पवमान।
अब न जल पर रश्मि विम्बित लाल;
मूँद उर में स्वप्न सोया ताल।
सामने द्रुमराजि तमसाकार,
बोलते तम में विहग दो - चार;
झींगुरों में रोर खग के लीन;
दीखते ज्यों एक रव अस्पष्ट, अर्थविहीन।

दूर - श्रुत अस्फुट कहीं की तान,
बोलते मानों, तिमिर के प्राण।

व्योम से झरने लगा तमचूर्ण - संग प्रमाद,
तारकों से भूमि को आने लगा संवाद।
सघन, श्याम विषादमय अंचल तिमिर का डाल,
शान्त कर से छू रही संध्या भुवन का भाल।

सान्त्वना के स्पर्श से श्रम भूल,
सो रहे द्रुम पर उनींदे फूल।
झुक गये पल्लव शिथिल, साभार;
ऊँघने अलसित लगा संसार।

शान्ति, गहरी शान्ति चारों ओर
एक मेरे चित्त में कल रोर :—

भूमि से आकाश तक जिसका अनन्त प्रसार,
बाँध लूँ उसको भुजा में युग्म बाँह पसार।

मैं बढ़ाता बाहुओं का पाश,
व्यंग्य से हँसता निखिल आकाश।

बन्ध से बाहर खड़ा निस्सीम का विस्तार,
भुज-परिधि का कुछ तिमिर, कुछ शून्य पर अधिकार।

याद कर, जानें न, किसका प्यार,
गिर गये दो अश्रु-कण सुकुमार।

आँसुओं की दो कनी इस साँझ का वरदान,
अश्रु के दो विन्दु पिछली प्रीति की पहचान।
अश्रु दो निस्सीम के पद पर हृदय का प्यार,
सान्त का स्मृति-चिह्न पावन, क्षुद्रतम उपहार।

१६३६ ई०]

अगेय की ओर

गायक, गान, गेय से आगे
मैं अगेय स्वन का श्रोता मन।

(१)

सुनना श्रवण चाहते अबतक
भेद हृदय जो जान चुका है;
बुद्धि खोजती उन्हें जिन्हें जीवन
निज को कर दान चुका है।
खो जाने को प्राण विकल हैं
चढ़ उन पद-पद्मों के ऊपर
बाहु-पाश से दूर जिन्हें विश्वास
हृदय का मान चुका है।

जोह रहे उनका पथ दृग,
जिनको पहचान गया है चिन्तन।
गायक, गान, गेय से आगे
मैं अगेय स्वन का श्रोता मन।

(२)

उछल-उछल बह रहा अगम की
ओर अभय इन प्राणों का जल;
जन्म-मरण की युगल घाटियाँ
रोक रहीं जिसका पथ निष्फल।

मैं जल-नाद श्रवण कर चुप हूँ;
सोच रहा यह खड़ा पुलिन पर;

है कुछ अर्थ, लक्ष्य इस रव का
या 'कुल-कुल, कल-कल' ध्वनि केवल ?

दृश्य, अदृश्य कौन सत् इनमें ?
मैं या प्राण - प्रवाह चिरन्तन ?
गायक, गान, गेय से आगे
मैं अगेय स्वन का श्रोता मन।

(३)

जलकर चीख उठा वह कवि था,
साधक जो नीरव तपने में;
गाये गीत खोल मुँह क्या वह
जो खो रहा स्वयं सपने में ?
सुषमाएँ जो देख चुका हूँ
जल - थल में, गिरि, गगन, पवन में,
नयन मूँद अन्तर्मुख जीवन
खोज रहा उनको अपने में।

अन्तर् - वहिर् एक छवि देखी,
आकृति कौन ? कौन है दर्पण ?
गायक, गान, गेय से आगे
मैं अगेय स्वन का श्रोता मन।

(४)

चाह यही छू लूँ स्वप्नों की
नग्न कान्ति बढ़कर निज कर से;
इच्छा है, आवरण स्रस्त हो
गिरे दूर अन्तःश्रुति पर से।

पहुँच अगेय-गेय-संगम पर
सुनूँ मधुर वह राग निरामय,
फूट रहा जो सत्य सनातन
कविर्मनीषी के स्वर-स्वर से।

गीत बनी जिनकी झाँकी,
अब दृग में उन स्वप्नों का अंजन।
गायक, गान, गेय से आगे
मैं अगेय स्वन का श्रोता मन।

१९३७ ई०]
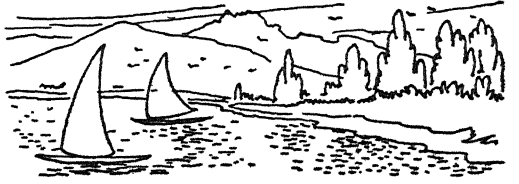
संबल

सोच रहा, कुछ गा न रहा मैं।

(१)

निज सागर को थाह रहा हूँ,
खोज गीत में राह रहा हूँ,
पर, यह तो सब कुछ अपने हित, औरों को समझा न रहा मैं।

(२)

वातायन शत खोल हृदय के,
कुछ निर्वाक् खड़ा विस्मय से,
उठा द्वार-पट चकित झाँक अपनेपन को पहचान रहा मैं।

(३)

ग्रन्थि हृदय की खोल रहा हूँ,
उन्मन-सा कुछ बोल रहा हूँ,
मन का अलस खेल यह गुनगुन, सचमुच, गीत बना न रहा मैं।

(४)

देखी दृश्य-जगत की झाँकी,
अब आगे कितना है बाकी?
गहन शून्य में मग्न, अचेतन, कर अगीत का ध्यान रहा मैं।

(५)

चरण-चरण साधन का श्रम है,
गीत पथिक की शान्ति परम है,
ये मेरे संबल जीवन के, जग का मन बहला न रहा मैं।

(६)

एक निरीह पथिक निज मग का,
मैं न सुयश - भिक्षुक इस जग का,
अपनी ही जागृति का स्वर यह, बन्धु, और कुछ गा न रहा मैं।
सोच रहा, समझा न रहा मैं।

१९३९ ई०]

प्रतीक्षा

अयि संगिनी सुनसान की !

(१)

मन में मिलन की आस है,
दृग में दरस की प्यास है,
पर, ढूँढ़ता फिरता जिसे
उसका पता मिलता नहीं,
झूठे बनी धरती बड़ी,
झूठे बृहत् आकाश है;
मिलती नहीं जग में कहीं
प्रतिमा हृदय के गान की।
अयि संगिनी सुनसान की !

(२)

तुम जानती सब बात हो,
दिन हो कि आधी रात हो,
मैं जागता रहता कि कब
मंजीर की आहट मिले,
मेरे कमल - वन में उदय
किस काल पुण्य - प्रभात हो;
किस लग्न में हो जाय कब
जानें कृपा भगवान की।
अयि संगिनी सुनसान की !

(३)

मुख में हँसी, मन म्लान है,
उजड़े घरों में गान है,
जग ने सिखा रक्खा, गरल
पीकर सुधा - वर्षण करो,
मन में पचा ले आह जो
सब से वही बलवान है।
उर में पुरातन पीर, मुख
पर द्युति नयी मुसकान की।
अयि संगिनी सुनसान की!

१९३९ ई०]

शेष गान

संगिनि, जी भर गा न सका मैं।

(१)

गायन एक व्याज इस मन का,
मूल ध्येय दर्शन जीवन का,
रँगता रहा गुलाब, पटी पर अपना चित्र उठा न सका मैं।

(२)

इन गीतों में रश्मि अरुण है,
बाल ऊर्म्मि, दिनमान तरुण है,
बँधे अमित अपरूप रूप, गीतों में स्वयं समा न सका मैं।

(३)

बँधे सिमट कुछ भाव प्रणय के,
कुछ भय, कुछ विश्वास हृदय के,
पर, इन से जो परे तत्व वर्णों में उसे बिठा न सका मैं।

(४)

घूम चुकी कल्पना गगन में,
विजन विपिन, नन्दन-कानन में,
अग-जग घूम थका, लेकिन, अपने घर अब तक आ न सका मैं।

(५)

गाता गीत विजय-मद-माता,
मैं अपने तक पहुँच न पाता,
स्मृति-पूजन में कभी देवता को दो फूल चढ़ा न सका मैं।

(६)

परिधि-परिधि में घूम रहा हूँ,
गन्ध-मात्र से झूम रहा हूँ,
जो अपीत रस-पात्र अचुम्बित, उस पर अधर लगा न सका मैं।

(७)

सम्मुख एक ज्योति झिलमिल है,
हँसता एक कुसुम खिलखिल है,
देख-देख मैं चित्र बनाता, फिर भी चित्र बना न सका मैं।

(८)

पट पर पट मैं खींच हटाता,
फिर भी कुछ अदृश्य रह जाता,
यह मायामय भेद कौन? मन को अबतक समझा न सका मैं।

(९)

पल-पल दूर देश है कोई,
अन्तिम गान शेष है कोई,
छाया देख रहा जिसकी, काया का परिचय पा न सका मैं।

(१०)

उड़े जा रहे पंख पसारे,
गीत व्योम के कूल-किनारे,
उस अगीत की ओर जिसे प्राणों से कभी लगा न सका मैं।

(११)

जिस दिन वह स्वर में आयेगा,
शेष न फिर कुछ रह जायेगा,
कह कर उसे कहूँगा वह जो अबतक कभी सुना न सका मैं।

१९३९ ई०]

द्वन्द्व-गीत

(१)

तारे लेकर जलन, मेघ आँसू का पारावार लिये,
संध्या लिये विषाद, पुजारिन उषा विफल उपहार लिये,
हँसे कौन? तुझको तजकर जो चला, वही हैरान चला;
रोती चली बयार, हृदय में मैं भी हाहाकार लिये।

(२)

देखें तुझे किधर से आकर? नहीं पन्थ का ज्ञान हमें।
बजती कहीं बाँसुरी तेरी, बस, इतना ही भान हमें।
शिखरों से ऊपर उठने देती न हाय, लघुता अपनी;
मिट्टी पर झुकने देता है देव, नहीं अभिमान हमें।

(३)

एक चाह है, जान सकूँ, यह छिपा हुआ दिल में क्या है।
सुनकर भी न समझ पाया इस आखर अनमिल में क्या है।
ऊँचे-टीले पन्थ सामने, अब तक तो विश्राम नहीं,
यही सोच बढ़ता जाता हूँ, देखूँ, मंजिल में क्या है।

(४)

चलने दे रेती खराद की, रुके नहीं यह क्रम तेरा।
अभी फूल मोती पर गढ़ दे, अभी वृत्त का दे घेरा।
जीवन का यह दर्द मधुर है, तू न व्यर्थ उपचार करे।
किसी तरह ऊषा तक टिमटिम जलने दे दीपक मेरा।

(५)

क्या पूछूँ खद्योत, कौन सुख चमक-चमक छिप जाने में?
सोच रहा कैसी उमंग है जलते-से परवाने में।
हाँ, स्वाधीन सुखी हैं, लेकिन, ओ व्याधा के कीर, बता,
कैसा है आनन्द जाल में तड़प-तड़प रह जाने में?

(६)

छूकर परिधि-बन्ध फिर आते विफल खोज आह्वान तुम्हें।
सुरभि-सुमन के बीच देव, कैसे भाता व्यवधान तुम्हें?
छिपकर किसी पर्ण-झुरमुट में कभी-कभी कुछ बोलो तो;
कब से रहे पुकार सत्य के पथ पर आकुल गान तुम्हें!

(७)

चलना पड़ा बहुत, देखा था जबतक यह संसार नहीं,
इस घाटी में भी रुक पाया मेरा यह व्यापार नहीं।
कूदूँगा निर्वाण-जलधि में कभी पार कर इस जग को,
जब तक शेष पन्थ, तब तक विश्राम नहीं, उद्धार नहीं।

(८)

दिये नयन में अश्रु, हृदय में भला किया जो प्यार दिया,
मुझमें मुझे मग्न करने को स्वप्नों का संसार दिया।
सब-कुछ दिया मूक प्राणों की वंशी में वाणी देकर,
पर क्यों हाय, तृषा दी, उर में भीषण हाहाकार दिया?

(९)

विभा, विभा, ओ विभा हमें दे, किरण! सूर्य! दे उजियाली।
आह! युगों से घेर रही मानव-शिशु को रजनी काली।
प्रभो! रिक्त यदि कोष विभा का तो फिर इतना ही कर दे;
दे जगती को फूँक, तनिक झिलमिला उठे यह अँधियाली।

(१०)

तू, वह, सब एकाकी आये, मैं भी चला अकेला था;
कहते जिसे विश्व, वह तो इन असहायों का मेला था।
पर, कैसा बाजार? विदा-दिन हम क्यों इतना लाद चले?
सच कहता हूँ, जब आया तब पास न एक अधेला था।

(११)

मैं रोता था हाय, विश्व हिमकण की करुण कहानी है।
सुन्दरता जलती मरघट में, मिटती यहाँ जवानी है।
पर, बोला कोई कि जरा मोती की ओर निहारो तो।
दो दिन ही हो सही, किन्तु, देखो कैसा यह पानी है!

(१२)

रूप, रूप, हाँ रूप, सुना था, जगती है मधु की प्याली।
यहाँ सुधा मिलती अधरों में, आँखों में मद की लाली।
उतराता ही नित रहता यौवन रसधार-तरंगों में,
बरसाती मधुकण जीवन में यहाँ सुन्दरी मतवाली।

(१३)

सो, देखा चाँदनी एक दिन राज अमा पर छोड़ गयी।
खिजाँ रोकता रहा लाख, कोयल वन से मुँह मोड़ गयी।
और आज क्यारी क्यों सूनी? अरे, बता, किसने देखा?
गलबाँही डाले सुन्दरता काल-संग किस ओर गयी?

(१४)

कलिके, मैं चाहता तुम्हें उतना जितना यह भ्रमर नहीं,
अरी, तटी की दूब, मधुर तू उतनी जितना अधर नहीं;
किसलय, तू भी मधुर, चन्द्रवदनी निशि, तू मादक रानी।
दुख है, इस आनन्द-कुंज में मैं ही केवल अमर नहीं।

(१५)

दूब-भरी इस शैल-तटी में उषा विहँसती आयेगी,
युग-युग कली हँसेगी, युग-युग कोयल गीत सुनायेगी,
घुल-मिल चन्द्र-किरण में बरसेगी भू पर आनन्द-सुधा,
केवल मैं न रहूँगा, यह मधु-धार उमड़ती जायेगी।

(१६)

बिछुड़े मित्र, छला मैत्री ने, जग ने अगणित शाप दिये;
अश्रु पोंछ तू दूब-फूल से मन बहलाती रही प्रिये!
भूलूँगा न प्रिया की चितवन, मैत्री की शीतल छाया,
जाऊँगा जगती से, लेकिन, तेरी भी तस्वीर लिये।

(१७)

यह फूलों का देश मनोरम कितना सुन्दर है रानी!
इससे मधुर स्वर्ग? परियाँ तुझ-सी क्या सुन्दर कल्याणी?
अरे, मरूँगा कल तो फिर क्यों आज नहीं रसधार बहे?
फूल-फूल पर फिरे न क्यों कविता तितली-सी दीवानी?

(१८)

पाटल-सा मुख, सरल, श्याम दृग जिनमें कुछ अभिमान नहीं,
सरल मधुर वाणी जिससे मादक कवियों के गान नहीं;
रेशम के तारों से चिकने बाल, हृदय की क्या जानूँ?
आँखें मुग्ध देखतीं, रहता पाप-पुण्य का ध्यान नहीं।

(१९)

बार-बार द्वादशी-चन्द्र की किरणों में तू मुसकायी,
बार-बार वनफूलों में तू रूप-लहर बन लहरायी।
हिमकण से भींगे गुलाब तू चुनती थी उस दिन वन में,
बार-बार उसकी पुलक-स्मृति उमड़-उमड़ दृग में छायी।

(२०)

ये नवनीत-कपोल, गुलाबों की जिनमें लाली खोयी;
ये नलिनी-से नयन, जहाँ काजल बन लघु अलिनी सोयी;
कोंपल से अधरों को रँग कर कब बसन्त-कर धन्य हुआ?
किस विरही ने तनु की यह धवलिमा आँसुओं में धोयी?

(२१)

युग-युग से तूलिका चित्र खींचते विफल, असहाय थकी,
उपमा रही अपूर्ण, निखिल सुषमा चरणों पर आन झुकी।
बार-बार कुछ गाकर कुछ की चिन्ता में कवि दीन हुआ;
सुन्दरि! कहाँ कला अबतक भी तुझे छन्द में बाँध सकी?

(२२)

उतरी दिव्य-लोक से भू पर तू बन देवि! सुधा-सलिला,
प्रथम किरण जिस दिन फूटी थी, उस दिन पहला स्वप्न खिला।
फूटा कवि का कण्ठ, प्रथम मानव के उर की खिली कली,
मधुर ज्योति जगती में जागी, सत्-चित् को आनन्द मिला।

(२३)

जिस दिन बजे चरण के नूपुर, मुखर हृदय की पीर हुई,
चौंक उठे ये प्राण, शिराएँ तन की विकल अधीर हुईं।
तूने बन्दी किया हृदय में, देवि, मुझे तो स्वर्ग मिला,
आलिङ्गन में बँधा और ढीली जग की जंजीर हुई।

(२४)

तू मानस की मधुर कल्पना, वाणी की झंकार सखी!
गानों का अन्तर्गायन तू प्राणों की गुंजार सखी!
मैं अजेय सोचा करता हूँ, क्यों पौरुष बलहीन यहाँ?
सब कुछ होकर भी आखिर हूँ चरणों का उपहार सखी!

(२५)

खोज रही तितली-सी वन-वन तुम्हें कल्पना दीवानी;
रँगती चित्र बैठ निर्जन में रूपसि! कविता कल्याणी।
मैं निर्धन ऊँघती कली-से स्वप्न बिछा निर्जन पथ पर
बाट जोहता हूँ, कुटीर में आओ अलका की रानी!

(२६)

आह, चाहता मैं क्यों जाये जग से कभी बसन्त नहीं?
आशा-भरे स्वर्ण-जीवन का किसी रोज हो अन्त नहीं?
था न कभी, तो फिर क्या चिन्ता, आगे कभी नहीं हूँगा?
यदि पहले था, तो क्या हूँगा अब से अरे, अनन्त नहीं?

(२७)

भू की झिलमिल रजत-सरित ही घटा गगन की काली है;
मेंहदी के उर की लाली ही पत्तों में हरियाली है;
जुगनू की लघु विभा दिवा में कलियों की मुसकान हुई;
उडु को ज्योति उसी ने दी, जिसने निशि को अँधियाली है।

(२८)

जीवन ही कल मृत्यु बनेगा, और मृत्यु ही नव-जीवन,
जीवन-मृत्यु-बीच तब क्यों द्वन्द्वों का यह उत्थान-पतन?
ज्योति-विन्दु चिर नित्य अरे, तो धूल बनूँ या फूल वनूँ,
जीवन दे मुसकान जिसे, क्यों उसे कहो दे अश्रु मरण?

(२९)

जाग प्रिये! यह अमा स्वयं बालारुण-मुकुट लिये आयी,
जल, थल, गगन, पवन, तृण, तरुपर अभिनव एक विभा छायी;
मधुपों ने कलियों को पाया, किरणें लिपट पड़ीं जल से,
ईर्ष्यावती निशा अब बीती, चकवा ने चकवी पायी।

(३०)

दो अधरों के बीच खड़ी थी भय की एक तिमिर-रेखा,
आज ओस के दिव्य कणों में धुल उसको मिटते देखा।
जाग, प्रिये! निशि गई, चूमती पलक उतरकर प्रात-विभा,
जाग, लिखें चुम्बन से हम जीवन का प्रथम मधुर लेखा।

(३१)

अधर-सुधा से सींच, लता में कटुता कभी न आयेगी,
हँसनेवाली कली एक दिन हँसकर ही झर जायेगी।
जाग रहे चुम्बन में तो क्यों नींद न स्वप्न मधुर होगी?
मादकता जीवन की पीकर मृत्यु मधुर बन जायेगी।

(३२)

और नहीं तो क्यों गुलाब की गमक रही सूखी डाली?
सुरा बिना पीते मस्ताने धो-धो क्यों टूटी प्याली?
उगा अरुण प्राची में तो क्यों दिशा प्रतीची जाग उठी?
चूमा इस कपोल पर, उसपर कैसे दौड़ गयी लाली?

(३३)

रति-अनङ्ग-शासित धरणी यह, ठहर पथिक, मधु रस पी ले;
इन फूलों की छाँह जुड़ा ले, कर ले शुष्क अधर गीले;
आज सुमन-मण्डप में सोकर परदेसी! निज श्रान्ति मिटा;
चरण थके होंगे, तेरे पथ बड़े अगम, ऊँचे-टीले।

(३४)

कुसुम-कुसुम में प्रखर वेदना, नयन-अधर में शाप यहाँ,
चन्दन में कामना-वह्नि, विधु में चुम्बन का ताप यहाँ।
उर-उर में बंकिम धनु, दृग-दृग में फूलों के कुटिल विशिख;
यह पीड़ा मधुमयी, मनुज बिंधता आ अपने-आप यहाँ।

(३५)

यहाँ लता मिलती तरु से, मधु कलियाँ हमें पिलाती हैं,
पीती ही रहतीं यौवन-रस, आँखें नहीं अघाती हैं।
कर्मभूमि के थके श्रमिक को इस निकुंज की मधुबाला
एक घूँट में श्रान्ति मिटाकर बेसुध, मत्त बनाती है।

(३६)

यात्री हूँ अति दूर देश का, पल-भर यहाँ ठहर जाऊँ,
थका हुआ हूँ, सुन्दरता के साथ बैठ मन बहलाऊँ;
'एक घूँट बस और' हाय रे, ममता छोड़ चलूँ कैसे?
दूर देश जाना है, लेकिन, यह सुख रोज कहाँ पाऊँ?

(३७)

'दूर-देश'—हाँ ठीक, याद है, यह तो मेरा देश नहीं;
इससे होकर चलो, यहीं तक रुकने का आदेश नहीं।
बजा शंख, कारवाँ चला, साकी, दे विदा, चलूँ मैं भी,
कभी-कभी हम गिन पाते हैं प्रिये! मीन या मेष नहीं।

(३८)

सचमुच, मधुफल लिये मरण का जीवन-लता फलेगी क्या?
आग करेगी दया? चिता में काया नहीं जलेगी क्या?
कहती है कल्पना, मधुर जीवन को क्यों कटु अन्त मिले?
पर, जैसे छलती वह सबको वैसे मुझे छलेगी क्या?

(३९)

मधुबाले! तेरे अधरों से मुझको रंच विराग नहीं,
यह न समझना देवि! कुटिल तीरों के दिल पर दाग नहीं;
जी करता है हृदय लगाऊँ, पल-पल चूमूँ, प्यार करूँ,
किन्तु, आह! यदि हमें जलाती क्रूर चिता की आग नहीं।

(४०)

दो नीड़ों को छिपा रहीं मदमाती आँखें लाल सखी!
अस्थि-तन्तु पर ही तो हैं ये खिले कुसुम-से गाल सखी!
और कुचों के कमल? झरेंगे ये तो जीवन से पहले,
कुछ थोड़ा-सा मांस प्राण का छिपा रहा कंकाल सखी!

(४१)

बचे गहन से चाँद, छिपाऊँ किधर? सोच चल होता हूँ,
मौत साँस गिनती तब भी जब हृदय लगाकर सोता हूँ।
दया न होगी हाय, प्रलय को इस सुन्दर मुखड़े पर भी,
जिसे चूम हँसती है दुनिया, उसे देख मैं रोता हूँ।

(४२)

जाग, देख फिर आज बिहँसती कल की वही उषा आयी,
कलियाँ फिर खिल उठीं, सरितपर परिचित वही विभा छायी;
रंजित मेघों से मेदुर नभ उसी भाँति फिर आज हँसा,
भू पर, मानों, पड़ी आज तक कभी न दुख की परछाईं।

(४३)

रँगने चलीं ओस-मुख किरणें खोल क्षितिज का वातायन,
जानें, कहाँ चले उड़-उड़कर फूलों की ले गन्ध पवन;
हँसने लगे फूल, किस्मत पर रोने का अवकाश कहाँ?
बीते युग, पर, भूल न पायी सरल प्रकृति अपना बचपन।

(४४)

मैं भी हँसूँ फूल-सा खिल कर? शिशु अबोध हो लूँ कैसे?
पीकर इतनी व्यथा, कहो, तुतली वाणी बोलूँ कैसे?
जी करता है, मत्त वायु बन फिरूँ, कुंज में नृत्य करूँ,
पर, हूँ विवश हाय, पंकज का हिमकण हूँ, डोलूँ कैसे?

(४५)

शान्त पाप! जग के मंगल में रो मेरे कवि! और नहीं,
सुधा-सिक्त पल ये, आँसू का समय नहीं, यह ठौर नहीं;
अन्तर्जलन रहे अन्तर में, आज बसन्त-उछाह यहाँ;
आँसू देख कहीं मुरझें बौरे आमों के मौर नहीं।

(४६)

औ' रोना भी व्यर्थ, मृदुल जब हुआ व्यथा का भार नहीं,
आँसू पा बढ़ता जाता है, घटता पारावार नहीं;
जो कुछ मिले भोग लेना है, फूल हों कि हों शूल सखे!
पश्चात्ताप यही कि नियति पर हमें स्वल्प अधिकार नहीं।

(४७)

कौन बड़ाई, चढ़े शृंग पर अपना एक बोझ लेकर!
कौन बड़ाई, पार गये यदि अपनी एक तरी खेकर?
अबुध-विज्ञ की माँ यह धरती उसको तिलक लगाती है,
खुद भी चढ़े, साथ ले झुककर गिरतों को बाँहें देकर।

(४८)

पत्थर ही पिघला न, कहो करुणा की रही कहानी क्या?
टुकड़े दिल के हुए नहीं, तब बहा दृगों से पानी क्या?
मस्ती क्या जिसको पाकर फिर दुनिया की भी याद रही?
डरने लगी मरण से तो फिर चढ़ती हुई जवानी क्या?

(४९)

नूर एक वह रहे तूर पर, या काशी के द्वारों में;
ज्योति एक वह खिले चिता में, या छिप रहे मजारों में।
बहतीं नहीं उमड़ कूलों से, नदियों को कमजोर कहो;
ऐसे हम, दिल भी कैदी है ईंटों की दीवारों में।

(५०)

किरणों के दिल चीर देख, सबमें दिनमणि की लाली रे!
चाहे जितने फूल खिलें पर, एक सभी का माली रे!
साँझ हुई, छा गयी अचानक पूरब में भी अँधियाली,
आती उषा, फैल जाती पश्चिम में भी उजियाली रे!

(५१)

ठोकर मार फोड़ दे उसको जिस बरतन में छेद रहे,
वह लंका जल जाय जहाँ भाई-भाई में भेद रहे।
गजनी तोड़े सोमनाथ को, काबे को दें फूंक शिवा,
जले कुराँ अरबी रेतों में, सागर जा फिर वेद रहे।

(५२)

रह-रह कूक रही मतवाली कोयल कुंज-भवन में है,
श्रवण लगा सुन रहीं दिशाएँ, स्थिर शशि मध्य गगन में है।
किसी महा-सुख में तन्मय मंजरी आम्र की झुकी हुई,
अभी पूछ मत प्रिये, छिपी-सी मृत्यु कहाँ जीवन में है?

(५३)

तू बैठी ही रही हृदय में चिन्ताओं का भार लिये,
जीवन-पूर्व मरण-पर भेदों के शत जटिल विचार लिये;
शीर्ण वसन तज इधर प्रकृति ने नूतन पट परिधान किया,
आ पहुँचा लो अतिथि द्वार पर नूपुर की झंकार किये।

(५४)

वृथा यत्न, पीछे क्या छूटा, इस रहस्य को जान सकें;
वृथा यत्न, जिस ओर चले हम उसे अभी पहचान सकें।
होगा कोई क्षण उसका भी, अभी मोद से काम हमें;
जीवन में क्या स्वाद, अगर खुलकर हम दो पल गा न सकें?

(५५)

तुम्हें मरण का सोच निरन्तर, तो पीयूष पिया किसने?
तुम असीम से चकित, इसे सीमा में बाँध लिया किसने?
सब आये हँस, बोल, सोच, कह, सुन मिट्टी में लीन हुए;
इस अनन्त विस्मय का सुन्दरि! उत्तर कहो दिया किसने?

(५६)

छोड़े पोथी-पत्र, मिला जब अनुभव में आह्लाद मुझे,
फूलों की पत्ती पर अंकित एक दिव्य संवाद मुझे;
दहन धर्म मानव का पाया, अतः, दुःख भयहीन हुआ;
अब तो दह्यमान जीवन में भी मिलता कुछ स्वाद मुझे।

(५७)

एक-एक कर सभी शिखाओं को मैं गले लगाऊँगा,
भोगूंगा यातना कठिन, दुर्वह सुख-भार उठाऊँगा;
रह न जाय अज्ञेय यहाँ कुछ, आया तो इतना कर लूं;
बढ़ने दो, जीवन के अति से अधिक निकट मैं जाऊँगा।

(५८)

मधु-पूरित मंजरी आम्र की देखो, नहीं सिहरती है;
चू न जाय रस-कोष कहीं, इससे मन-ही-मन डरती है!
पर, किशोर कोंपलें विटप की निज को नहीं संभाल सकी,
पा ऋतुपति का ताप द्रवित उर का रस अर्पण करती है।

(५९)

प्राणों में उन्माद वर्ष का, गीतों में मधुकण भर लें;
जड़-चेतन बिंध रहे, हृदय पर हम भी केशर के शर लें।
यह विद्रोही पर्व प्रकृति का फिर न लौटकर आयेगा;
सखि! बसन्त को खींच हृदय में आओ आलिंगन कर लें।

(६०)

पहली सीख यही जीवन की, अपने को आबाद करो,
बस न सके दिल की बस्ती, तो आग लगा बरबाद करो।
खिल पायें, तो कुसुम खिलाओ, नहीं? करो पतझार इसे,
या तो बाँधो हृदय फूल से, याकि इसे आजाद करो।

(६१)

मैं न जानता था अबतक, यौवन का गरम लहू क्या है;
मैं पीता क्या निर्निमेष? दृग में भर लाती तू क्या है?
तेरी याद, ध्यान में तेरे विरह-निशा कटती सुख से,
हँसी-हँसी में किन्तु, हाय, दृग से पड़ता यह चू क्या है?

(६२)

उमड़ चली यमुना प्राणों की, हेम-कुम्भ भर जाओ तो;
भूले भी आ कभी तीर पर नूपुर सजनि! बजाओ तो।
तनिक ठहर तट से झुक देखो, मुझ में किसका बिम्ब पड़ा?
नील वारि को अरुण करो, चरणों का राग बहाओ तो।

(६३)

दौड़-दौड़ तट से टकरातीं लहरें लघु रो-रो सजनी!
इन्हें देख लेने दो जी भर, मुख न अभी मोड़ो सजनी!
आज प्रथम संध्या सावन की, इतनी भी तो करो दया,
कागज की नौका में धीरे एक दीप छोड़ो सजनी!

(६४)

प्रकृति अचेतन दिव्य रूप का स्वागत उचित सजा न सकी,
ऊषा का पट अरुण छीन तेरे पथ बीच बिछा न सकी।
रज न सकी बन कनक-रेणु, कंटक को कोमलता न मिली,
पग-पग पर तेरे आगे वसुधा मृदु कुसुम खिला न सकी।

(६५)

अब न देख पाता कुछ भी यह भक्त विकल, आतुर तेरा,
आठों पहर झूलता रहता दृग में श्याम चिकुर तेरा।
अर्थ ढूँढ़ते जो पद में, मैं क्या उनको निर्देश करूँ?
चरण-चरण में एक नाद, बजता केवल नूपुर तेरा।

(६६)

पूजा का यह कनक-दीप खँडहर में आन जलाया क्यों?
रेगिस्तान हृदय था मेरा, पाटल-कुसुम खिलाया क्यों?
मैं अन्तिम सुख खोज रहा था तप्त बालुका में गिरकर।
बुला रहा था सर्वनाश को, यह पीयूष पिलाया क्यों?

(६७)

तुझे ज्ञात जिसके हित इतना मचा रही कल-रोर सखी!
खड़ा पान्थ वह उस पथ पर जाता जो मरघट ओर सखी!
यह विस्मय! जंजीर तोड़ कल था जिसने वैराग्य लिया,
आज उसी के लिए हुआ फूलों का पाश कठोर सखी!

(६८)

बोल, दाह की कोयल मेरी, बोल दहकती डारों पर,
अर्द्ध-दग्ध तरु की फुनगी पर, निर्जल-सरित-कगारों पर।
अमृत-मन्त्र का पाठ कभी मायाविनि! मृषा नहीं होता,
उगी जा रहीं नयी कोंपलें तेरी मधुर पुकारों पर।

(६९)

दृग में सरल ज्योति पावन, वाणी में अमृत-सरस क्या है?
ताप-विमोचन कुछ अमोघ गुणमय यह मधुर परस क्या है?
धूलि-रचित प्रतिमे! तुम भी तो मर्त्यलोक की एक कली,
ढूंढ़ रहा फिर यहाँ विरम मेरा मन चकित, विवश क्या है?

(७०)

चिर-जाग्रत वह शिखा, जला तू गयी जिसे मंगल-क्षण में;
नहीं भूलती कभी, कौंध जो विद्युत समा गयी घन में।
बल समेट यदि कभी देवता के चरणों में ध्यान लगा;
चिकुर-जाल से घिरा चन्द्रमुख सहसा घूम गया मन में।

(७१)

अमित बार देखी है मैंने चरम-रूप की वह रेखा,
सच है, बार-बार देखा विधि का वह अनुपमेय लेखा।
जी-भर देख न सका कभी, फिर इन्द्रजाल दिखलाओ तो,
बहुत बार देखा, पर लगता, स्यात्, एक दिन ही देखा।

(७२)

हेर थका तू भेद, गगन पर क्यों उडु-राशि चमकती है?
देख रहा मैं खड़ा, मग्न आँखों की तृषा न छकती है।
मैं प्रेमी, तू ज्ञान-विशारद, मुझमें, तुझमें भेद यही,
हृदय देखता उसे, तर्क से बुद्धि न जिसे समझती है।

(७३)

उसे पूछ विस्मृति का सुख क्या, लगा घाव गम्भीर जिसे,
जग से दूर हटा ले बैठी उर की प्यारी पीर जिसे।
जागरूक ज्ञानी बनकर जो भेद नहीं तू जान सका,
पूछ, बतायेगा, फूलों की बाँध चुकी जंजीर जिसे।

(७४)

चाहे जो भी फसल उगा ले, तू जलधार बहाता चल।
जिसका भी घर चमक उठे, तू मुक्त प्रकाश लुटाता चल।
रोक नहीं अपने अन्तर का वेग किसी आशंका से,
मन में उठें भाव जो, उनको गीत बना कर गाता चल।

(७५)

तुझे फिक्र क्या, खेती को प्रस्तुत है कौन किसान नहीं?
जोत चुका है कौन खेत? किसको मौसिम का ध्यान नही?
कौन समेटेगा, किसके खेतों से जल बह जायेगा?
इस चिन्ता में पड़ा अगर तो बाकी फिर ईमान नहीं।

(७६)

त जीवन का कंठ, भंग इसका कोई उत्साह न कर,
रोक नहीं आवेग प्राण के, सँभल-सँभल कर आह न कर।
उठने दे हुंकार हृदय से, जैसे वह उठना चाहे;
किसका, कहाँ हृदय फटता है, तू इसकी परवाह न कर।

(७७)

हम पर्वत पर की पुकार हैं, वे घाटी के वासी हैं;
वन में भी वे गृही और हम गृह में भी संन्यासी हैं।
वे लेते कर बन्द खिड़कियाँ डर कर तेज हवाओं से;
झंझाओं में पंख खोल उड़ने के हम अभ्यासी हैं।

(७८)

जब-तब मैं सोचता कि क्यों छन्दों के जाल बिछाता हूँ,
सुनता भी कोई कि शून्य में मैं झंझा-सा गाता हूँ।
आयेगा वह कभी पियासे गीतों को शीतल करने,
जीवन के सपने बिखेर कर जिसका पन्थ सजाता हूँ?

(७९)

रोक हृदय में उसे, अतल से मेघ उठा जो आता है।
घिरती है जो सुधा, बोल कर तू क्यों उसे गँवाता है?
कलम उठा मत दौड़ प्राण के कंपन पर प्रत्येक घड़ी,
नहीं जानता, गीत लेख बनते-बनते मिट जाता है?

(८०)

छिप कर मन में बैठ और सुन तो नीरव झंकारों को।
अन्तर्नभ पर देख, ज्योति में छिटके हुए सितारों को।
बड़े भाग्य से ये खिलते हैं कभी चेतना के वन में।
यों बिखेरता मत चल सड़कों पर अनमोल विचारों को।

(८१)

तू जो कहना चाह रहा, वह भेद कौन जन जानेगा?
कौन तुझे तेरी आँखों से बन्धु! यहाँ पहचानेगा?
जैसा तू, वैसे ही तो ये सभी दिखायी पड़ते हैं;
तू इन सबसे भिन्न ज्योति है, कौन बात यह मानेगा?

(८२)

जादू की ओढ़नी ओढ़ जो परी प्राण में जागी है;
उसकी सुन्दरता के आगे क्या यह कीर्त्ति अभागी है?
पचा सकेगा नहीं स्वाद क्या इस रहस्य का भी मन में?
तब तो तू, सत्य ही, अभी तक भी अपूर्ण अनुरागी है।

(८३)

बहुत चला तू केन्द्र छोड़ कर दूर स्वयं से जाने को;
अब तो कुछ दिन पन्थ मोड़ पन्थी! अपने को पाने को।
जला आग कोई जिससे तू स्वयं ज्योति साकार बने,
दर्द बसाना भी यह क्या गीतों का ताप बढ़ाने को!

(८४)

कौन वीर है, एक बार व्रत लेकर कभी न डोलेगा?
कौन संयमी है, रस पीकर स्वाद नहीं फिर बोलेगा?
यों तो फूल सभी पाते हैं, पायेगा फल, किन्तु, वही,
मन में जन्मे हुए वृक्ष का भेद नहीं जो खोलेगा।

(८५)

हर साँझ एक वेदना नयी, हर भोर सवाल नया देखा;
दो घड़ी नहीं आराम कहीं, मैंने घर-घर जा-जा देखा।
जो दवा मिली पीड़ाओं की, उसमें भी कोई पीर नयी;
मत पूछ कि तेरी महफिल में मालिक मैं ने क्या-क्या देखा।

(८६)

जिनमें बाकी ईमान अभी, वे भटक रहे वीरानों में,
दे रहे सत्य की जाँच आखिरी दमतक रेगिस्तानों में।
ज्ञानी वह जो हर कदम धरे बचकर तप की चिनगारी से,
जिनको मस्तक का मोह नहीं, उनकी गिनती नादानों में।

(८७)

मैंने देखा आबाद उन्हें जो साथ विश्व के जलते थे,
मंजिलें मिलीं उन वीरों को जो अंगारों पर चलते थे।
सच मान, प्रेम की दुनिया में थी मौत नहीं, विश्राम नहीं,
सूरज जो डूबे इधर कभी, तो जाकर उधर निकलते थे।

(८८)

तुम भीख माँगने जब आये, धरती की छाती डोल उठी,
क्या लेकर आऊँ पास? निःस्व अभिलाषा कर कल्लोल उठी।
कूदूँ ज्वाला के अंक-बीच, बलिदान पूर्ण कर लूँ जबतक,
"मत रँगो रक्त से मुझे", बिहँस तस्वीर तुम्हारी बोल उठी।

(८९)

पी चुके गरल का घूँट तीव्र, हम स्वाद जन्म का जान चुके,
तुम दुःख, शोक बन-बन आये, हम बार-बार पहचान चुके।
खेलो नूतन कुछ खेल, देव! दो चोट नयी, कुछ दर्द नया,
यह व्यथा विरस निःस्वाद हुई, हम सार भाग कर पान चुके।

(९०)

खोजते स्वप्न का रूप शून्य में निरवलम्ब अविराम चलो,
बस की बस इतनी बात, पथिक! लेते अरूप का नाम चलो।
जिनको न तटी से प्यार, उन्हें अम्बर में कब आधार मिला?
यह कठिन साधना-भूमि, बन्धु! मिट्टी को किये प्रणाम चलो।

(६१)

बाँसुरी विफल, यदि कूक-कूक मरघट में जीवन ला न सकी,
सूखे तरु को पनपा न सकी, मुर्दों को छेड़ जगा न सकी।
यौवन की वह मस्ती कैसी जिसको अपना ही मोह सदा?
जो मौत देख ललचा न सकी, दुनिया में आग लगा न सकी।

(६२)

पी ले विष का भी घूँट बहक, तब मजा सुरा पीने का है,
तनकर बिजली का वार सहे, यह गर्व नये सीने का है।
सिर की कीमत का भान हुआ, तब त्याग कहाँ? बलिदान कहाँ?
गरदन इज्जत पर दिये फिरो, तब मजा यहाँ जीने का है।

(६३)

धरती से व्याकुल आह उठी, मैं दाह भूमि का सह न सका,
उर पिघल-पिघल उमड़ा लेकिन, आँसू बन-बनकर बह न सका।
है सोच मुझे दिन-रात यही, क्या प्रभु को मुख दिखलाऊँगा?
जो कुछ कहने मैं आया था, वह भेद किसी से कह न सका।

(६४)

रंगीन दलों पर जो कुछ था, तस्वीर महज़ वह फानी थी,
लाली में छिपकर झाँक रही असली दुनिया नूरानी थी।
मत पूछ, फूल की पत्ती में क्या था कि देख खामोश हुआ?
तूने समझा था मौन जिसे, मेरे विस्मय की बानी थी।

(६५)

चाँदनी बनायी, धूप रची, भूतल पर व्योम विशाल रचा,
कहते हैं, ऊपर स्वर्ग कहीं, नीचे कोई पाताल रचा।
दिल-जले देहियों को केवल लीला कहकर सन्तोष नहीं;
ओ रचनेवाले! बता, हाय! आखिर क्यों यह जंजाल रचा?

(९६)

था अनस्तित्व सकता समेट निज में क्या यह विस्तार नहीं ?
भाया न किसे चिर - शून्य, बना जिस दिन था यह संसार नहीं ?
तू राग - मोह से दूर रहा, फिर किसने यह उत्पात किया ?
हम थे जिसमें, उस ज्योति याकि तम से था किसको प्यार नहीं ?

(९७)

सम्पुटित कोष को चीर, बीजकण को किसने निर्वास दिया,
किसको न रुचा निर्वाण ? मिटा किसने तुरीय का वास दिया ?
चिर - तृषावन्त कर दूर किया जीवन का देकर शाप हमें,
जिसका न अन्त वह पन्थ, लक्ष्य—सीमा - विहीन आकाश दिया।

(९८)

क्या सृजन - तत्त्व की बात करें, मिलता जिसका उद्देश नहीं ?
क्या चलें ? मिला जो पन्थ हमें खुलता उसका निर्देश नहीं।
किससे अपनी फरियाद करें मर - मर जी - जी चलनेवाले ?
गन्तव्य अलभ, जिससे होकर जाते वह भी निज देश नहीं।

(९९)

कितने आये जो शून्य - बीच खोजते विफल आधार चले,
जब समझ नहीं पाया जग को, कह असत् और निस्सार चले।
माया को छाया जान भुला, पर, वे कैसे निश्चिन्त चलें ?
अगले जीवन की ओर लिये सिर पर जो पिछला भार चले।

(१००)

जो सृजन असत्, तो पुण्य - पाप का श्वेत - नील बन्धन क्यों है ?
स्वप्नों के मिथ्या - तन्तु - बीच आबद्ध सत्य जीवन क्यों है ?
हम स्वयं नित्य, निर्लिप्त अरे, तो क्यों शुभ का उपदेश हमें ?
किस चिन्त्य रूप का अन्वेषण ? यह आराधन - पूजन क्यों है ?

(१०१)

यह भार जन्म का बड़ा कठिन, कब उतरेगा, कुछ ज्ञात नहीं,
धर इसे कहीं विश्राम करें, अपने बस की यह बात नहीं।
सिर चढ़ा भूत यह हाँक रहा, हम ठहर नहीं पाये अबतक,
जिस मंजिल पर की शाम, वहाँ करने को रुके प्रभात नहीं।

(१०२)

हर घड़ी प्यास, हर रोज जलन, मिट्टी में थी यह आग कहाँ ?
हमसे पहले था दुखी कौन ? था अमिट व्यथा का राग कहाँ ?
लो जन्म, खोजते मरो विफल, फिर जन्म, हाय, क्या लाचारी !
हम दौड़ रहे जिस ओर सतत, वह अव्यय अमिय - तड़ाग कहाँ ?

(१०३)

गत हुए अमित कल्पान्त, सृष्टि पर, हुई अभी आबाद नहीं,
दिन से न दाह का लोप हुआ, निशि ने छोड़ा अवसाद नहीं।
बरसी न आज तक वृष्टि जिसे पीकर मानव की प्यास बुझे
हम भलीभाँति यह जान चुके तेरी दुनिया में स्वाद नहीं।

(१०४)

हम ज्यों - ज्यों आगे बढ़े, दृष्टि - पथ से छिपता आलोक गया,
सीखा ज्यों - ज्यों नव ज्ञान, हमें मिलता त्यों - त्यों नव शोक गया।
हाँ, जिसे प्रेम हम कहते हैं, उसका भी मोल पड़ा देना,
जब मिली संगिनी, अदन गया, कर से विरागमय लोक गया।

(१०५)

भू पर उतरे जिस रोज, धरी पहिले से ही जंजीर मिली,
परिचय न द्वन्द्व से था, लेकिन, धरती पर संचित पीर मिली।
जब हार दुखों से भाग चले, तबतक सत्पथ का लोप हुआ,
जिसपर भूले सौ लोग गये, सम्मुख वह भ्रान्त लकीर मिली।

(१०६)

नव - नव दुख की ज्वाला कराल, जलता अबोध संसार रहे,
हर घड़ी सृष्टि के बीच गूँजता भीषण हाहाकार रहे।
कर नमन तुझे किस आशा में हम दुःख - शोक चुपचाप सहें ?
मालिक कहने को तुझे हाय, क्यों दुखी जीव लाचार रहे ?

(१०७)

भेजा किसने ? क्यों ? कहाँ ? भेद अबतक न क्षुद्र यह जान सका।
युग - युग का मैं यह पथिक श्रान्त अपने को अबतक पा न सका।
यह अगम सिन्धु की राह, और दिन ढला, हाय ! फिर शाम हुई;
किस कूल लगाऊँ नाव ? घाट अपना न अभी पहचान सका।

(१०८)

हम फूल - फूल में झाँक थके, तुम उड़ते फिरे बयारों में,
हमने पलकें कीं बन्द, छिटक तुम हँसने लगे सितारों में।
रोकर खोली जब आँख, तुम्हीं - सा आँसू में कुछ दीख पड़ा,
उँगली छूने को बढ़ी, तभी तुम छिपे ढुलक नीहारों में।

(१०९)

तिल-तिलकर हम जल चुके, विरह की तीव्र आँच कुछ मंद करो,
सहने की अब सामर्थ्य नहीं, लीला - प्रसार यह बन्द करो।
चित्रित भ्रम - जाल समेट धरो, हम खेल खेलते हार चुके,
निर्वापित करो प्रदीप, शून्य में एक तुम्हीं आनन्द करो।

खिलेंगे किस दिन मेरे फूल ?

अचेतन मृत्ति, अचेतन शिला।

(१)

रुक्ष दोनों के बाह्य स्वरूप,
दृश्य पट दोनों के श्रीहीन;
देखते एक तुम्हीं वह रूप
जो कि दोनों में व्याप्त, विलीन,
ब्रह्म में जीव, वारि में बूंद,
जलद में जैसे अगणित चित्र।

(२)

ग्रहण करती निज सत्य-स्वरूप
तुम्हारे स्पर्श मात्र से धूल,
कभी बन जाती घट साकार,
कभी रंजित, सुवासमय फूल।
और यह शिला-खण्ड निर्जीव,
शाप से पाता-सा उद्धार,
शिल्पि, हो जाता पाकर स्पर्श
एक पल में प्रतिमा साकार।
तुम्हारी साँसों का यह खेल,
जलद में बनते अगणित चित्र।

(३)

मृत्ति, प्रस्तर, मेघों का पुंज
लिये मैं देख रहा हूँ राह,

कि शिल्पी आयेगा किस रोज
पूर्ण करने को मेरी चाह ?
खिलेंगे किस दिन मेरे फूल ?
प्रकट होगी कब मूर्त्ति पवित्र ?
और मेरे नभ में किस रोज
जलद विहरेंगे बनकर चित्र ?
शिल्पि, जो मुझ में व्याप्त, विलीन,
किरण वह कब होगी साकार ?

१९४५ ई०]
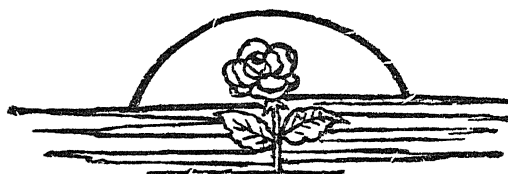
निमंत्रण

तिमिर में स्वर के बाले दीप आज फिर आता है कोई।

'हवा में कब तक ठहरी हुई
रहेगी जलती हुई मशाल?
थकी तेरी मुट्ठी यदि वीर,
सकेगा इसको कौन सँभाल?'

अनल-गिरि पर से मुझे पुकार राग यह गाता है कोई।

हलाहल का दुर्जय विस्फोट,
भरा अंगारों से तूफान,
दहकता-जलता हुआ खगोल,
कड़कता हुआ दीप्त अभिमान।

निकट ही कहीं प्रलय का स्वप्न मुझे दिखलाता है कोई।

सुलगती नहीं यज्ञ की आग,
दिशा धूमिल, यजमान अधीर;
पुरोधा-कवि कोई है यहाँ?
देश को दे ज्वाला के तीर।

धुओं में किसी वह्नि का आज निमंत्रण लाता है कोई।

१९४४ ई०]

आशा का दीपक

वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल, दूर नहीं है;
थककर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।

(१)

चिनगारी बन गयी लहू की बूँद गिरी जो पग से;
चमक रहे, पीछे मुड़ देखो, चरण-चिह्न जगमग-से।
शुरू हुई आराध्य-भूमि यह, क्लान्ति नहीं रे राही;
और नहीं तो पाँव लगे हैं क्यों पड़ने डगमग-से?
बाकी होश तभी तक, जब तक जलता तूर नहीं है;
थककर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।

(२)

अपनी हड्डी की मशाल से हृदय चीरते तम का,
सारी रात चले तुम दुख झेलते कुलिश निर्मम का।
एक खेय है शेष, किसी विध पार उसे कर जाओ;
वह देखो, उस पार चमकता है मन्दिर प्रियतम का।
आकर इतना पास फिरे, वह सच्चा शूर नहीं है;
थककर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।

(३)

दिशा दीप्त हो उठी प्राप्त कर पुण्य-प्रकाश तुम्हारा,
लिखा जा चुका अनल-अक्षरों में इतिहास तुम्हारा।
जिस मिट्टी ने लहू पिया, वह फूल खिलायेगी ही,
अम्बर पर घन बन छायेगा ही उच्छ्वास तुम्हारा।
और अधिक ले जाँच, देवता इतना क्रूर नहीं है;
थककर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।

१९४३ ई०]

अन्तिम मनुष्य

सारी दुनिया उजड़ चुकी है, गुजर चुका है मेला;
ऊपर है बीमार सूर्य, नीचे मैं मनुज अकेला।
बाल-उमंगों से देखा था मनु ने जिसे उभरते,
आज देखना मुझे बदा था उसी सृष्टि को मरते।

वृद्ध सूर्य की आँखों पर माँड़ी-सी चढ़ी हुई है,
दम तोड़ती हुई बुढ़िया-सी दुनिया पड़ी हुई है।
कहीं नहीं गढ़, ग्राम, बगीचों का है शेष नमूना,
चारों ओर महा मरघट है, सब है सूना-सूना।

कौमों के कंकाल झुण्ड के झुण्ड, अनेक पड़े हैं;
ठौर-ठौर पर जीव-जन्तु के अस्थि-पुज बिखरे हैं।
घर में सारे गृही गये मर, पथ में सारे राही,
रण के रोगी जूझ मरे खेतों में सभी सिपाही।

कहीं आग से, कही महामारी से, कहीं कलह से,
गरज कि पूरी उजड़ चुकी है दुनिया सभी तरह से।
अब तो कही नहीं जीवन की आहट भी आती है;
हवा दमे की मारी कुछ चल कर ही थक जाती है।

किरण सूर्य की क्षीण हुई जाती है: बस, दो पल में,
दुनिया की आखिरी रात छा जायेगी भूतल में।
कोटि-कोटि वर्षो का क्रममय जीवन खो जायेगा,
मनु का वंश बुझेगा, अन्तिम मानव सो जायेगा।

आह सूर्य! हम तुम जुड़वें थे निकले साथ तिमिर से,
होंगे आज विलीन साथ ही अन्धकार में फिर से।

सच है, किया निशा ने मानव का आधा मन काला,
पर, आधे पर सदा तुम्हारा ही चमका उजियाला।

हम में अगणित देव हुए थे, अगणित हुए दनुज भी,
सब कुछ मिला-जुला कर लेकिन, हम थे सदा मनुज ही।
हत्या भी की और दूसरों के हित स्वयं मरे भी,
सच है, किया पाप, लेकिन, प्रभु से हम सदा डरे भी।

तब भी स्वर्ग कहा करता था "धरती बड़ी मलिन है,
मर्त्य-लोक-वासी मनुजों की जाति बड़ी निर्घिन है।"
निर्घिन थे हम क्योंकि राग से था संघर्ष हमारा,
पलता था पंचाग्नि-बीच व्याकुल आदर्श हमारा।

हाय, घ्राण ही नहीं, तुझे यदि होता मांस-लहू भी,
ओ स्वर्वासी अमर! मनुज-सा निर्घिन होता तू भी।
काश, जानता तू कितना धमनी का लहू गरम है,
चर्म-तृषा दुर्जेय, स्पर्श-सुख कितना मधुर नरम है।

ज्वलित पिण्ड को हृदय समझकर ताप सदा सहते थे,
पिघली हुई आग थी नस में, हम लोहू कहते थे।
मिट्टी नहीं, आग का पुतला, मानव कहाँ मलिन था?
ज्वाला से लड़नेवाला यह वीर कहाँ निर्घिन था?

हम में बसी आग यह छिपती फिरती थी नस-नस में,
वशीभूत थी कभी, कभी हम ही थे उसके बस में।
वह संगिनी शिखा भी होगी मुझ से आज किनारा,
नाचेगी फिर नहीं लहू में तरल अग्नि की धारा।

अन्धकार के महागर्त्त में सब कुछ सो जायेगा,
सदियों का इतिवृत्त अभी क्षण भर में खो जायेगा।

लोभ, क्रोध, प्रतिशोध, कलह की लज्जा-भरी कहानी,
पाप-पक धोनेवाला ऑखो का खारा पानी,

अगणित आविष्कार प्रकृति का रूप जीतनेवाले,
समरों की असख्य गाथाएँ, नर के शौर्य निराले,
संयम, नियम, विरति मानव की, तप की ऊर्ध्व शिखाएँ,
उन्नति और विकास, विजय की क्रमिक स्पष्ट रेखाएँ,

होंगे सभी विलीन तिमिर में; हाय, अभी दो पल में,
दुनिया की आखिरी रात छा जायेगी भूतल में।
डूब गया लो सूर्य; गयी मुँद केवल ऑख भुवन की;
किरण साथ ही चली गयी अन्तिम आशा जीवन की।

सब कुछ गया; महामरघट में मै हूँ खड़ा अकेला,
या तो चारों ओर तिमिर है, या मुर्दों का मेला।
लेकिन, अन्तिम मनुज प्रलय से अब भी नही डरा है,
एक अमर विश्वास ज्योति-सा उसमें अभी भरा है।

आज तिमिर के महागर्त्त मे वह विश्वास जलेगा,
खुद प्रशस्त होगा पथ, निर्भय मनु का पुत्र चलेगा।
निरावरण हो जो त्रिभुवन मे जीवन फैलाता है,
वही देवता आज मरण में छिपा हुआ आता है।

देव, तुम्हारे रुद्र-रूप से निखिल विश्व डरता है,
विश्वासी नर एक शेष है जो स्वागत करता है।
आओ खोले जटा-जाल, जिह्वा लेलिह्म पसारे,
अनल-विशिख-तूणीर सँभाले, धनुष ध्वंस का धारे।

'जय हो', जिनके करस्पर्श से आदि पुरुष थे जागे,
सोयेगा अन्तिम मानव भी, आज उन्ही के आगे।

१६४२ ई०]

कलिंग-विजय

(१)

युद्ध की इति हो गयी ; रण-भू श्रमित, सुनसान;
गिरि-शिखर पर थम गया है डूबता दिनमान—

देखते यम का भयावह कृत्य,
अन्ध मानव की नियति का नृत्य;

सोचते, इस बन्धु-वध का क्या हुआ परिणाम?
विश्व को क्या दे गया इतना बड़ा संग्राम?

युद्ध का परिणाम?
युद्ध का परिणाम ह्रासत्रास!
युद्ध का परिणाम सत्यानाश!
रुण्ड-मुण्ड-लुठन, निर्हिसन, मीच!
युद्ध का परिणाम लोहित कीच!
हो चुका जो कुछ रहा भवितव्य,
यह नहीं नर के लिए कुछ नव्य;
भूमि का प्राचीन यह अभिशाप,
तू गगनचारी! न कर संताप।
मौन कब के हो चुके रण-तूर्य्य,
डूब जा तू भी कहीं ओ सूर्य्य!

छा गया तम, आ गये तारे तिमिर को चीर,
आ गया विधु; किन्तु, क्यों आकृति किये गंभीर?
और उस घन-खण्ड ने विधु को लिया क्यों ढाँक?
फिर गया शशि क्या लजा कर पाप नर के झाँक?

चाँदनी घन में मिली है छा रही सब ओर,
साँझ को ही दीखता ज्यों हो गया हो भोर।

मौन हैं चारों दिशाएँ, स्तब्ध है आकाश,
श्रव्य जो भी शब्द वे उठते मरण के पास।

(२)

शब्द ? यानी घायलों की आह,
घाव के मारे हुओं की क्षीण, करुण कराह,
बह रहा जिसका लहू उसका करुण चीत्कार,
श्वान जिसको नोचते उसकी अधीर पुकार।
"घूँट भर पानी, जरा पानी" रटन, फिर मौन;
घूँट भर पानी अमृत है, आज देगा कौन ?

बोलते यम के सहोदर श्वान,
बोलते जम्बुक कृतान्त - समान।

मृत्यु - गढ़ पर है खड़ा जयकेतु रेखाकार,
हो गयी हो शान्ति मरघट की यथा साकार।
चल रहा ध्वज के हृदय में द्वन्द्व,
वैजयन्ती है झुकी निस्पन्द।

जा चुके सब लोग फिर आवास,
हतमना कुछ और कुछ सोल्लास।
अंक में घायल, मृतक, निश्चेत,
शूर - वीरों को लिटाये रह गया रण - खेत।

और इस सुनसान में निःसंग,
खोजते सच्छान्ति का परिष्वंग,
मूर्त्तिमय परिताप - से विभ्राट,
हैं खड़े केवल मगध - सम्राट।

टेक सिर ध्वज का लिये अवलम्ब,
आँख से झर-झर बहाते अम्बु।
भूल कर भूपाल का अहमित्व,
शीश पर वध का लिये दायित्व।

जा चुकी है दृष्टि जग के पार,
आ रहा सम्मुख नया संसार।
चीर वक्षोदेश भीतर पैठ,
देवता कोई हृदय में बैठ,
दे रहा है सत्य का संवाद,
सुन रहे सम्राट कोई नाद।

"मान्द मानव! वासना के भृत्य!
देख ले भर आँख निज दुष्कृत्य।
यह धरा तेरी न थी उपनीत,
शत्रु की त्यों ही नहीं थी क्रीत।

सृष्टि सारी एक प्रभु का राज,
स्वत्व है सब का प्रजा के व्याज।
मान कर प्रति जीव का अधिकार,
ढो रही धरणी सभी का भार।

एक ही स्तन का पयस कर पान,
जी रहे बलहीन औ' बलवान।
देखने को विम्ब-रूप अनेक,
किन्तु, दृश्याधार दर्पण एक।

मृत्ति तो बिकती यहाँ बेदाम,
साँस से चलता मनुज का काम।
मृत्तिका हो याकि दीपित स्वर्ण,
साँस पर कर मूर्त्ति होती पूर्ण।

राज या बल पा अमित अनमोल,
साँस का बढ़ता न किंचित् मोल।
दीनता, दौर्बल्य या अपमान,
त्यों घटा सकते न इसका मान।

तू हुआ सब कुछ, मनुज लेकिन, रहा अब क्या न?
जो नहीं कुछ बन सका, वह भी मनुज है, मान।

हाय रे धनलुब्ध जीव कठोर!
हाय रे दारुण! मुकुटधर भूप लोलुप, चोर।
साज कर इतना बड़ा सामान,
स्वत्व निज सर्वत्र अपना मान।
खड्ग-बल का ले मृषा आधार,
छीनता फिरता मनुज के प्राकृतिक अधिकार।

चरण से प्रभु के नियम को चाप,
तू बना है चाहता भगवान अपना आप।
भौं उठा पायें न तेरे सामने बलहीन,
इसलिए ही तो प्रलय यह! हाय रे हिय-हीन!
शमित करने को स्वमद अति ऊन,
चाहिये तुझको मनुज का खून।

क्रूरता का साथ ले आख्यान,
जा चुके हैं, जा रहे हैं प्राण।
स्वर्ग में है आज हाहाकार,
चाहता उजड़ा बसा संसार।

भूमि का मानी महीप अशोक,
बाँटता फिरता चतुर्दिक् शोक।
'बाँटता सुतशोक औ' वैधव्य,
बाँटता पशु को मनुज का क्रव्य।

लूटता है गोदियों के लाल,
लूटता सिन्दूर-सज्जित भाल।
यह मनुज-तन में किसी शक्रारिका अवतार,
लूट लेता है नगर की सिद्धि, सुख, शृङ्गार।
शमित करने को स्वमद अति ऊन,
चाहिए उसको मनुज का खून।"

(३)

आत्म-दंशन की व्यथा, परिताप, पश्चात्ताप,
डँस रहे सब मिल, उठा है भूप का मन काँप।

स्तब्धता को भेद बारम्बार,
आ रहा है क्षीण हाहाकार।

यह हृदय-द्रावक, करुण वैधव्य का चीत्कार!
यह किसी बूढ़े पिता की भग्न, आर्त्त पुकार!
यह किसी मृतवत्सला की आह!
आ रही करती हुई दिवदाह!

आ रही है दुर्बलों की हाय,
सूझता है त्राण का नृप को न एक उपाय।
आह की सेना अजेय विराट,
भाग जा, छिप जा कहीं सम्राट।

खड्ग से होगी नहीं यह भीत,
तू कभी इसको न सकता जीत।
सामने मन के विरूपाकार,
है खड़ा उल्लंग हो संहार।
षोडशी शुक्लाम्बराएँ आभरण कर दूर,
धूल मल कर धो रही हैं माँग का सिन्दूर।

वीर बेटों की चिताएँ देख ज्वलित समक्ष,
रो रहीं माँएँ हजारों पीटती सिर-वक्ष।

हैं खुले नृप के हृदय के कान;
हैं खुले मन के नयन अम्लान।
सुन रहे हैं विह्वला की आह,
देखते हैं स्पष्ट शव का दाह।

सुन रहे हैं भूप होकर व्यग्र,
रो रहा कैसे कलिग समग्र!

रो रही हैं वे कि जिनका जल गया शृङ्गार;
रो रहीं जिनका गया मिट फूलता संसार;
जल गयी उम्मीद, जिनका जल गया है प्यार;
रो रहीं जिनका गया छिन एक ही आधार।

चूड़ियाँ दो एक की प्रतिगृह हुई हैं चूर,
पुछ गया प्रति गेह से दो एक का सिन्दूर।
बुझ गया प्रतिगृह किसी की आँख का आलोक,
इस महा विध्वंस का दायी महीप अशोक।

ध्यान में थे हो रहे आघात,
कान ने सुन ली मगर, यह बात।
नाम सुन अपना उसाँसें खींच,
नाक, भौं, आँखें घृणा से मीच,

इस तरह बोले महीपति खिन्न
आप से ज्यों हो गये हों भिन्न—
"विश्व में पापी महीप अशोक,
छीनता है आँख का आलोक।"

देह के दुर्द्धर्ष पशु को मार,
ले चुके हैं देवता अवतार।
निन्द्य लगते पूर्वकृत सब काम,
सुन न सकते आज वे निज नाम।

अश्रु में घुल बह गया कुत्सित, निहीन, विवर्ण,
रह गया है शेष केवल तप्त, निर्मल स्वर्ण।
हूक-सी आकर गयी कोई हृदय को तोड़,
ठेस से विष-भाण्ड को कोई गयी है फोड़।

बह गया है अश्रु बनकर कालकूट ज्वलन्त,
जा रहा भरता दया के दूध से वेशन्त।

दूध अन्तर का सरल, अम्लान,
खिल रहा मुख-देश पर द्युतिमान।
किन्तु, हैं अब भी झनत्कृत तार,
बोलते हैं भूप बारम्बार—
"हाय रे गर्हित विजय-मद ऊन,
क्या किया मैंने! बहाया आदमी का खून!"

(४)

खुल गयी है शुभ्र मन की आँख,
खुल गयी है चेतना की पाँख;
प्राण की अन्तःशिला पर आज पहली बार,
जाग कर करुणा उठी है कर मृदुल झनकार।

आँसुओं में गल रहे हैं प्राण,
खिल रहा मन में कमल अम्लान।

गिर गया हतबुद्धि-सा थक कर पुरुष दुर्जेय,
प्राण से निकली अनामय नारि एक अमेय।

अर्धनारीश्वर अशोक महीप;
नर पराजित, नारि सजती है विजय का दीप।

पायलों की सुन मृदुल झनकार,
गिर गयी कर से स्वयं तलवार।
वज्र का उर हो गया दो टूक,
जग उठी कोई हृदय में हूक।

लाल किरणों में यथा हँसता तटी का देश,
एक कोमल ज्ञान से त्यों खिल उठा हृद्देश।
खोल दृग, चारों तरफ अवलोक,
सिर झुका कहने लगे मानी महीप अशोक—

"हे नियन्ता विश्व के कोई अचिन्त्य, अमेय!
ईश या जगदीश कोई शक्ति हे अज्ञेय!

हों नहीं क्षन्तव्य जो मेरे विगर्हित पाप,
दो वचन, अक्षय रहे यह ग्लानि, यह परिताप।

प्राण में बल दो, रखूँ निज को सदैव सँभाल,
देव, गर्वस्फीत हो ऊँचा उठे मत भाल।

शत्रु हो कोई नहीं, हो आत्मवत् संसार,
पुत्र-सा पशु-पक्षियों को भी सकूँ कर प्यार।

मिट नहीं जाये किसी का चरण-चिह्न पुनीत,
राह में भी मैं चलूँ पग-पग सजग, संभीत।

हो नहीं मुझको किसी पर रोष,
धर्म्म का गूँजे जगत में घोष।

बुद्ध की जय! धर्म की जय! संघ का जय-गान,
आ बसें मुझमें तथागत मारजित् भगवान।"

देवता को सौंप कर सर्वस्व,
भूप मन ही मन गये हो निःस्व।

(५)

और तब उन्मादिनी सोल्लास,
रक्त पर बहती विजय आयी वरण को पास।
संग लेकर ब्याह का उपहार,
रक्त-कर्दम के कमल का हार।

पर, डिगे तिल-भर न वीर महीप;
थी जला करुणा चुकी तब तक विजय का दीप।

१६४१ ई०]

आग की भीख

(१)

धुँधली हुईं दिशाएँ, छाने लगा कुहासा,
कुचली हुई शिखा से आने लगा धुआँ-सा।
कोई मुझे बता दे, क्या आज हो रहा है;
मुँह को छिपा तिमिर में क्यों तेज रो रहा है?
दाता, पुकार मेरी, संदीप्ति को जिला दे;
बुझती हुई शिखा को संजीवनी पिला दे।
प्यारे स्वदेश के हित अंगार माँगता हूँ।
चढ़ती जवानियों का शृंगार माँगता हूँ।

(२)

बेचैन हैं हवाएँ, सब ओर बेकली है,
कोई नहीं बताता, किश्ती किधर चली है?
मँझधार है, भँवर है या पास है किनारा?
यह नाश आ रहा या सौभाग्य का सितारा?
आकाश पर अनल से लिख दे अदृष्ट मेरा,
भगवान, इस तरी को भरमा न दे अँधेरा।
तम-वेधिनी किरण का संधान माँगता हूँ।
ध्रुव की, कठिन घड़ी में, पहचान माँगता हूँ।

(३)

आगे पहाड़ को पा धारा रुकी हुई है,
बल-पुंज केसरी की ग्रीवा झुकी हुई है;
अग्निस्फुलिंग रज का, बुझ, ढेर हो रहा है,
है रो रही जवानी, अन्धेर हो रहा है।

निर्वाक् है हिमालय, गंगा डरी हुई है।
निस्तब्धता निशा की दिन में भरी हुई है।
पंचास्य-नाद भीषण, विकराल माँगता हूँ।
जड़ता-विनाश को फिर भूचाल माँगता हूँ।

(४)

मनकी बँधी उमंगें असहाय जल रही हैं,
अरमान-आरज़ू की लाशें निकल रही हैं।
भींगी - खुली पलों में रातें गुजारते हैं,
सोती वसुन्धरा जब, तुझको पुकारते हैं।
इनके लिए कहीं से निर्भीक तेज ला दे,
पिघले हुए अनल का इनको अमृत पिला दे,
उन्माद, बेकली का उत्थान माँगता हूँ,
विस्फोट माँगता हूँ, तूफान माँगता हूँ।

(५)

आँसू-भरे दृगों में चिनगारियाँ सजा दे,
मेरे श्मशान में आ शृंगी जरा बजा दे;
फिर एक तीर सीनों के आर-पार कर दे,
हिमशीत प्राण में फिर अंगार स्वच्छ भर दे।
आमर्ष को जगानेवाली शिखा नयी दे,
अनुभूतियाँ हृदय में दाता, अनलमयी दे।
विष का सदा लहू में संचार माँगता हूँ,
बेचैन जिन्दगी का मैं प्यार माँगता हूँ।

(६)

ठहरी हुई तरी को ठोकर लगा चला दे,
जो राह हो हमारी उस पर दिया जला दे।

गति में प्रभंजनों का आवेग फिर सबल दे।
इस जाँच की घड़ी में निष्ठा कड़ी, अचल दे।
हम दे चुके लहू हैं, तू देवता विभा दे,
अपने अनल-विशिख से आकाश जगमगा दे।
प्यारे स्वदेश के हित वरदान माँगता हूँ,
तेरी दया विपद में भगवान, माँगता हूँ।

१९४३ ई०]
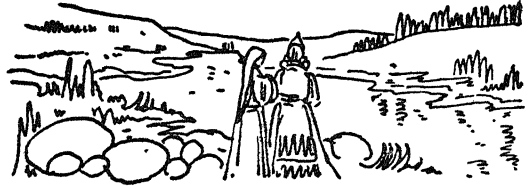
दिल्ली और मास्को

(१)

जय विधायिके अमर क्रांति की ! अरुण देश की रानी !
रक्त-कुसुम-धारिणि ! जगतारिणि ! जय नव शिवे ! भवानी !

अरुण विश्व की काली, जय हो,
लाल सितारोंवाली, जय हो,
दलित, बुभुक्षु, विषण्ण मनुज की,
शिखा रुद्र मतवाली, जय हो।

जगज्ज्योति, जय जय, भविष्य की राह दिखानेवाली,
जय समत्व की शिखा, मनुज की प्रथम विजय की लाली।
भरे प्राण में आग, भयानक विप्लव का मद ढाले,
देश-देश में घूम रहे तेरे सैनिक मतवाले।

नगर-नगर जल रहीं भट्ठियाँ,
घर-घर सुलग रही चिनगारी;
यह आयोजन जगद्दहन का,
यह जल उठने की तैयारी;
देश-देश में शिखा क्षोभ की
उमड़-घुमड़ कर बोल रही है;
लरज रहीं चोटियाँ शैल की,
धरती क्षण-क्षण डोल रही है।

ये फूटे अंगार, कढ़े अंबर में लाल सितारे,
फटी भूमि, वे बढ़े ज्योति के लाल-लाल फव्वारे।
बंध, विषमता के विरुद्ध सारा संसार उठा है,
अपना बल पहचान, लहर कर पारावार उठा है।

छिन्न-भिन्न हो रहीं मनुजता के बंधन की कड़ियाँ,
देश-देश में बरस रहीं आजादी की फुलझड़ियाँ।

(२)

एक देश है जहाँ विषमता
से अच्छी हो रही गुलामी,
जहाँ मनुज पहले स्वतंत्रता
से हो रहा साम्य का कामी।

भ्रमित ज्ञान से जहाँ जाँच हो—
रही दीप्त स्वातंत्र्य-समर की,
जहाँ मनुज है पूज रहा जग को,
बिसार सुधि अपने घर की।

जहाँ मृषा संबंध विश्व-मानवता
से नर जोड़ रहा है,
जन्मभूमि का भाग्य जगत की
नीति-शिला पर फोड़ रहा है।

चिल्लाते हैं 'विश्व, विश्व' कह जहाँ चतुर नर ज्ञानी,
बुद्धिभीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी।
जहाँ मासको के रणधीरों के गुण गाये जाते,
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।

(३)

दिल्ली, आह, कलंक देश का,
दिल्ली, आह, ग्लानि की भाषा,
दिल्ली, आह, मरण पौरुष का,
दिल्ली, छिन्न-भिन्न अभिलाषा।

विवश देश की छाती पर ठोकर की एक निशानी,
दिल्ली, पराधीन भारत की जलती हुई कहानी।
मरे हुओं की ग्लानि, जीवितों को रण की ललकार,
दिल्ली, वीरविहीन देश की गिरी हुई तलवार।

बरबस लगी देश के होठों
से यह भरी जहर की प्याली,
यह नागिनी स्वदेश-हृदय पर
गरल उँड़ेल लोटनेवाली।

प्रश्नचिह्न भारत का, भारत के बल की पहचान,
दिल्ली राजपुरी भारत की, भारत का अपमान।

(४)

ओ समता के वीर सिपाही,
कहो, सामने कौन अड़ी है?
बल से दिये पहाड़ देश की
छाती पर यह कौन पड़ी है?

यह है परतंत्रता देश की,
रुधिर देश का पीनेवाली;
मानवता कहता तू जिसको
उसे चबाकर जीनेवाली।

यह पहाड़ के नीचे पिसता
हुआ मनुज क्या प्रेय नहीं है?
इसका मुक्ति-प्रयास स्वयं ही
क्या, उज्ज्वलतम श्रेय नहीं है?

यह जो कटे वीर-सुत माँ के,
यह जो बही रुधिर की धारा,

यह जो डोली भूमि देश की,
यह जो काँप गया नभ सारा;

यह जो उठी शौर्य की ज्वाला, यह जो खिला प्रकाश;
यह जो खड़ी हुई मानवता रचने को इतिहास;
कोटि-कोटि सिंहों की यह जो उट्ठी मिलित, दहाड़;
यह जो छिपे सूर्य-शशि, यह जो हिलने लगे पहाड़।

सो क्या था विस्फोट अनर्गल?
बाल-कुतूहल? नर-प्रमाद था?
निष्पेषित मानवता का यह
क्या न भयंकर तूर्य-नाद था?

इस उद्वेलन-बीच प्रलय का
था पूरित उल्लास नहीं क्या?
लाल भवानी पहुँच गयी है
भरत-भूमि के पास नहीं क्या?

फूट पड़ी है क्या न प्राण में नये तेज की धारा?
गिरने को हो रही छोड़कर नींव नहीं क्या कारा?
नगपति के पद में जबतक है बँधी हुई जंजीर,
तोड़ सकेगा कौन विषमता का प्रस्तर-प्राचीर?

(५)

दहक रही मिट्टी स्वदेश की,
खौल रहा गंगा का पानी;
प्राचीरों में गरज रही है
जंजीरों से कसी जवानी।

यह प्रवाह निर्भीक तेज का,
यह अजस्र यौवन की धारा,

अनवरुद्ध यह शिखा यज्ञ की,
यह दुर्जय अभियान हमारा।

यह सिद्धाग्नि प्रबुद्ध देश की जड़ता हरनेवाली,
जन-जन के मन में बन पौरुष-शिखा विहरनेवाली।
अर्पित करो समिध, आओ, हे समता के अभियानी!
इसी कुंड से निकलेगी भारत की लाल भवानी।

(६)

हाँ, भारत की लाल भवानी,
जवा-कुसुम के हारोंवाली,
शिवा, रक्त-रोहित-वसना,
कबरी में लाल सितारोंवाली।

कर में लिये त्रिशूल, कमंडलु,
दिव्य-शोभिनी, सुरसरि-स्नाता,
राजनीति की अचल स्वामिनी,
साम्य-धर्म-ध्वज-धर की माता।

भरत-भूमि की मिट्टी से शृंगार सजानेवाली,
चढ़ हिमाद्रि पर विश्व-शांति का शंख बजानेवाली।

(७)

दिल्ली का नभ दहक उठा, यह
श्वास उसी कल्याणी का है।
चमक रही जो लपट चतुर्दिक्,
अंचल लाल भवानी का है।

खौल रहे जो भाव वह्निमय,
ये हैं आशीर्वाद उसीके,

यह जो डोली भूमि देश की,
यह जो काँप गया नभ सारा;

यह जो उठी शौर्य की ज्वाला, यह जो खिला प्रकाश;
यह जो खड़ी हुई मानवता रचने को इतिहास;
कोटि-कोटि सिंहों की यह जो उट्ठी मिलित, दहाड़;
यह जो छिपे सूर्य-शशि, यह जो हिलने लगे पहाड़।

सो क्या था विस्फोट अनर्गल?
बाल-कुतूहल? नर-प्रमाद था?
निष्पेषित मानवता का यह
क्या न भयंकर तूर्य-नाद था?

इस उद्वेलन-बीच प्रलय का
था पूरित उल्लास नहीं क्या?
लाल भवानी पहुँच गयी है
भरत-भूमि के पास नहीं क्या?

फूट पड़ी है क्या न प्राण में नये तेज की धारा?
गिरने को हो रही छोड़कर नींव नहीं क्या कारा?
नगपति के पद में जबतक है बँधी हुई जंजीर,
तोड़ सकेगा कौन विषमता का प्रस्तर-प्राचीर?

(५)

दहक रही मिट्टी स्वदेश की,
खौल रहा गंगा का पानी;
प्राचीरों में गरज रही है
जंजीरों से कसी जवानी।

यह प्रवाह निर्भीक तेज का,
यह अजस्र यौवन की धारा,

अनवरुद्ध यह शिखा यज्ञ की,
यह दुर्जय अभियान हमारा।

यह सिद्धाग्नि प्रबुद्ध देश की जड़ता हरनेवाली,
जन-जन के मन में बन पौरुष-शिखा विहरनेवाली।
अर्पित करो समिध, आओ, हे समता के अभियानी!
इसी कुंड से निकलेगी भारत की लाल भवानी।

(६)

हाँ, भारत की लाल भवानी,
जवा-कुसुम के हारोंवाली,
शिवा, रक्त-रोहित-वसना,
कबरी में लाल सितारोंवाली।

कर में लिये त्रिशूल, कमंडलु,
दिव्य-शोभिनी, सुरसरि-स्नाता,
राजनीति की अचल स्वामिनी,
साम्य-धर्म-ध्वज-धर की माता।

भरत-भूमि की मिट्टी से शृंगार सजानेवाली,
चढ़ हिमाद्रि पर विश्व-शांति का शंख बजानेवाली।

(७)

दिल्ली का नभ दहक उठा, यह
श्वास उसी कल्याणी का है।
चमक रही जो लपट चतुर्दिक्,
अंचल लाल भवानी का है।

खौल रहे जो भाव वह्निमय,
ये हैं आशीर्वाद उसीके,

'जय भारत' के तुमुल रोर में
गुंजित संगर-नाद उसीके।

दिल्ली के नीचे मर्दित अभिमान नहीं केवल है,
दबा हुआ शत-लक्ष नरों का अन्न-वस्त्र, धन-बल है।
दबी हुई इसके नीचे भारत की लाल भवानी,
जो तोड़े यह दुर्ग, वही है समता का अभियानी।

१९४५ ई०]

राही और बाँसुरी

राही

सूखी लकड़ी ! क्यों पड़ी राह में
यों रह-रह चिल्लाती है ?
सुर से बरसा कर आग
राहियों का क्यों हृदय जलाती है ?

यह दूब और वह चन्दन है;
यह घटा और वह पानी है ?
ये कमल नहीं हैं, आँखें हैं;
वह बादल नहीं, जवानी है।

बरसाने की है चाह अगर
तो इनसे लेकर रस बरसा।
गाना हो तो मीठे सुर में,
जीवन का कोई दर्द सुना।

चाहिए सुधामय शीतल जल,
है थकी हुई दुनिया सारी।
यह आग-आग की चीख किसे,
लग सकती है कब तक प्यारी ?

प्यारी है आग अगर तुझको,
तो सुलगा उसे स्वयं जल जा।
सुर में हो शेष मिठास नहीं,
तो चुप रह या पथ से टल जा।

बाँसुरी

बजता है समय अधीर पथिक,
मैं नही सदाएँ देती हूँ।
हूँ पड़ी राह से अलग, भला
किस राही का क्या लेती हूँ?

मै भी न जान पायी अब तक,
क्यों था मेरा निर्माण हुआ।
सूखी लकड़ी के जीवन का
जानें सर्बस क्यों गान हुआ।

जानें किसकी दौलत हूँ मैं
अनजान, गाँठ से गिरी हुई।
जाने किसका हूँ स्वप्न,
न जानें, किस्मत किसकी फिरी हुई।

तुलसी के पत्ते चले गये
पूजोपहार बन जाने को।
चन्दन के फूल गये जग में
अपना सौरभ फैलाने को।

जो दूब पड़ोसिन है मेरी,
वह भी मन्दिर में जाती है।
पूजतीं कृषक-वधुएँ आकर,
मिट्टी भी आदर पाती है।

बस, एक अभागिन हूँ जिसका
कोई न कभी भी आता है।
झंझा से लेकर काल-सर्प तक
मुझको छेड़ बजाता है।

यह जहर नहीं मेरा राही,
बदनाम वृथा मैं होती हूँ।
दुनिया कहती है चीख
मगर, मैं सिसक-सिसक कर रोती हूँ।

हो बड़ी वात, कोई मेरी
ज्वाला में मुझे जला डाले।
या मुख जो आग उगलता है
आकर जड़ दे उस पर ताले।

दुनिया भर का संताप लिये
हर रोज हवाएँ आती हैं।
अधरों से मुझको लगा
व्यथा, जानें, किस-किस की गाती हैं।

मैं काल-सर्प से ग्रसित, कभी
कुछ अपना भेद न गा सकती,
दर्दीली तान सुना दुनिया
का मन न कभी बहला सकती।

दर्दीली तान, अहा, जिसमें
कुछ याद कभी की बजती है,
मीठे सपने मँडराते हैं,
मादक वेदना गरजती है।

धुँधली-सी है कुछ याद,
गाँव के पास कहीं कोई वन था;
दिन भर फूलों की छाँह-तले
खेलता एक मनमोहन था।

मैं उसके ओठों से लगकर,
जानें, किस धुन में गाती थी,
झोंपड़ियाँ दहक-दहक उठतीं,
गृहिणी पागल बन जाती थी।

मुँह का तृण मुँह में धरे विकल
पशु भी तन्मय रह जाते थे,
चंचल समीर के दूत कुंज में
जहाँ-तहाँ थम जाते थे।

रसमयी युवतियाँ रोती थीं,
आँखों से आँसू झरते थे,
सब के मुख पर बेचैन,
विकल कुछ भाव दिखायी पड़ते थे।

मानों, छाती को चीर हृदय
पल में कढ़ बाहर आयेगा,
मानों, फूलों की छाँह-तले
संसार अभी मिट जायेगा।

यह सुधा थी कि थी आग?
भेद कोई न समझ यह पाती थी,
मैं और तेज होकर बजती
जब वह बेबस हो जाती थी।

उफ री! अधीरता उस मुख की,
वह कहना उसका "रुको, रुको,
चूमो, यह ज्वाला शमित करो
मोहन! डाली से झुको, झुको।"

फूली कदम्ब की डाली पर
लेकिन, मेरा वह इठलाना,
उस मृगनयनी को बिंधी देख
पंचम में और पहुँच जाना।

मदभरी सुन्दरी ने आखिर
होकर अधीर दे शाप दिया—
'कलमुँही, अधर से लग कर भी
क्या तूने केवल जहर पिया ?

"जा, मासूमों को जला कभी
तू भी न स्वयं सुख पायेगी।
मोहन फूँकेंगे पांच जन्य,
तू आग-आग चिल्लायेगी।'

सच ही, मोहन ने शंख लिया,
मुझसे बोले, "जा, आग लगा,
कुत्सा की कुछ परवाह न कर,
तू जहाँ रहे ज्वाला सुलगा।'

तब से ही धूल-भरे पथ पर
मैं रोती हूँ, चिल्लाती हूँ।
चिनगारी मिलती जहाँ,
गीत की कड़ी बनाकर गाती हूँ।

मैं बिकी समय के हाथ पथिक,
मुझ पर न रहा मेरा बस है।
है व्यर्थ पूछना, बंसी में
कोई मादक, मीठा रस है ?

जो मादक है, जो मीठा है,
जानें, वह फिर कब आयेगा,
गीतों में भी बरसेगा या
सपनों में ही मिट जायेगा?

जलती हूँ जैसे हृदय-बीच
सौरभ समेटकर कमल जले,
बलती हूँ जैसे छिपा स्नेह
अन्तर में कोई दीप बले।

तुम नहीं जानते पथिक आग
यह कितनी मादक पीड़ा है।
भीतर पसीजता मोम,
लपट की बाहर होती क्रीड़ा है।

मैं पीकर ज्वाला अमर हुई,
दिखला मत रस-उन्माद मुझे,
रौशनी लुटाती हूँ राही,
ललचा सकता अवसाद मुझे?

हतभागे, यों मुँह फेर नहीं,
जो चीज आग में खिलती है,
धरती तो क्या? जन्नत में भी
वह नहीं सभी को मिलती है।

मेरी पूँजी है आग, जिसे
जलना हो, बढ़े, निकट आये,
मैं दूँगी केवल दाह,
सुधा वह जाकर कोयल से पाये।

१९४६ ई०]

युधिष्ठिर का विलाप

आयी हुई मृत्यु से कहा अजेय भीष्म ने कि
'योग नहीं जाने का अभी है, इसे जान कर,
रुकी रहो पास कहीं', और स्वयं लेट गये
बाणों का शयन, बाण का ही उपधान कर।
व्यास कहते हैं, रहे यों ही वे पड़े विमुक्त,
काल के करों से छीन मुष्टि-गत प्राण कर;
और पंथ जोहती विनीत कहीं आसपास
हाथ जोड़ मृत्यु रही खड़ी शास्ति मान कर।

शृंग चढ़ जीवन के आर-पार हेरते-से
योगलीन लेटे थे पितामह गभीर-से।
देखा धर्मराज ने, विभा प्रसन्न फैल रही
श्वेत शिरोरुह, शर-ग्रथित शरीर से।
करते प्रणाम, छूते सिर से पवित्र पद,
उँगली को धोते हुए लोचनों के नीर से,
'हाय पितामह, महाभारत विफल हुआ,'
चीख उठे धर्मराज व्याकुल, अधीर-से।

'वीर-गति पाकर सुयोधन चला गया है,
छोड़ मेरे सामने अशेष ध्वंस का प्रसार;
छोड़ मेरे हाथ में शरीर निज प्राणहीन,
व्योम में बजाता जय-दुन्दुभि-सा बार-बार;
और यह मृतक शरीर जो बचा है शेष,
चुप-चुप, मानों, पूछता है मुझसे पुकार—
'विजय का एक उपहार मैं बचा हूँ, बोलो,
जीत किसकी है और किसकी हुई है हार?'

'हाय, पितामह, हार किसकी हुई है यह?
ध्वंस-अवशेष पर सिर धुनता है कौन?
कौन भस्मराशि में विफल सुख ढूँढ़ता है?
लपटों से मुकुट का पट बुनता है कौन?
और बैठ मानव की रक्त-सरिता के तीर
नियति के व्यंग्य-भरे अर्थ गुनता है कौन?
कौन देखता है शवदाह बन्धु-बान्धवों का?
उत्तरा का करुण विलाप सुनता है कौन?

'जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का,
तन-बल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता;
तप से, सहिष्णुता से, त्याग से सुयोधन को
जीत, नयी नींव इतिहास की मैं धरता।
और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो,
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता;
तो भी हाय, यह रक्त-पात नहीं करता मैं,
भाइयों के संग कहीं भीख माँग मरता।

'किन्तु, हाय, जिस दिन बोया गया युद्ध-बीज,
साथ दिया मेरा नहीं मेरे दिव्य ज्ञान ने;
उलट दी मति मेरी भीम की गदा ने और
पार्थ के शरासन ने, अपनी कृपाण ने;
और जब अर्जुन को मोह हुआ रण-बीच,
बुझती शिखा में दिया घृत भगवान ने;
सबकी सुबुद्धि पितामह, हाय, मारी गयी,
सबको विनष्ट किया एक अभिमान ने।

'कृष्ण कहते हैं, युद्ध अनघ है, किन्तु, मेरे
प्राण जलते हैं पल-पल परिताप से;

लगता मुझे है, क्यों मनुष्य बच पाता नहीं
दह्यमान इस पुराचीन अभिशाप से!
और महाभारत की बात क्या? गिराये गये
जहाँ छल-छद्म से वरेण्य वीर आप-से,
अभिमन्यु-वध औ' सुयोधन का वध हाय,
हममें बचा है यहाँ कौन, किस पाप से?

'एक ओर सत्यमयी गीता भगवान की है,
एक ओर जीवन की विरति प्रबुद्ध है;
जानता हूँ, लड़ना पड़ा था हो विवश, किन्तु,
लोहू-सनी जीत मुझे दीखती अशुद्ध है;
ध्वंसजन्य सुख? याकि, साश्रु दुख शान्तिजन्य?
ज्ञात नहीं, कौन बात नीति के विरुद्ध है;
जानता नहीं मैं कुरुक्षेत्र में खिला है पुण्य,
या महान् पाप यहाँ फूटा बन युद्ध है।

'सुलभ हुआ है जो किरीट कुरुवंशियों का,
उसमें प्रचण्ड कोई दाहक अनल है;
अभिषेक से क्या पाप मन का धुलेगा कभी?
पापियों के हित तीर्थ-वारि हलाहल है;
विजय कराल नागिनी-सी डँसती है मुझे,
इससे न जूझने को मेरे पास बल है;
ग्रहण करूँ मैं कैसे? बार-बार सोचता हूँ,
राजसुख लोहू-भरी कीच का कमल है।

'बालहीना माता की पुकार कभी आती, और
आता कभी आर्त्तनाद पितृहीन बाल का;
आँख पड़ती है जहाँ हाय, वहीं देखता हूँ
सेंदुर पुँछा हुआ सुहागिनी के भाल का;

बाहर से भाग कक्ष में जो छिपता हूँ कभी
तो भी सुनता हूँ अट्टहास क्रूर काल का;
और सोते-जागते में चौंक उठता हूँ, मानों,
शोणित पुकारता हो अर्जुन के लाल का।

'जिस दिन समर की अग्नि बुझ शान्त हुई,
एक आग तब से ही जलती है मन में;
हाय, पितामह, किसी भाँति नहीं देखता हूँ
मुँह दिखलाने योग्य निज को भुवन में;
ऐसा लगता है, लोग देखते घृणा से मुझे,
धिक् सुनता हूँ अपने पै कण-कण में,
मानव को देख आँखें आप झुक जातीं, मन
चाहता अकेला कहीं भाग जाऊँ वन में।

'करूँ आत्मघात तो कलंक और घोर होगा,
नगर को छोड़ अतएव, वन जाऊँगा;
पशु-खग भी न देख पायें जहाँ, छिप किसी
कन्दरा में बैठ, अश्रु खुलके बहाऊँगा;
जानता हूँ, पाप न धुलेगा वनवास से भी,
छिपा तो रहूँगा, दुःख कुछ तो भुलाऊँगा;
व्यंग्य से बिधेगा वहाँ जर्जर हृदय तो नहीं,
वन में कहीं तो धर्मराज न कहाऊँगा।'

अहिंसा और शान्ति

[भीष्म की उक्ति]

समर निन्द्य है धर्मराज, पर, कहो शान्ति वह क्या है,
जो अनीति पर स्थित होकर भी बनी हुई सरला है?
सुख-समृद्धि का विपुल कोष संचित कर कल, बल, छल से,
किसी क्षुधित का ग्रास छीन, धन लूट किसी निर्बल से,

सब समेट, प्रहरी बिठला कर कहती, 'कुछ मत बोलो,
शान्ति-सुधा वह रही, न इसमें गरल क्रान्ति का घोलो।
हिलो-डुलो मत, हृदय-रक्त अपना मुझको पीने दो,
अचल रहे साम्राज्य शान्ति का, जियो और जीने दो।'

सच है, सत्ता सिमट-सिमट जिनके हाथों में आई,
शान्तिभक्त वे साधु पुरुष क्यों चाहें कभी लड़ाई?
सुख का सम्यक्-रूप विभाजन जहाँ नीति से, नय से—
संभव नहीं; अशान्ति दबी हो जहाँ खड्ग के भय से;

जहाँ पालते हों अनीति-पद्धति को सत्ताधारी,
जहाँ सूत्रधर हों समाज के अन्यायी, अविचारी;
नीतियुक्त प्रस्ताव सन्धि के जहाँ न आदर पायें;
जहाँ सत्य कहनेवालों के शीश उतारे जायें;

जहाँ खड्ग-बल एकमात्र आधार बने शासन का;
दबे क्रोध से भभक रहा हो हृदय जहाँ जन-जन का;
सहते-सहते अनय जहाँ मर रहा मनुज का मन हो;
समझ कापुरुष अपने को धिक्कार रहा जन-जन हो;

अहंकार के साथ घृणा का जहाँ द्वन्द्व हो जारी;
ऊपर शान्ति, तलातल में हो छिटक रही चिनगारी;
दबे हुए आवेग वहाँ यदि उबल किसी दिन फूटें,
सयम छोड़, काल वन मानव अन्यायी पर टूटें;

कहो, कौन दायी होगा उस दारुण जगद्दहन का?
अहंकार या घृणा? कौन दोषी होगा उस रण का?
तुम विषण्ण हो समझ, हुआ जगदाह तुम्हारे कर से,
सोचो तो, क्या अग्नि समर की बरसी थी अम्बर से?

अथवा अकस्मात् मिट्टी से फूटी थी यह ज्वाला?
या मंत्रों के बल से जन्मी थी यह शिखा कराला?
कुरुक्षेत्र के पूर्व नहीं क्या समर लगा था चलने?
प्रतिहिसा का दीप भयानक हृदय-हृदय में बलने?

शान्ति खोलकर खड्ग क्रान्ति का जब वर्जन करती है,
तभी जान लो, किसी समर का वह सर्जन करती है।
शान्ति नही तबतक जबतक सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो, नहीं किसी को कम हो।

ऐसी शान्ति राज्य करती है तन पर नहीं, हृदय पर,
नर के ऊँचे विश्वासों पर श्रद्धा, भक्ति, प्रणय पर।
न्याय शान्ति का प्रथम न्यास है, जबतक न्याय न आता,
जैसा भी हो, महल शान्ति का सुदृढ़ नहीं रह पाता।

कृत्रिम शान्ति सशंक आप अपने से ही डरती है,
खड्ग छोड़ विश्वास किसी का कभी नहीं करती है।
और जिन्हें इस शान्ति-व्यवस्था में सुख-भोग सुलभ है,
उनके लिए शान्ति ही जीवन-सार, सिद्धि दुर्लभ है।

पर, जिनकी अस्थियाँ चबाकर, शोणित पीकर तन का,
जीती है यह शान्ति, दाह समझो कुछ उनके मन का।
स्वत्व माँगने से न मिलें, संघात पाप हो जायें,
बोलो धर्मराज, शोषित वे जियें या कि मिट जायें।

न्यायोचित अधिकार माँगने से न मिलें तो लड़के,
तेजस्वी छीनते समर को जीत, या कि खुद मरके।
किसने कहा, पाप है समुचित स्वत्व-प्राप्ति-हित लड़ना?
उठा न्याय का खड्ग समर में अभय मारना-मरना?

क्षमा, दया, तप, तेज, मनोबल की दे वृथा दुहाई,
धर्मराज, व्यंजित करते तुम मानव की कदराई।
हिंसा का आघात तपस्या ने कब, कहाँ सहा है?
देवों का दल सदा दानवों से हारता रहा है।

मनःशक्ति प्यारी थी तुमको यदि पौरुष ज्वलन से,
लोभ किया क्यों भरत-राज्य का? फिर आये क्यों वन से?
पिया भीम ने गरल, लाक्षगृह जला, हुए वनवासी,
केशकर्षिता प्रिया सभा-सम्मुख कहलायी दासी।

क्षमा, दया, तप, त्याग, मनोबल, सबका लिया सहारा,
पर, नर-व्याघ्र सुयोधन तुमसे कहो, कहाँ, कब हारा?
क्षमाशील हो रिपु-समक्ष तुम हुए विनत जितना ही,
दुष्ट कौरवों ने तुमको कायर समझा उतना ही।

अत्याचार सहन करने का कुफल यही होता है,
पौरुष का आतंक मनुज कोमल होकर खोता है।
क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो,
उसको क्या, जो दन्तहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो?

तीन दिवस तक पन्थ माँगते रघुपति सिन्धु-किनारे,
बैठे पढ़ते रहे छन्द अनुनय के प्यारे-प्यारे।
उत्तर में जब एक नाद भी उठा नहीं सागर से,
उठी अधीर धधक पौरुष की आग राम के शर से।

सिन्धु देह धर 'त्राहि-त्राहि' करता आ गिरा शरण में,
चरण पूज, दासता ग्रहण की, बँधा मूढ़ बन्धन में।
सच पूछो, तो शर में ही बसती है दीप्ति विनय की,
सन्धि-वचन संपूज्य उसीका जिसमें शक्ति विजय की।

सहनशीलता, क्षमा, दया को तभी पूजता जग है,
बल का दर्प चमकता उसके पीछे जब जगमग है।
जहाँ नहीं सामर्थ्य शोध की, क्षमा वहाँ निष्फल है,
गरल-घूँट पी जाने का मिस है, वाणी का छल है।

फलक क्षमा का ओढ़ छिपाते जो अपनी कायरता,
वे क्या जानें ज्वलित-प्राण नर की पौरुष-निर्भरता?
वे क्या जानें नर में वह क्या असहनशील अनल है,
जो लगते ही स्पर्श हृदय से सिर तक उठता बल है?

जिनकी भुजाओं की शिराएँ फड़कीं ही नहीं,
जिनके लहू में नहीं वेग है अनल का;
शिव का पदोदक ही पेय जिनका है रहा,
चक्खा ही जिन्होंने नहीं स्वाद हलाहल का;
जिनके हृदय में कभी आग सुलगी ही नहीं,
ठेस लगते ही अहंकार नहीं छलका;
जिनको सहारा नहीं भुज के प्रताप का है,
बैठते भरोसा किये वे ही आत्मबल का।

उसकी सहिष्णुता, क्षमा का है महत्त्व ही क्या
करना ही आता नहीं जिसको प्रहार है?
करुणा, क्षमा को छोड़ और क्या उपाय उसे
ले न सकता जो वैरियों से प्रतीकार है?
सहना प्रहार कोई विवश, कदर्य जीव
जिसकी नसों में नहीं पौरुष की धार है;
करुणा, क्षमा हैं क्लीव जाति के कलंक घोर,
क्षमता क्षमा की शूर-वीरों का सिंगार है।

प्रतिशोध से हैं होती शौर्य की शिखाएँ दीप्त,
प्रतिशोध-हीनता नरों में महापाप है,
छोड़ प्रतिवैर पीते मूक अपमान वे ही
जिनमें न शेष शूरता का वह्नि-ताप है;
चोट खा सहिष्णु व' रहेगा किस भाँति, तीर—
जिसके निषङ्ग में, करों में दृढ़ चाप है;
जेता के विभूषण सहिष्णुता-क्षमा हैं, किन्तु,
हारी हुई जाति की सहिष्णुताऽभिशाप है।

धर्म है हुताशन का धधक उठे तुरन्त,
कोई क्यों प्रचण्ड-वेग वायु को बुलाता है?
फटेगा कराल कण्ठ ज्वालामुखियों का ध्रुव,
आनन पर बैठ विश्व धूम क्यों मचाता है?
फूंक से जलायेगा अवश्य जगती को व्याल,
कोई क्यों खरोंच मार उसको जगाता है?
विद्युत् खगोल से अवश्य ही गिरेगी, कोई,
दीप्त अभिमान को क्यों ठोकर लगाता है?

युद्ध को बुलाता है अनीति-ध्वजधारी या कि
वह जो अनीति-भाल पै दे पांव चलता?

वह जो दबा है शोषणों के भीम शैल से या
वह जो खड़ा है मग्न हँसता-मचलता?
वह जो बना के शान्ति-व्यूह सुख लूटता या
वह जो अशान्त हो क्षुधानल से जलता?
कौन है बुलाता युद्ध? जाल जो बनाता?
या जो जाल तोड़ने को क्रुद्ध काल-सा निकलता?

पातकी न होता है प्रबुद्ध दलितों का खड्ग,
पातकी बताना उसे दर्शन की भ्रान्ति है;
शोषण की शृंखला के हेतु बनती जो शान्ति,
युद्ध है, यथार्थ में, व' भीषण अशान्ति है;
सहना उसे हो मौन हार मनुजत्व की है,
ईश की अवज्ञा घोर, पौरुष की श्रान्ति है;
पातक मनुष्य का है, मरण मनुष्यता का,
ऐसी शृंखला में धर्म विप्लव है, क्रान्ति है।

भूल रहे हो धर्मराज, तुम, अभी हिंस्र भूतल है,
खड़ा चतुर्दिक् अहंकार है, खड़ा चतुर्दिक् छल है।
मैं भी हूँ सोचता, जगत से कैसे उठे जिघांसा,
किस प्रकार फैले पृथिवी पर करुणा, प्रेम, अहिंसा।

जियें मनुज किस भाँति परस्पर होकर भाई-भाई,
कैसे रुके प्रदाह क्रोध का, कैसे रुके लड़ाई।
पृथ्वी हो साम्राज्य स्नेह का, जीवन स्निग्ध, सरल हो,
मनुज-प्रकृति से विदा सदा को दाहक द्वेष-गरल हो।

बहे प्रेम की धार, मनुज को वह अनवरत भिगोये,
एक दूसरे के उर में नर बीज प्रेम के बोये।

किन्तु, हाय, आधे पथ तक ही पहुँच सका यह जग है,
अभी शान्ति का स्वप्न दूर नभ में करता जगमग है।

भूले-भटके ही, पृथ्वी पर वह आदर्श उतरता,
किसी युधिष्ठिर के प्राणों में ही स्वरूप है धरता।
किन्तु, द्वेष के शिला-दुर्ग से बार-बार टकरा के,
रुद्ध मनुज के मनोदेश के लौह-द्वार को पा के;

घृणा, कलह, विद्वेष, विविध तापों से आकुल होकर,
हो जाता उड्डीन एक-दो का ही हृदय भिगो कर।
क्योंकि युधिष्ठिर एक, सुयोधन अगणित अभी यहाँ हैं,
बढ़े शान्ति की लता हाय, वे पोषक द्रव्य कहाँ हैं?

शान्ति-बीन तब तक बजती है नहीं सुनिश्चित सुर में,
स्वर की शुद्ध प्रतिध्वनि जब तक उठे नहीं उर-उर में।
यह न बाह्य उपकरण, भार बन जो आवे ऊपर से,
आत्मा की यह ज्योति, फूटती सदा विमल अन्तर से।

शान्ति नाम उस रुचिर सरणि का, जिसे प्रेम पहचाने,
खड्ग-भीत तन ही न, मनुज का मन भी जिसको माने।
शिवा-शान्ति की मूर्त्ति नहीं बनती कुलाल के गृह में;
सदा जन्म लेती वह नर के मनःप्रान्त निस्पृह में।

गरल-द्रोह-विस्फोट-हेतु का करके सफल निवारण,
मनुज-प्रकृति ही करती शीतल रूप शान्ति का धारण।
जब होती अवतीर्ण शान्ति यह, भय न शेष रह जाता,
शंका-तिमिर-ग्रस्त फिर कोई नहीं देश रह जाता।

शान्ति! सुशीतल शान्ति! कहाँ वह समता देनेवाली?
देखो, आज विषमता की ही वह करती रखवाली।

आनन सरल, वचन मधुमय है, तन पर शुभ्र वसन है,
बचो युधिष्ठिर! इस नागिन का विष से भरा दशन है।

यह रखती परिपूर्ण नृपों से जरासन्ध की कारा,
शोणित कभी, कभी पीती है तप्त अश्रु की धारा।
कुरुक्षेत्र में जली चिता जिसकी, वह शान्ति नहीं थी;
अर्जुन की धन्वा चढ़ बोली, वह दुष्क्रान्ति नहीं थी।

थी परस्वग्रासिनी भुजंगिनि, वह जो जली समर में,
असहनशील शौर्य था, जो बल उठा पार्थ के शर में।
नहीं हुआ स्वीकार शान्ति को जीना जब कुछ देकर,
टूटा पुरुष काल-सा उस पर प्राण हाथ में लेकर।

पापी कौन? मनुज से उसका न्याय चुरानेवाला?
याकि न्याय खोजते विघ्न का शीश उड़ानेवाला?
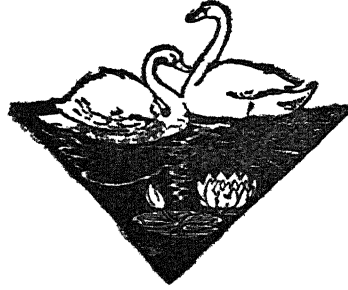
भीष्म का पश्चात्ताप

नर की कीर्त्ति-ध्वजा उस दिन कट गयी देश में जड़ से,
नारी ने सुर को टेरा जिस दिन निराश हो नर से।
महासमर आरम्भ देश में होना था उस दिन ही,
उठा खड्ग यह पंक रुधिर से धोना था उस दिन ही।

निर्दोषा, कुल-वधू, एकवस्त्रा को खींच महल से,
दासी बना सभा में लायें दुष्ट द्यूत के छल से।
और सभी के सम्मुख लज्जावसन अभय हो खोलें,
बुद्धि-विपण्ण वीर भारत के किन्तु, नहीं कुछ बोलें।

समझ सकेगा कौन धर्म की यह नव रीति निराली?
थूकेंगी हम पर अवश्य सन्ततियाँ आनेवाली।
उस दिन की स्मृति से छाती अब भी जलने लगती है,
भीतर कहीं छुरी कोई हृत् पर चलने लगती है!

धिक्-धिक् मुझे; हुई उत्पीड़ित सम्मुख राज-वधूटी,
आँखों के आगे अबला की लाज खलों ने लूटी।
और रहा जीवित मैं, धरणी फटी न दिग्गज डोला,
गिरा न कोई वज्र, न अम्बर गरज क्रोध में बोला।

जिया प्रज्वलित अंगारे-सा मैं आजीवन जग में,
रुधिर नहीं था, आग पिघल कर बहती थी रग-रग में।
यह जन कभी किसी का अनुचित दर्प न सह सकता था,
कहीं देख अन्याय किसी का मौन न रह सकता था।

सो, कलंक वह लगा नहीं धुल सकता जो धोने से,
भीतर ही भीतर जलने या कण्ठ फाड़ रोने से।

अपने वीर-चरित पर तो मैं प्रश्न लिये जाता हूँ,
धर्मराज! पर, तुम्हें एक उपदेश दिये जाता हूँ।

शूरधर्म है अभय दहकते अंगारों पर चलना,
शूरधर्म है शाणित असि पर धर कर चरण मचलना।
शूरधर्म कहते हैं छाती तान तीर खाने को,
शूरधर्म कहते हँस कर हालाहल पी जाने को।

आग हथेली पर सुलगा कर सिर का हवन चढ़ाना,
शूरधर्म है जग को अनुपम बलि का पाठ पढ़ाना।
सबसे बड़ा धर्म है नर का सदा प्रज्वलित रहना,
दाहक शक्ति समेट स्पर्श भी नही किसी का सहना।

बुझा बुद्धि का दीप वीरवर आँख मूँद चलते हैं,
उछल वेदिका पर चढ़ जाते और स्वयं बलते हैं।
बात पूछने को विवेक से जभी वीरता जाती,
पी जाती अपमान पतित हो, अपना तेज गँवाती।

सच है, बुद्धि-कलश में जल है, शीतल सुधा तरल है,
पर, भूलो मत कुसमय में हो जाता वही गरल है।
सदा नहीं मानापमान की बुद्धि उचित सुधि लेती,
करती बहुत विचार, अग्नि की शिखा बुझा है देती।

उसने ही दी बुझा तुम्हारे पौरुष की चिनगारी,
जली न आँख देखकर खिंचती, द्रुपद-सुता की साड़ी।
बाँध उसी ने मुझे द्विधा में बना दिया कायर था,
जगूँ-जगूँ जबतक, तबतक तो निकल चुका अवसर था।

यौवन चलता सदा गर्व से सिर ताने, शर खींचे,
झुकने लगता किन्तु, क्षीणबल वय विवेक के नीचे।

यौवन के उच्छल प्रवाह को देख मौन, मन मारे,
सहमी हुई बुद्धि रहती है निश्चल खड़ी किनारे।

डरती है, बह जाय नहीं तिनके-सी इस धारा में,
प्लावन-भीत स्वयं छिपती फिरती अपनी कारा में।
हिम-विमुक्त, निर्विघ्न, तपस्या पर खिलता यौवन है,
नयी दीप्ति, नूतन सौरभ से रहता भरा भुवन है।

किन्तु, बुद्धि नित खड़ी ताक में रहती घात लगाये,
कब जीवन का ज्वार शिथिल हो, कब वह उसे दबाये।
और सत्य ही, जभी रुधिर का वेग तनिक कम होता,
सुस्ताने को कहीं ठहर जाता जीवन का सोता।

बुद्धि फेंकती तुरत जाल निज, मानव फँस जाता है,
नयी-नयी उलझनें लिये जीवन सम्मुख आता है।
क्षमा या कि प्रतिकार, जगत् में क्या कर्त्तव्य मनुज का?
मरण या कि उच्छेद? उचित उपचार कौन है रुज का?

'बल-विवेक में कौन श्रेष्ठ है? असि-वरेण्य या अनुनय?
पूजनीय रुधिराक्त विजय? या करुणा-धौत पराजय?
दो में कौन पुनीत शिखा है? आत्मा की? या मन की?
शमिततेज वय की मति शिव? या गति उच्छल यौवन की?

जीवन की है श्रान्ति घोर, हम जिसको वय कहते हैं,
थके सिंह आदर्श ढूँढ़ते, व्यंग्य-बाण सहते हैं।
वय हो बुद्धि-अधीन चक्र पर विवश घूमता जाता,
भ्रम को रोक समय को उत्तर तुरत नहीं दे पाता।

तब तक तेज लूट पौरुष का काल चला जाता है,
वय-जड़ मानव ग्लानि-मग्न हो रोता पछताता है।

वय का फल भोगता रहा मैं रुका सुयोधन-घर में,
रही वीरता पड़ी तड़पती बन्द अस्थि-पंजर में।

न तो कौरवों का हित साधा और न पाण्डव का ही,
द्वन्द्व-बीच उलझा कर रक्खा वय ने मुझे सदा ही।
धर्म, स्नेह, दोनों प्यारे थे, बड़ा कठिन निर्णय था,
अतः, एक को देह, दूसरे को दे दिया हृदय था।

किन्तु, फटी जब घटा, ज्योति जीवन की पड़ी दिखायी,
सहसा सैकत-बीच स्नेह की धार उमड़ कर छायी।
धर्म पराजित हुआ, स्नेह का डंका बजा विजय का,
मिली देह भी उसे, दान था जिसको मिला हृदय का।

भीष्म न गिरा पार्थ के शर से, गिरा भीष्म का वय था,
वय का तिमिर भेद वह मेरा यौवन हुआ उदय था।
हृदय प्रेम को चढ़ा, कर्म को भुजा समर्पित करके,
मैं आया था कुरुक्षेत्र में तोष मनों में भरके।

समझा था मिट गया द्वन्द्व पाकर यह न्याय-विभाजन,
ज्ञात न था, है कहीं कर्म से कठिन स्नेह का बन्धन।
दिखा धर्म की भीति, कर्म मुझसे सेवा लेता था,
करने को वलि पूर्ण स्नेह नीरव इंगित देता था।

धर्मराज, संकट में कृत्रिम पटल उघर जाता है,
मानव का सच्चा स्वरूप खुल कर बाहर आता है।
घमासान ज्यों बढ़ा, चमकने धुँधली लगी कहानी,
उठी स्नेह-वन्दन करने को मेरी दबी जवानी।

फटा बुद्धि-भ्रम, हटा कर्म का मिथ्या जाल नयन से,
प्रेम अधीर पुकार उठा मेरे शरीर से, मन से—

लो, अपना सर्वस्व पार्थ! यह मुझको मार गिराओ,
अब है विरह असह्य, मुझे तुम स्नेह-धाम पहुँचाओ।

ब्रह्मचर्य के प्रण के दिन जो रुद्ध हुई थी धारा,
कुरुक्षेत्र में फूट उसीने बन कर प्रेम पुकारा।
बही न कोमल वायु, कुंज मन का था कभी न डोला,
पत्तों की झुरमुट में छिप कर विहग न कोई बोला।

चढ़ा किसी दिन फूल, किसी का मान न मैं कर पाया,
एक बार भी अपने को था दान न मैं कर पाया।
वह अतृप्ति थी छिपी हृदय के किसी निभृत कोने में,
जा बैठा था आँख बचा जीवन चुपके दोने में।

वही भाव आदर्श-वेदि पर चढ़ा फुल्ल हो रण में,
बोल रहा है वही मधुर पीड़ा बन कर व्रण-व्रण में।
मैं था सदा सचेत, नियन्त्रण-वन्ध प्राण पर बाँधे,
कोमलता की ओर शरासन तान निशाना साधे।

पर, न जानता था, भीतर कोई माया चलती है,
भाव-गर्त के गहन वितल में शिखा गुप्त जलती है।
वीर सुयोधन का सेनापति बन लड़ने आया था;
कुरुक्षेत्र में नहीं स्नेह पर मैं मरने आया था।

सच है, पार्थ-धनुष पर मेरी भक्ति बहुत गहरी थी,
सच है, उसे देख उठती मन में प्रमोद-लहरी थी।
सच है, था चाहता पाण्डवों का हित मैं सन्मन से,
पर, दुर्योधन के हाथों में बिका हुआ था तन से।

न्याय-व्यूह को भेद स्नेह ने उठा लिया निज धन है,
सिद्ध हुआ मन जिसे मिला, संपत्ति उसी की तन है।

प्रकटी होती मधुर प्रेम की मुझ पर कहीं अमरता,
स्यात् देश को कुरुक्षेत्र का दिन न देखना पड़ता।

धर्मराज, अपने कोमल भावों की कर अवहेला,
लगता है, मैंने भी जग को रण की ओर ढकेला।
जीवन के अरुणाभ प्रहर में कर कठोर व्रत धारण,
सदा स्निग्ध भावों का यह जन करता रहा निवारण।

न था मुझे विश्वास, कर्म से स्नेह श्रेष्ठ, सुन्दर है,
कोमलता की लौ व्रत के आलोकों से बढ़कर है।
कर में चाप, पीठ पर तरकस, नीति-ज्ञान था मन में,
इन्हें छोड़ मैंने देखा कुछ और नहीं जीवन में।

जहाँ कभी अन्तर में कोई भाव अपरिचित जागे,
झुकना पड़ा उन्हें बरबस, नय-नीति-ज्ञान के आगे।
सदा सुयोधन के कृत्यों से मेरा क्षुब्ध हृदय था;
पर क्या करता, यहाँ सबल थी नीति, प्रबलतम नय था?

अनुशासन का स्वत्व सौंप कर स्वयं नीति के कर में,
पराधीन सेवक बन बैठा मैं अपने ही घर में।
बुद्धि शासिका थी जीवन की, अनुचर मात्र हृदय था,
मुझसे कुछ खुलकर कहने में लगता उसको भय था।

कह न सका वह कभी, भीष्म! तुम कहाँ बहे जाते हो?
न्याय-दण्ड-धर होकर भी अन्याय सहे जाते हो।
प्यार पाण्डवों पर मन से, कौरव की सेवा तन से;
सध पायेगा कौन काम इस बिखरी हुई लगन से?

बढ़ता हुआ वैर भीषण पाण्डव से दुर्योधन का,
मुझमें बिम्बित हुआ द्वन्द्व बनकर शरीर से मन का।

किन्तु, बुद्धि ने मुझे भ्रमित कर दिया नहीं कुछ करने,
स्वत्व छीन अपने हाथों का हृदय-वेदि पर धरने।

कभी दिखाती रही वैर के स्वयं-शमन का सपना,
कहती रही कभी, जग में है कौन पराया, अपना।
कभी कहा, तुम बढ़े, धीरता बहुतों की छूटेगी,
होगा विप्लव घोर, व्यवस्था की सरणी टूटेगी।

कभी वीरता को उभार रोका अरण्य जाने से,
वंचित रखा विविध विविध मुझको इच्छित फल पाने से।
आज सोचता हूँ, उसका यदि कहा न माना होता,
स्नेह-सिद्ध शुचि रूप न्याय का यदि पहचाना होता;

धो पाता यदि राजनीति का कलुष स्नेह के जल से,
दण्डनीति को कहीं मिला पाता करुणा निर्मल से;
लिख पायी सत्ता के उर पर जीभ नहीं जो गाथा,
विशिख-लेखनी से लिखने मैं उसे कहीं उठ पाता;

कर पाता यदि मुक्त हृदय को मस्तक के शासन से
उतर पकड़ता बाँह दलित की मंत्री के आसन से;
राज-द्रोह की ध्वजा उठाकर कहीं प्रचारा होता,
न्याय-पक्ष लेकर दुर्योधन को ललकारा होता;

स्यात्, सुयोधन भीत उठाता पग कुछ अधिक सँभल के,
भरतभूमि पड़ती न स्यात् संगर में आगे चल के।
पर, सब कुछ हो चुका, नहीं कुछ शेष, कथा जाने दो,
भूलो बीती बात, नये युग को जग में आने दो।

मुझे शान्ति, यात्रा से पहले मिले सभी फल मुझको
सुलभ हो गये धर्म, स्नेह, दोनों के संबल मुझको।

अभिनव मनुष्य

है बहुत बरसी धरित्री पर अमृत की धार,
पर, नहीं अबतक सुशीतल हो सका संसार।
भोग-लिप्सा आज भी लहरा रही उद्दाम,
बह रही असहाय नर की भावना निष्काम;

भीष्म हों अथवा युधिष्ठिर, याकि हों भगवान,
बुद्ध हों कि अशोक, गाँधी हों कि ईसु महान;
सिर झुका सबको, सभी को श्रेष्ठ निज से मान,
मात्र वाचिक ही उन्हें देता हुआ सम्मान,
दग्ध कर पर को, स्वयं भी भोगता दुख-दाह,
जा रहा मानव चला अब भी पुरानी राह।

अपहरण शोषण वही, कुत्सित वही अभियान,
खोजना चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान;
शील से सुलझा न सकना आपसी व्यवहार,
दौड़ना रह-रह उठा उन्माद की तलवार।
द्रोह से अब भी वही अनुराग,
प्राण में अब भी वही फुंकार भरता नाग।

पूर्वयुग-सा आज का जीवन नहीं लाचार,
आ चुका है दूर द्वापर से बहुत संसार;
यह समय विज्ञान का, सब भाँति पूर्ण, समर्थ;
खुल गये हैं गूढ़ संसृति के अमित गुरु अर्थ।
चीरता तम को, सँभाले बुद्धि की पतवार,
आ गया है ज्योति की नव भूमि में संसार।

आज की दुनिया विचित्र, नवीन;
प्रकृति पर सर्वत्र है विजयी पुरुष आसीन।
हैं बँधे नर के करों में वारि, विद्युत्, भाप,
हुक्म पर चढ़ता-उतरता है पवन का ताप।
हैं नहीं बाकी कहीं व्यवधान,
लाँघ सकता नर सरित्, गिरि, सिन्धु, एक समान।

शीश पर आदेश कर अवधार्य,
प्रकृति के सब तत्त्व करते हैं मनुज के कार्य।
मानते हैं हुक्म मानव का महा वरुणेश,
और करता शब्दगुण अम्बर वहन संदेश।
नव्य नर की मुष्टि में विकराल,
हैं सिमटते जा रहे प्रत्येक क्षण दिक्काल।

यह प्रगति निस्सीम! नर का यह अपूर्व विकास!
चरण-तल भूगोल! मुट्ठी में निखिल आकाश!

किन्तु, है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश;
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।

चाहिए उनको न केवल ज्ञान,
देवता हैं माँगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान;
मोम-सी कोई मुलायम चीज,
ताप पाकर जो उठे मन में पसीज-पसीज;
प्राण के झुलसे विपिन में फूल कुछ सुकुमार;
ज्ञान के मरु में सुकोमल भावना की धार;

चाँदनी की रागिनी, कुछ भोर की मुसकान;
नींद में भूली हुई बहती नदी का गान;
रंग में घुलता हुआ खिलती-कली का राज;
पत्तियों पर गूँजती कुछ ओस की आवाज;
आँसुओं में दर्द की गलती हुई तस्वीर;
फूल की, रस में बसी, भींगी हुई, जंजीर।
धूम, कोलाहल, थकावट धूल के उस पार,
शीत जल से पूर्ण कोई मन्दगामी धार;
वृक्ष के नीचे जहाँ मन को मिले विश्राम,
आदमी काटे जहाँ कुछ छुट्टियाँ, कुछ शाम,
कर्म-संकुल लोक-जीवन से समय कुछ छीन,
हो जहाँ पर बैठ नर कुछ पल स्वयं में लीन—
फूल-सा एकान्त में उर खोलने के हेतु,
शाम को दिन की कमाई तोलने के हेतु।

ले चुकी सुख-भाग समुचित से अधिक है देह,
देवता हैं माँगते मन के लिए लघु गेह।

हाय रे मानव, नियति का दास!
हाय रे मनुपुत्र, अपना आप ही उपहास!
प्रकृति की प्रच्छन्नता को जीत,
सिन्धु से आकाश तक सबको किये भयभीत;
सृष्टि को निज बुद्धि से करता हुआ परिमेय,
चीरता परमाणु की सत्ता असीम, अजेय,
बुद्धि के पवमान में उड़ता हुआ असहाय,
जा रहा तू किस दिशा की ओर को निरुपाय?
लक्ष्य क्या? उद्देश्य क्या? क्या अर्थ?
यह नहीं यदि ज्ञात तो विज्ञान का श्रम व्यर्थ?

सुन रहा आकाश चढ़ ग्रह-तारकों का नाद;
एक छोटी बात ही पड़ती न तुझको याद?
एक छोटी, एक सीधी बात,
विश्व में छायी हुई है वासना की रात।
वासना की यामिनी, जिसके तिमिर से हार,
हो रहा नर भ्रान्त अपना आप ही आहार;
बुद्धि में नभ की सुरभि, तन में रुधिर की कीच,
यह वचन से देवता, पर, कर्म से पशु नीच।

यह मनुज,
जिसका गगन में जा रहा है यान,
काँपते जिसके करों को देख कर परमाणु।
खोल कर अपना हृदय गिरि, सिन्धु, भू, आकाश,
हैं सुना जिसको चुके निज गुह्यतम इतिहास।
खुल गये परदे, रहा अब क्या यहाँ अज्ञेय?
किन्तु नर को चाहिए नित विघ्न कुछ दुर्जेय;
सोचने को और करने को नया संघर्ष,
नव्य जय का क्षेत्र, पाने को नया उत्कर्ष।

पर, धरा सुपरीक्षिता, विश्लिष्ट, स्वाद-विहीन,
यह पढ़ी पोथी न दे सकती प्रवेग नवीन।
एक लघु हस्तामलक यह भूमि-मंडल गोल,
मानवों ने पढ़ लिये सब पृष्ठ जिसके खोल।
किन्तु, नर-प्रज्ञा सदा गतिशालिनी, उद्दाम,
ले नहीं सकती कहीं रुक एक पल विश्राम।
यह परीक्षित भूमि, यह पोथी पठित, प्राचीन,
सोचने को दे उसे अब बात कौन नवीन?

यह लघुग्रह भूमिमण्डल, व्योम यह संकीर्ण,
चाहिए नर को नया कुछ और जग विस्तीर्ण।

घुट रही नर-बुद्धि की है साँस;
चाहती वह कुछ बड़ा जग, कुछ बड़ा आकाश।
यह मनुज, जिसके लिए लघु हो रहा भूगोल,
अपर ग्रह-जय की तृषा जिसमें उठी है बोल।
यह मनुज विज्ञान में निष्णात,
जो करेगा, स्यात्, मङ्गल और विधु से बात।

यह मनुज, ब्रह्माण्ड का सबसे सुरम्य प्रकाश,
कुछ छिपा सकते न जिससे भूमि या आकाश।
यह मनुज, जिसकी शिखा उद्दाम,
कर रहे जिसको चराचर भक्तियुक्त प्रणाम।
यह मनुज, जो सृष्टि का शृंगार,
ज्ञान का, विज्ञान का, आलोक का आगार।

पर, सको सुन तो सुनो, मंगल जगत् के लोग!
तुम्हें छूने को रहा जो जीव कर उद्योग—
वह अभी पशु है; निरा पशु, हिंस्र, रक्त-पिपासु,
बुद्धि उसकी दानवी है स्थूल की जिज्ञासु,
कड़कता उसमें किसी का जब कभी अभिमान,
फूँकने लगते सभी, हो मत्त, मृत्यु-विषाण।

यह मनुज ज्ञानी, शृगालों, कुक्कुरों से हीन—
हो, किया करता अनेकों क्रूर कर्म मलीन।
देह की लड़ती नहीं, हैं जूझते मन-प्राण,
साथ होते ध्वंस में इसके कला-विज्ञान।

इस मनुज के हाथ में विज्ञान के भी फूल,
वज्र होकर छूटते शुभ धर्म अपना भूल।

यह मनुज, जो ज्ञान का आगार!
यह मनुज, जो सृष्टि का शृंगार!
नाम सुन भूलो नहीं, सोचो-विचारो कृत्य,
यह मनुज, संहार-सेवी, वासना का भृत्य।
छद्म इसकी कल्पना, पाषण्ड इसका ज्ञान,
यह मनुष्य, मनुष्यता का घोरतम अपमान।

'व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है ज्ञेय',
पर, न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय।
श्रेय उसका, बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत;
श्रेय मानव की असीमित मानवों से प्रीत;
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान
तोड़ दे जो, बस, वही ज्ञानी, वही विद्वान,
और मानव भी वही।

जो जीव बुद्धि-अधीर
तोड़ता अणु ही, न इस व्यवधान का प्राचीर;
वह नहीं मानव; मनुज से उच्च, लघु या भिन्न,
चित्र-प्राणी है किसी अज्ञात ग्रह का छिन्न।
स्यात्, मंगल या शनिश्चर लोक का अवदान,
अजनबी करता सदा अपने ग्रहों का ध्यान।

रसवती भू के मनुज का श्रेय,
यह नहीं विज्ञान, विद्या-बुद्धि यह आग्नेय;
विश्व-दाहक, मृत्यु-वाहक, सृष्टि का संताप,
भ्रान्त पथ पर अन्ध बढ़ते ज्ञान का अभिशाप।

भ्रमित प्रज्ञा का कुतुक यह इन्द्रजाल विचित्र,
श्रेय मानव के न आविष्कार ये अपवित्र।

सावधान, मनुष्य! यदि विज्ञान है तलवार,
तो इसे दे फेंक, तज कर मोह, स्मृति के पार।
हो चुका है सिद्ध, है तू शिशु अभी अज्ञान;
फूल-काँटों की तुझे कुछ भी नहीं पहचान,
खेल सकता तू नहीं ले हाथ में तलवार,
काट लेगा अंग, तीखी है बड़ी यह धार।

रसवती भू के मनुज का श्रेय,
यह नहीं विज्ञान कटु, आग्नेय।
श्रेय उसका प्राण में बहती प्रणय की वायु,
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।
श्रेय उसका, आँसुओं की धार,
श्रेय उसका भग्न वीणा की अधीर पुकार।
दिव्य भावों के जगत् में जागरण का गान,
मानवों का श्रेय आत्मा का किरण-अभियान।
यजन, अर्पण, आत्मसुख का त्याग,
श्रेय मानव का तपस्या की दहकती आग।
बुद्धि-मन्थन से विनिर्गत श्रेय वह नवनीत
जो करे नर के हृदय को स्निग्ध, सौम्य, पुनीत।
श्रेय वह विज्ञान का वरदान,
हो सुलभ सबको सहज जिसका रुचिर अवदान।
श्रेय वह नर-बुद्धि का शिवरूप आविष्कार,
ढो सके जिससे प्रकृति सबके सुखों का भार।
मनुज के श्रम के अपव्यय की प्रथा रुक जाय,
सुख-समृद्धि-विधान में नर के प्रकृति झुक जाय।

श्रेय होगा मनुज का समता-विधायक ज्ञान,
स्नेह-सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण।
एक नर में अन्य का निःशंक, दृढ़ विश्वास,
धर्मदीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास,
समर, शोषण, ह्रास की विरुदावली से हीन,
पृष्ठ जिसका एक भी होगा न दग्ध, मलीन।
मनुज का इतिहास जो होगा सुधामय कोष,
छलकता होगा सभी नर का जहाँ संतोष।
युद्ध की ज्वर-भीति से हो मुक्त,
जब कि होगी, सत्य ही, वसुधा सुधा से युक्त।

श्रेय होगा सुष्ठु-विकसित मनुज का वह काल,
जब नहीं होगी धरा नर के रुधिर से लाल।
श्रेय होगा धर्म का आलोक वह निर्बन्ध,
मनुज जोड़ेगा मनुज से जब उचित सम्बन्ध।

युगान्त

[भीष्म की उक्ति]

अन्त नहीं नर-पंथ का, कुरुक्षेत्र की धूल,
आँसू बरसे तो यहीं, खिले शान्ति का फूल ।

द्वापर समाप्त हो रहा है धर्मराज, देखो,
लहर समेटने लगा है एक पारावार;
जग से विदा हो जा रहा है कालखण्ड एक,
साथ लिये अपनी समृद्धि की चिता का क्षार;
संयुग की धूलि में समाधि युग की ही बनी,
बह रही जीवन की आज भी अजस्र धार;
गत ही अचेत हो गिरा है मृत्यु-गोद बीच,
निकट मनुष्य के अनागत रहा पुकार।

मृत्ति के अधूरे, स्थूल भाग ही मिटे हैं यहाँ,
नर का जला है नहीं भाग्य इस रण में ;
शोणित में डूबा है मनुष्य, मनुजत्व नहीं,
छिपता फिरा है देह छोड़ वह मन में ;
आशा है मनुष्य की मनुष्य में, न ढूँढ़ो उसे
धर्मराज, मानव का लोक छोड़ वन में ;
आशा मनुजत्व की विजेता के विलाप में है,
आशा है मनुष्य की तुम्हारे अश्रुकण में।

रण में प्रवृत्त रागप्रेरित मनुष्य होता,
रहती विरक्त किन्तु, मानव की मति है ;

मन से कराहता मनुष्य, पर, ध्वंस-बीच
तन से नियुक्त उसे करती नियति है;
प्रतिशोध से हो दृप्त वासना हँमानी उमे,
मन को कुरेदती मनुष्यता की क्षति है;
वासना-विराग, दो कगारों में पछाड़ खाती,
जा रही मनुष्यता बनाती हुई गति है।

ऊंचा उठ देखो तो किरीट, राज, धन, तप,
जप, याग, योग से मनुष्यता महान है;
धर्मसिद्ध रूप नहीं भेद-भिन्नता का यहाँ,
कोई भी मनुष्य किसी अन्य के समान है;
वह भी मनुष्य है न धन और बल जिसे,
मानव ही वह जो धनी या बलवान है;
मिला जो निसर्ग-सिद्ध जीवन मनुष्य को है,
उसमें न दीखता कहीं भी व्यवधान है।

अबतक किन्तु, नहीं मानव है देख सका
शृंग चढ़ जीवन की समता-अमरता;
प्रत्यय मनुष्य का मनुष्य में न दृढ़ अभी,
एक दूसरे से अभी मानव है डरता।
और है रहा सदैव शंकित मनुष्य यह
एक दूसरे में द्रोह-द्वेष-विष भरता;
किन्तु, अबतक है मनुष्य बढ़ता ही गया
एक दूसरे से सदा लड़ता-झगड़ता।

कोटि नर-वीर, मुनि मानव के जीवन का
रहे खोजते ही शिवरूप आयु-भर हैं;

खोजते इसे ही सिन्धु मथित हुआ है और
छोड़े गये व्योम में अनेक ज्ञान-शर हैं;
खोजते इसे ही पाप-पंक में मनुष्य गिरे,
खोजते इसे ही बलिदान हुए नर हैं;
खोजते इसे ही मानवों ने है विराग लिया,
खोजते इसे ही किये ध्वंसक समर हैं।

खोजना इसे हो तो जलाओ शुभ्र ज्ञान-दीप,
आगे बढ़ो वीर, कुरुक्षेत्र के श्मशान से;
राग में विरागी, राजदण्डधर योगी बनो,
नर को दिखाओ पन्थ त्याग-बलिदान से;
दलित मनुष्य में मनुष्यता के भाव भरो,
दर्प की दुरग्नि करो दूर बलवान से;
हिम-शीत भावना में आग अनुभूति की दो,
छीन लो हलाहल उदग्र अभिमान से।

रण रोकना है तो उखाड़ विषदन्त फेंको,
वृक-व्याघ्र-भीति से मही को मुक्त कर दो;
अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र,
दाँतों में कराल कालकूट-विष भर दो;
वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलने का वर दो;
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष,
उसकी शिराएँ तोड़ो, डालियाँ कतर दो।

निवृत्ति

[भीष्म की उक्ति]

नर है विकृत, अतः, नरपति चाहिए धर्म-ध्वज-धारी,
राजतंत्र है हेय, इसीसे राजधर्म है भारी।
धर्मराज, संन्यास खोजना कायरता है मन की,
है सच्चा मनुजत्व ग्रन्थियाँ सुलझाना जीवन की।

दुर्लभ नहीं मनुज के हित, निज वैयक्तिक सुख पाना,
किन्तु, कठिन है कोटि-कोटि मनुजों को सुखी बनाना।
एक पन्थ है, छोड़ जगत् को अपने में रम जाओ,
खोजो अपनी मुक्ति और निज को ही सुखी बनाओ।

अपर पन्थ है, औरों को भी निज विवेक-बल देकर,
पहुँचो स्वर्ग-लोक में जग से साथ बहुत को लेकर।
जिस तप से तुम चाह रहे पाना केवल निज सुख को,
कर सकता है दूर वही तप अमित नरों के दुख को।

निज तप रखो चुरा निज हित बोलो, क्या न्याय यही है?
क्या समष्टि-हित मोक्ष-दान का उचित उपाय यही है?
निज को ही देखो न युधिष्ठिर! देखो निखिल भुवन को,
स्ववत् शान्ति-सुख की ईहा में निरत, व्यग्र जन-जन को।

माना, इच्छित शान्ति तुम्हारी तुम्हें मिलेगी वन में,
चरण-चिह्न पर कौन छोड़ जाओगे यहाँ भुवन में?
स्यात्, दुःख से तुम्हें कहीं निर्जन में मिले किनारा,
शरण कहाँ पायेगा पर, यह दह्यमान जग सारा?

और कहीं आदर्श तुम्हारा ग्रहण करें नर-नारी,
तो फिर, जाकर बसे विपिन में उखड़ सृष्टि यह सारी।
बसी भूमि मरघट बन जाये, राजभवन हो सूना,
जिससे डरता यती उसी का वन बन जाय नमूना।

त्रिविध ताप में लगें वहाँ भी जलने यदि पुरवासी,
तो फिर भागे उठा कमण्डलु वन से भी संन्यासी।
धर्मराज, क्या यती भागता कभी गेह या वन से?
सदा भागता फिरता है वह एक मात्र जीवन से।

वह चाहता सदैव मधुर रस, नहीं तिक्त या लोना।
वह चाहता सदैव प्राप्ति ही, नहीं कभी कुछ खोना।
प्रमुदित पाकर विजय, पराजय देख खिन्न होता है,
हँसता देख विकास, ह्रास को देख बहुत रोता है।

रह सकता न तटस्थ, खीझता, रोता, अकुलाता है,
कहता, क्यों जीवन उसके अनुरूप न बन जाता है।
लेकिन, जीवन जड़ा हुआ है सुघड़ एक ढाँचे में,
अलग-अलग वह ढला करे किसके-किसके साँचे में?

यह अरण्य, झुरमुट जो काटे, अपनी राह बना ले,
क्रीत दास यह नहीं किसी का, जो चाहे अपना ले।
जीवन उनका नहीं युधिष्ठिर, जो उससे डरते हैं,
वह उनका, जो चरण रोप, निर्भय होकर लड़ते हैं।

यह पयोधि सबका मुख करता विरत लवणकटु जल से,
देता सुधा उन्हें जो मथते इसे मन्दराचल से।
विना चढ़े फुनगी पर जो चाहता सुधाफल पाना,
पीना रस-पीयूष, किन्तु, यह मन्दर नहीं उठाना।

खारा कह जीवन-समुद्र को वही छोड़ देता है,
सुधा-सुरा-मणि-रत्न-कोष से पीठ फेर लेता है।
भाग खड़ा होता जीवन से स्यात्, सोच यह मन में,
सुख का अक्षय कोष कहीं प्रक्षिप्त पड़ा है वन में।

जाते ही वह जिसे प्राप्त कर सब कुछ पा जायेगा,
गेह नहीं छोड़ा कि देह धर फिर न कभी आयेगा।
जनाकीर्ण जग से व्याकुल हो निकल भागना वन में,
धर्मराज, है घोर पराजय नर की जीवन रण में।

यह निवृत्ति है ग्लानि, पलायन का यह कुत्सित क्रम है,
निःश्रेयस् यह श्रमित, पराजित, विजित बुद्धि का भ्रम है।
इसे दीखती मुक्ति रोर से श्रवण मूँद लेने में
और दहन से परित्राण-पथ पीठ फेर देने में।

मरुद्गीत प्रतिकाल छिपाती सजग, क्षीण-बल तप को,
छाया में डूबती छोड़कर जीवन के आतप को।
कर्म-लोक से दूर पलायन-कुंज बसा कर अपना
निरी कल्पना में देखा करती अलभ्य का सपना।

वह सपना जिस पर अंकित उँगली का दाग नहीं है,
वह सपना जिसमें ज्वलन्त जीवन की आग नहीं है।
वह सपनों का देश, कुसुम ही कुसुम जहाँ खिलते हैं,
उड़ती कहीं न धूल, न पथ में कण्टक ही मिलते हैं।

कटु की नहीं, मात्र सत्ता है जहाँ मधुर-कोमल की,
लौह पिघल कर जहाँ रश्मि बन जाता विधुमण्डल की।
जहाँ मानती हुक्म कल्पना का, जीवन-धारा है,
होता सब कुछ वही जो कि मानव-मन को प्यारा है।

उस विरक्त से पूछो, मन से वह जो देख रहा है,
उस कल्पना - जनित जग का भू पर अस्तित्व कहाँ है ?
कहाँ वीथि है वह, सेवित है जो केवल फूलों से ?
कहाँ पन्थ वह, जिस पर छिलते चरण नहीं शूलों से ?

कहाँ वाटिका वह, रहती जो सतत प्रफुल्ल, हरी है ?
व्योम-खण्ड वह कहाँ कर्म - रज जिसमें नहीं भरी है ?
वह तो भाग छिपा चिन्तन में पीठ फेर कर रण से,
विदा हो गये, पर, क्या इससे दाहक दुःख भुवन से ?

और, कहे, क्या स्वयं उसे कर्तव्य नहीं करना है ?
नही कमा कर सही, भीख से क्या न उदर भरना है ?
कर्मभूमि है निखिल महीतल, जब तक नर की काया,
तब तक है जीवन के अणु-अणु में कर्त्तव्य समाया ।

क्रिया-धर्म को छोड़ मनुज कैसे निज सुख पायेगा ?
कर्म रहेगा साथ, भाग वह जहाँ कहीं जायेगा ।
धर्मराज, कर्मठ मनुष्य का पथ संन्यास नहीं है,
नर जिस पर चलता वह मिट्टी है, आकाश नहीं है ।

ग्रहण कर रहे जिसे आज तुम निर्वेदाकुल मन से,
कर्म - न्यास वह तुम्हें दूर ले जायेगा जीवन से ।
दीपक का निर्वाण बड़ा कुछ श्रेय नहीं जीवन का,
है सद्धर्म दीप्त रख उसको हरना तिमिर भुवन का ।

भ्रमा रही तुमको विरक्ति जो, वह अस्वस्थ, अबल है,
अकर्मण्यता की छाया, वह निरे ज्ञान का छल है ।
बचो युधिष्ठिर, कहीं डुबो दे तुम्हें न यह चिन्तन में,
निष्क्रियता का धूम भयानक भर न जाय जीवन में ।

यह विरक्ति निष्कर्म बुद्धि की ऐसी क्षिप्र लहर है,
एक बार जो उड़ा, लौट सकता न पुनः वह घर है।
यह अनित्य कह-कह कर देती स्वादहीन जीवन को,
निद्रा को जागर्ति बताती, जीवन अचल मरण को।

सत्ता कहती अनस्तित्व को और लाभ खोने को,
श्रेष्ठ कर्म कहती निष्क्रियता में विलीन होने को।
कहती सत्य उसे केवल जो कुछ गोतीत, अलभ है,
मिथ्या कहती उस गोचर को जिसमें कर्म सुलभ है।

कर्महीनता को पनपाती है विलाप के बल से,
काट गिराती जीवन के तरु को विराग के छल से।
सह सकती यह नहीं कर्म-संकुल जग के कल-कल को,
प्रशमित करती अतः, विविध विध नर के दीप्त अनल को।

हर लेती आनन्द-हास कुसुमों का यह चुम्बन से,
और प्रगतिमय कम्पन जीवित, चपल तुहिन के कण से।
शेष न रहते सबल गीत इसके विहंग के उर में,
बजती नहीं बाँसुरी इसकी उद्वेलन के सुर में।

पौधों से कहती यह, तुम मत बढ़ो, वृद्धि ही दुख है,
आत्म-नाश है मुक्ति महत्तम, मुरझाना ही सुख है।
सुविकच, स्वस्थ, सुरम्य सुमन को मरण-भीति दिखला कर,
करती है रस-भंग, काल का भोजन उसे बता कर।

श्री, सौन्दर्य, तेज, सुख सबसे हीन बना देती है,
यह विरक्ति मानव को दुर्बल, दीन बना देती है।
नहीं मात्र उत्साह-हरण करती नर के प्राणों से,
लेती छीन प्रताप भुजा से और दीप्ति बाणों से।

धर्मराज, किसको न ज्ञात है यह कि अनित्य जगत है,
जन्मा कौन, काल का जो नर हुआ नही अनुगत है?
किन्तु, रहे पल-पल अनित्यता ही जिस नर पर छायी,
नश्वरता को छोड़ पड़े कुछ और नहीं दिखलायी।

द्विधामूढ़ वह कर्म योग से कैसे कर सकता है?
कैसे हो सन्नद्ध जगत के रण में लड़ सकता है?
तिरस्कार कर वर्तमान जीवन के उद्वेलन का,
करता रहता ध्यान अहर्निश जो विद्रूप मरण का।

अकर्मण्य वह पुरुष काम किसके, कब आ सकता है?
मिट्टी पर कैसे वह कोई कुसुम खिला सकता है?
सोचेगा वह सदा, निखिल अवनीतल ही नश्वर है,
मिथ्या यह श्रम-भार, कुसुम ही होता कहाँ अमर है?

जग को छोड़ खोजता फिरता अपनी एक अमरता,
किन्तु, उसे भी कभी लील जाती अजेय नश्वरता।
पर, निर्विघ्न सरणि जग की तब भी चलती रहती है,
एक शिखा ले भार अपर का जलती ही रहती है।

झर जाते हैं कुसुम जीर्णदल, नये फूल खिलते हैं,
रुक जाते कुछ, दल में फिर कुछ नये पथिक मिलते हैं।
अकर्मण्य पण्डित हो जाता अमर नहीं रोने से,
आयु न होती क्षीण किसी की कर्म-भार ढोने से।

इतना भेद अवश्य युधिष्ठिर! दोनों में होता है,
हँसता एक मृत्ति पर, नभ में एक खड़ा रोता है।
एक सजाता है धरती का अंचल फुल्ल कमल से,
भरता भूतल में समृद्धि-सुषमा अपने भुजबल से।

पंक झेलता हुआ भूमि का, त्रिविध ताप को सहता,
कभी खेलता हुआ ज्योति से, कभी तिमिर में बहता।
अगम-अतल को फोड़ बहाता धार मृत्ति के पय की,
रस पीता, दुन्दुभी बजाता मानवता की जय की।

होता विदा जगत से, जग को कुछ रमणीय बना कर,
साथ हुआ था, जहाँ, वहाँ से कुछ आगे पहुँचा कर।
और दूसरा, कर्महीन चिन्तन का लिये सहारा,
अम्बुधि में निर्यान खोजता फिरता विफल किनारा।

कर्मनिष्ठ नर की भिक्षा पर सदा पालते तन को,
अपने को निर्लिप्त, अधम बतलाते निखिल भुवन को।
कहता फिरता सदा, जहाँ तक दृश्य, वहाँ तक छल है,
जो अदृश्य, जो अलभ, अगोचर, सत्य वही केवल है।

मानों, सचमुच ही मिथ्या हो कर्मक्षेत्र यह काया,
मानों, पुण्य - प्रताप मनुज के, सचमुच ही, हों माया।
मानों, कर्म छोड़, सचमुच ही, मनुज सुधर सकता हो,
मानों, वह अम्बर पर तजकर भूमि ठहर सकता हो।

कलुष निहित, मानों, सच ही हो जन्म-लाभ लेने में,
भुज से दुख का विषम भार ईषल्लघु कर देने में।
गन्ध, रूप, रस, शब्द, स्पर्श, मानों, सचमुच पातक हों।
रसना, त्वचा, घ्राण, दृग, श्रुति ज्यों मित्र नहीं, घातक हों।

मुक्ति-पन्थ खुलता हो, मानों, सचमुच आत्म-हनन से,
मानों, सचमुच ही जीवन हो सुलभ नहीं जीवन से।
मानों, निखिल सृष्टि यह कोई आकस्मिक घटना हो,
जन्म-साथ उद्देश्य मनुज का मानों, नहीं सना हो।

धर्मराज, क्या दोष हमारा धरती यदि नश्वर है?
भेजा गया, यहाँ पर आया स्वयं न कोई नर है।
निहित न होता भाग्य मनुज का यदि मिट्टी नश्वर में,
चित्र-योनि धर मनुज जनमता, स्यात्, कही अम्बर में—

किरणरूप, निष्काम, रहित हो क्षुधा-तृषा के रुज से,
कर्म-बन्ध से मुक्त, हीन दृग, श्रवण, नयन, पद, भुज से।
किन्तु, मृत्ति है कठिन मनुज को भूख लगा करती है,
त्वच से मन तक विविध भाँति की तृषा जगा करती है।

यह तृष्णा, यह भूख न देती सोने कभी मनुज को,
मन को चिन्तन-ओर, कर्म की ओर भेजती भुज को।
मन का स्वर्ग मृषा वह, जिसको देह न पा सकती है,
इससे तो अच्छा वह, जो कुछ भुजा बना सकती है।

क्योंकि भुजा जो कुछ लाती, मन भी उसको पाता है,
निरा ध्यान, भुज क्या? मन को भी दुर्लभ रह जाता है।
सफल भुजा वह, मन को भी जो भरे प्रमोद-लहर से
सफल ध्यान, अंकन असाध्य रह जाय न जिसका कर से।

जहाँ भुजा का एक पन्थ हो, अन्य पन्थ चिन्तन का,
सम्यक् रूप नही खुलता उस द्वन्द्व-ग्रस्त जीवन का।
केवल ज्ञानमयी निवृत्ति से द्विधा न मिट सकती है,
जगत छोड़ देने से मन की तृषा न घट सकती है।

बाहर नहीं शत्रु, छिप जाये जिसे छोड़ नर वन में,
जाओ जहाँ, वहीं पाओगे इसे उपस्थित मन में।
पर, जिस अरि को यती जीतता जग से बाहर जाकर,
धर्मराज, तुम उसे जीत सकते जग को अपनाकर।

हठयोगी जिसका वध करता आत्म-हनन के क्रम से,
जीवित ही तुम उसे स्व-वश में कर सकते संयम से।
और जिसे पा कभी न सकता संन्यासी, वैरागी,
जग में रह कर हो सकते तुम उस सुख के भी भागी।

वह सुख, जो मिलता असंख्य मनुजों का अपना होकर,
हँस कर उनके साथ हर्ष में और दुःख में रो कर।
वह, जो मिलता भुजा पंगु की ओर बढ़ा देने से,
कन्धों पर दुर्बल-दरिद्र का बोझ उठा लेने से।

सुकृत-भूमि वन ही न, मही यह देखो, बहुत बड़ी है,
पग-पग पर साहाय्य-हेतु दीनता विपन्न पड़ी है।
इसे चाहिए अन्न, वसन, जल, इसे चाहिए आशा,
इसे चाहिए सुदृढ़ चरण, भुज, इसे चाहिए भाषा।

इसे चाहिए वह झाँकी जिसको तुम देख चुके हो,
इसे चाहिए वह मंजिल तुम आकर जहाँ रुके हो।
धर्मराज, जिसके भय से तुम, त्याग रहे जीवन को
उस प्रदाह में देखो जलते हुए समग्र भुवन को।

यदि संन्यास शोध है इसका तो मत युक्ति छिपाओ,
सब हैं विकल, सभी को अपना मोक्ष-मन्त्र सिखलाओ।
जाओ, शमित करो निज तप से नर के रागानल को,
बरसाओ पीयूष, करो अभिषिक्त दग्ध भूतल को।

सिंहासन का भाग छीनकर दो मत निर्जन वन को,
पहचानो निज कर्म युधिष्ठिर! कड़ा करो कुछ मन को।
क्षत-विक्षत है भरत-भूमि का अंग-अंग बाणों से,
त्राहि-त्राहि का नाद निकलता है असंख्य प्राणों से।

कोलाहल है, महा त्रास है, विपद आज है भारी,
मृत्य-विवर से निकल चतुर्दिक् तड़प रहे नर-नारी।
इन्हें छोड़ वन में जाकर तुम कौन शान्ति पाओगे?
चेतन की सेवा तज जड़ को कैसे अपनाओगे?

पोंछो अश्रु, उठो, द्रुत जाओ, वन में नहीं, भुवन में,
होओ खड़े असंख्य नरों की आशा बन जीवन में।
बुला रहा निष्काम कर्म वह, बुला रही है गीता,
बुला रही है तुम्हें आर्त हो मही समर-संभीता।

इस विविक्त, आहत वसुधा को अमृत पिलाना होगा,
अमित लता-गुल्मों में फिर से सुमन खिलाना होगा।
हरना होगा अश्रु-ताप हृत-बन्धु अनेक नरों का,
लौटाना होगा सुहास अगणित विषण्ण अधरों का,

मरे हुओं पर धर्मराज, अधिकार न कुछ जीवन का,
ढोना पड़ता सदा जीवितों को ही भार भुवन का।
मरा सुयोधन जभी, पड़ा यह भार तुम्हारे पाले,
सँभलेगा यह सिवा तुम्हारे किसके और सँभाले?

मिट्टी का यह भार सँभालो बन कर्मठ संन्यासी,
पा सकता कुछ नहीं मनुज बन केवल व्योम-प्रवासी।
ऊपर सब कुछ शून्य-शून्य है, कुछ भी नहीं गगन में,
धर्मराज! जो कुछ है, वह है मिट्टी में, जीवन में।

सम्यक्-विधि से इसे प्राप्त कर नर सब कुछ पाता है,
मृत्ति-जयी के पास स्वयं ही अम्बर भी आता है।
भोगो तुम इस भाँति मृत्ति को, दाग नहीं लग पाये,
मिट्टी में तुम नहीं, वही तुममें विलीन हो जाये।

और सिखाओ भोगवाद की यही रीति जन-जन को,
करें विलीन देह को मन में, नहीं देह में मन को।
मन का होगा आधिपत्य जिस दिन मनुष्य के तन पर,
होगा त्याग अधिष्ठित जिस दिन भोग-लिप्त जीवन पर।

कंचन को नर साध्य नहीं, साधन जिस दिन जानेगा,
जिस दिन सम्यक् रूप मनुज का मानव पहचानेगा।
वल्कल-मुकुट, परे दोनों के, छिपा एक जो नर है,
अन्तर्यामी एक पुरुष जो पिण्डों से ऊपर है।

जिस दिन देख उसे पायेगा मनुज ज्ञान के बल से,
रह न जायगी उलझ दृष्टि जब मुकुट और वल्कल से।
उस दिन होगा सुप्रभात नर के सौभाग्य-उदय का,
उस दिन होगा शंख ध्वनित मानव की महा विजय का।

धर्मराज, गन्तव्य देश है दूर, न देर लगाओ,
इस पथ पर मानव-समाज को कुछ आगे पहुँचाओ।
सच है, मनुज बड़ा पापी है, नर का वध करता है,
पर, भूलो मत, मानव के हित मानव ही मरता है।

लोभ, द्रोह, प्रतिशोध, वैर, नरता के विघ्न अमित हैं,
तप, बलिदान, त्याग के संबल भी न किन्तु, परिमित हैं।
प्रेरित करो इतर प्राणी को निज चरित्र के बल से,
भरो पुण्य की किरण प्रजा में अपने तप निर्मल से।

मत सोचो दिन-रात, पाप में मनुज निरत होता है,
हाय, पाप के बाद वही तो पछताता, रोता है।
यह क्रन्दन, यह अश्रु मनुज की आशा बहुत बड़ी है,
बतलाता है यह, मनुष्यता अबतक नहीं मरी है।

सत्य नहीं पातक की ज्वाला में मनुष्य का जलना,
सच है बल समेट कर उसका फिर आगे को चलना।
नहीं एक अवलम्ब जगत का आभा पुण्य-व्रती की,
तिमिर-व्यूह में फँसी किरण भी आशा है धरती की।

फूलों पर आँसू के मोती और अश्रु में आशा,
मिट्टी के जीवन की छोटी, नपी-तुली परिभाषा।

आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से;
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से;
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से;
स्नेह-वलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।

बापू

(१)

संसार पूजता जिन्हें तिलक, रोली, फूलों के हारों से,
मैं उन्हें पूजता आया हूँ बापू ! अब तक अंगारों से।
अंगार, विभूषण यह उनका विद्युत् पी कर जो आते हैं,
ऊँघती शिखाओं की लौ में चेतना नयी भर जाते हैं।

उनका किरीट, जो कुहा-भंग करते प्रचण्ड हुंकारों से,
रौशनी छिटकती है जग में जिनके शोणित की धारों से।
झेलते वह्नि के वारों को जो तेजस्वी बन वह्नि प्रखर,
सहते ही नहीं, दिया करते विष का प्रचण्ड विष से उत्तर।

अंगार हार उनका, जिनकी सुन हाँक समय रुक जाता है,
आदश जिधर का देते हैं, इतिहास उधर झुक जाता है।
आते जो युग-युग में मिट्टी का चमत्कार दिखलाने को,
ठोंकने पीठ भूमण्डल की नभ-मंडल से टकराने को।

अंगार हार उनका, जिनके आते ही कह उठता अम्बर,
'हम स्ववश नहीं तबतक जबतक धरती पर जीवित है यह नर।'
अंगार हार उनका कि मृत्यु भी जिनकी आग उगलती है,
सदियों तक जिनकी सही हवा के वक्षस्थल पर जलती है।

पर, तू इन सब से परे ; देख तुझको अंगार लजाते हैं,
मेरे उद्वेलित-ज्वलित गीत सामने नहीं हो पाते हैं।

(२)

बापू ! तू वह कुछ नहीं, जिसे ज्वालाएँ घेरे चलती हैं,
बापू ! तू वह कुछ नहीं, दिशाएँ जिसको देख दहलती हैं।

तू सहज शान्ति का दूत, मनुज के सहज प्रेम का अधिकारी,
दृग में उँड़ेलकर सहज शील देखती तुझे दुनिया सारी।

धरती की छाती से अजस्र चिर-संचित क्षीर उमड़ता है,
आँखों में भर कर सुधा तुझे यह अम्बर देखा करता है।
कोई न भीत; कोई न त्रस्त; सब ओर प्रकृति है प्रेम-भरी,
निश्चिन्त जुगाली करती है छाया में पास खड़ी बकरी।

(३)

भू पर तो आते वे भी जो जीता या हारा करते हैं,
मिट्टी में छिपे अनल को अपनी ओर पुकारा करते हैं।
जीते लपटों के बीच मचा धरणी पर भीषण कोलाहल,
जाते-जाते दे जाते हैं भावी युग को निज तेज-अनल।

पर, तू इन सब से भिन्न ज्योति, जेताजेता से महीयान,
कूटस्थ पुरुष! तेरा आसन सब से ऊँचा, सब से महान।
क्या हार-जीत खोजे कोई उस अद्‌भुत पुरुष अहन्ता की,
हो जिसकी संगर-भूमि बिछी गोदी में जगन्नियन्ता की!

संगर की अद्‌भुत भूमि, जहाँ पड़नेवाला प्रत्येक कदम—
है विजय; पराजय भी जिसकी होती न प्रार्थनाओं से कम।
संगर की अद्‌भुत भूमि, नहीं कुछ दाह, न कोई कोलाहल;
चल रहा समर सबसे महान, पर, कहीं नहीं कुछ भी हलचल।

(४)

देवों को जिसपर गर्व, योग्य उस शुचिता के वसुधा भी है,
नर में हैं जहाँ विकार अमित, अन्तर्हित कहीं सुधा भी है।
सब ने देखे विद्वेष-गरल, तू ने देखा अमृतप्रवाह,
सब ने बड़वानल लिया, लिया तू ने करुणा-सागर अथाह।

नर के भीतर की दुनिया में है कहीं अवस्थित देवालय,
सदियों में कभी-कभी कोई मर्मी पाता जिसका परिचय।
देवालय सूना नहीं, देवता हैं, लेकिन, कुछ डरे हुए;
दानव के गर्जन-तर्जन से कुछ भीति-भाव में भरे हुए।

मानवता का मर्मी सुजान! आया तू भीति भगाने को,
अपदस्थ देवता को नर में फिर से अभिषिक्त कराने को।
तू चला, लोग कुछ चौंक पड़े, 'तूफान उठा या आँधी है?'
ईसा की बोली रूह, 'अरे! यह तो बेचारा गाँधी है।

दुनिया ने चाहा प्रश्न करे, क्या कहिये इस दीवाने को?
दो बूँद सुधा लेकर निकला है जग की आग बुझाने को।
पर, तू न रुका ; सीधे अपने निर्दिष्ट पन्थ पर जा निकला,
पद-चिह्नों को देखते हुए पीछे-पीछे इतिहास चला।

(५)

इतिहास चला, पर, नहीं मुग्ध होकर ज्वलन्त भाषाओं से,
वह चला स्वयं प्रेरित होकर अपनी अस्फुट आशाओं से।
मानवता का इतिहास, युद्ध के दावानल से जला हुआ,
मानवता का इतिहास, मनुज की प्रखर बुद्धि से छला हुआ।

मानवता का इतिहास, मनुज की मेधा से घबराता-सा,
मानवता का इतिहास, ज्ञान पर विस्मय-चिह्न बनाता-सा,
मानवता का इतिहास, निराशा से टकराकर फिरा हुआ,
मानवता का इतिहास, आपदाओं में आ कर घिरा हुआ।

मानवता का इतिहास विकल, हाँफता हुआ, लोहू-लुहान;
दौड़ा तुझ से माँगता हुआ बापू! दुःखों से सपदि त्राण।

(६)

पर, त्राण कहाँ ? किस्मत के लाखों भोग अभी तक बाकी हैं
धरती के तन में एक नहीं, सौ रोग अभी तक बाकी हैं।
जल रही आग दुर्गन्ध लिये, छा रहा चतुर्दिक् विकट धूम,
विष के मतवाले कुटिल नाग निर्भय फण जोड़े रहे घूम।

द्वेषों का भीषण तिमिर-व्यूह, पग-पग प्रहरी हैं अविश्वास,
है चमू सजी दानवता की, खिलखिला रहा है सर्वनाश।
पर, हो अधीर मत मानवते ! पर हो, अधीर मत मेरे मन !
है जूझ रही इस व्यूह-बीच धरती की कोमल एक किरण।

अब प्रश्न नहीं, यह एक किरण किस तरह द्वन्द्व से छूटेगी,
है प्रश्न, व्यूह पर इसी तरह बाकी किरणें कब टूटेंगी।
बापू ने राह बना डाली, चलना चाहे, संसार चले,
डगमग होते हों पाँव अगर तो पकड़ प्रेम का तार चले।

(७)

दानवता से मैं भी अधीर, नर पर मेरा भी सहज प्यार,
मैं भी चाहता पकड़ पाऊँ इस अमिट प्रेम का क्षीण तार।
पर, हाय, प्रणय के तार ! छोर बस एक हमारे कर में है,
क्या अन्य छोर भी इसी तरह आबद्ध अपर अन्तर में है ?

उत्तर दे सकता कौन ? शान्त, मेरे शंकाकुल कुटिल हृदय।
जब तक शंकाएँ शेष, नहीं दर्शन दे सकता तुझे प्रणय।
चाहता प्रेम-रस पाना तो हिम्मत कर, बढ़कर बलि हो जा,
मत सोच, मिलेगा क्या पीछे, पहले तो आप स्वयं खो जा।

है प्रेम-लोक का नियम, सहन कर जो बीते,कुछ बोल नहीं;
हैं पाँव खड्ग की धारा पर, चल बँधी चाल में, डोल नहीं।

(८)

ली जाँच प्रेम ने बहुत, मगर, बापू ! तू सदा खरा उतरा,
शूली पर से भी बार-बार तू नूतन ज्योति-भरा उतरा।
प्रेमी की यह पहचान, परुषता को न जीभ पर लाते हैं,
दुनिया देती है जहर, किन्तु, वे सुधा छिड़कते जाते हैं।

जानें, कितने अभिशाप मिले, कितना है पीना पड़ा गरल,
तब भी नयनोंमें ज्योति हरी, तब भी मुख पर मुसकान सरल।
सामान्य मृत्तिका के पुतले, हम समझ नहीं कुछ पाते हैं,
तू ढो लेता किस भाँति पाप जो हम दिन-रात कमाते हैं?

कितना विभेद! हम भी मनुष्य,पर,तुच्छ स्वहित में सदा लीन,
पल-पल चंचल, व्याकुल, विषण्ण, लोहू के तापों के अधीन।
पर, तू तापों से परे, कामना-जयी, एकरस, निर्विकार,
पृथ्वी को शीतल करता है, छाया-द्रुम-सी बाँहें पसार।

(९)

इतिहास आँकता है गाथा, था भरत-भूमि का एक भाग,
संयोग, अकारण वहाँ कभी फुङ्कार उठे विकराल नाग।
विष की ज्वाला से दह्यमान हो उठा व्यग्र सारा खगोल,
मतवाले नाग अशंक चले खोले जिह्वाएँ लोल-लोल।

हंसों के नीड़ लगे जलने, हंसों की गिरने लगी लाश,
नर नहीं, नारियों से होली खेलने लगा खुल सर्वनाश।
कामार्त्त दानवों के नीचे जगदम्बा काँप उठीं थर-थर,
पर, साथ आज ही खड्ग नहीं,पर, साथ आज ही नहीं जहर।

लपटों से लज्जा ढँको, कहाँ हो ! धधको, धधको घोर अनल !
कब तक ढँक पायेंगे इसको रमणी के दो छोटे करतल ?

नारी का शील गिरा खण्डित, कौमार्य गिरा लोहू-लुहान;
भगवान भानु जल उठे क्रुद्ध, चिग्घार उठा यह आसमान।

पर, हिली नहीं कुरुकी परिषद्,पर, हिले नहीं पाण्डव सभीत,
ललकार कौंध कर चली गयी, रह गये सोचते धर्म-नीति।
बापू! तू कलि का कृष्ण,विकल आया आँखों में नीर लिये,
थी लाज द्रौपदी की जाती केशव-सा दौड़ा चीर लिये।

(१०)

इतिहास! परख नूतन विधान, पन्ने समेट ले पुराचीन,
बापू ने कलम उठायी है लिखने को कुछ गाथा नवीन।
थी पड़ी दृष्टि पहले भी क्या तेरी ऐसे नर नामी पर,
जो खुले पाँव निःशंक घूमता हो साँपों की बाँवी पर?

विस्मय है, जिस पर घोर लौह-पुरुषों का कोई बस न चला,
उस गढ़ में कूदा दूध और मिट्टी का बना हुआ पुतला।
सारे संबल के तीन खण्ड, दो वसन, एक सूखी लकड़ी,
सारी सेनाओं का प्रतीक पीछे चलने वाली बकरी।

दानव की आँखों में अशंक अपनी आँखें डालते हुए,
कुछ घृणा कलह से नहीं, प्रेम से ही उसको सालते हुए,
बापू आगे जा रहे, जहर की बाढ़ निघटती जाती है;
सहमी-सहमी-सी अनी तिमिर की पीछे हटती जाती है।

(११)

वह सुनो, सत्य चिल्लाता है ले मेरा नाम अँधेरे में,
करुणा पुकारती है मुझको आबद्ध घृणा के घेरे में।
श्रद्धा, मैत्री, विश्वास, प्रेम, बन्दी हैं मेरे सभी लोग,
धिक्कार मुझे जो सहूँ किसी के भय से मैं इनका वियोग।

देवता चाहते हैं, जाऊँ मैं सत्वर उन्हें बचाने को,
या कारागृह में कूद स्वयं बँधने को या जल जाने को।
मत साथ लगे कोई मेरे, एकाकी आज चलूँगा मैं,
जो आग उन्हें है भून रही उस में जा स्वयं जलूँगा मैं।

एकाकी, हाँ एकाकी हूँ, डँसना चाहे तो व्याल डँसे,
करुणा को जिसने ग्रसा, बढ़े आगे, मुझको वह काल ग्रसे।
मैत्री, विश्वास, अहिंसा को जिस महा दनुज ने खाया है,
है कहाँ छिपा? ले ले, भोजन फिर वैसा ही कुछ आया है।

बाँवी से कढ़ बाहर आवे, वह दनुज मुझे भी खाने को,
मैं हो आया तैयार प्रेम का अन्तिम मोल चुकाने को।
भर गया पेट इतने से ही? मुझको खाने की चाह नहीं?
पर, याद रहे, मैं सहज छोड़ देने वाला हूँ राह नहीं।

बाँवी-बाँवी पर घूम-घूम मैं तबतक अलख जगाऊँगा,
जबतक न हृदय की सीता को तुमसे वापस फिर पाऊँगा।
या दे दूँगा मैं प्राण, खमंडल में हो चाहे जो उपाधि,
मानवता की जो कब्र वही गाँधी की भी होगी समाधि।

(१२)

पाताल, तलातल, अतल, वितल को फोड़ महीतल पर सरसो,
अयि सुधे! गगन से धार बाँध धरती पर द्रुत बरसो, बरसो।
हो रहा बड़ा अतिकाल, मही को भरो, भरो रस-धारा से,
अपनी लहरों पर लो उछाल बापू को विष की कारा से।

यह नहीं प्रतिज्ञा बापू की, विपदा है गहन-गभीर खड़ी,
बन हठी जहर के कीचड़ में धरती की है तकदीर खड़ी।
बापू जो हारे, हारेगा जगतीतल का सौभाग्य-क्षेम,
बापू जो हारे, हारेंगे श्रद्धा, मैत्री, विश्वास, प्रेम।

श्रद्धा, विश्वास, क्षमा, ममता,सत्यता, स्नेह, करुणा अथोर,
सबको सहेज कर बापू ने सागर में दी है नाव छोड़।
भँवरों में यों मत नचा इसे, मत इसे तरंगों पर उछाल;
चिर-सहज क्षुब्धता को समेट शीतल हो जा अम्बुधि विशाल।

देवों की भी है साँस रुकी, सागर! सागर! हो सावधान!
है लदी हुई इस नौका पर मानवता की पूँजी महान,
यह डूब गयी तो डूबेंगे मानवता के सारे सिंगार,
यह पार लगी तो धरती की घायल किस्मत भी लगी पार।

अन्धड़ के झोंके नाच रहे, है नाच रहा विप्लव कराल,
बाँसों उठ-उठ फण पटक रहा सागर का यह विक्षुब्ध व्याल।
नाविक दृग मूँदे, हाथ जोड़ जा बैठा लोक अपर में है,
भगवान! सँभालो, नौका की पतवार तुम्हारे कर में है।

(१३)

बापू! मैं तेरा समयुगीन; है बात बड़ी, पर कहने दे;
लघुता को भूल तनिक गरिमा के महासिन्धु में बहने दे।
यह छोटी-सी भंगुर उमंग पर! कितना अच्छा नाता है,
लगता है पवन वही मुझको जो छू कर तुझको आता है।

सच है कि समय के स्मृति-पट पर रवि-सा होगा तू भासमान,
हम चमक-चमक बुझ जायेंगे क्षीणायु, क्षणिक उडु के समान।
पर, कहीं राम-सा साथ-साथ तेरे पीछे चल पड़ा देश,
बापू! मैं तेरा समयुगीन होकर हूँगा उपकृत विशेष।

(१४)

तू कालोदधि का महास्तंभ, आत्मा के नभ का तुंग केतु,
बापू! तू मर्त्य - अमर्त्य, स्वर्ग-पृथ्वी, भू-नभ का महासेतु।

तेरा विराट यह रूप कल्पना - पट पर नहीं समाता है,
जितना कुछ कहूँ, मगर, कहने को शेष बहुत रह जाता है।

लज्जित मेरे अंगार ; तिलक-माला भी यदि ले आऊँ मैं,
किस भाँति उठूँ इतना ऊपर? मस्तक कैसे छू पाऊँ मैं ?
ग्रीवा तक हाथ न जा सकते, उँगलियाँ न छू सकतीं ललाट,
वामन की पूजा किस प्रकार पहुँचे तुझ तक मानव विराट ? *

जनवरी १९४७ ई०]

* महात्मा गाँधी की नोआखाली-यात्रा के समय विरचित ।

पानी की चाल

सदी[1] नाम के अंग्रेजी-कवि ने यह यश पाया है,
पानी का बहना कविता में जिन्दा दिखलाया है।
उस रचना को देख एक दिन अकबर[2] का मन डोला,
फिर बहाव पर उर्दू की ताकत को उनने तोला।

बहुत क्रियापद जुटा दिखाया यह कौशल बानी का,
कैसा चित्र शब्द ले सकता है बहते पानी का।
बहुत खूब है हुआ महाकवि अकबर का भी कहना,
पंक्ति-पंक्ति में जिन्दा उतरा है पानी का बहना।

और आज है मुझे फिक्र यह, मैं भी कलम उठाऊँ,
हिन्दी की चौड़ी घाटी में दरिया एक बहाऊँ।
लेकिन, कहाँ सदी औ' अकबर? और कहाँ मैं पोला ?
उसपर गजब, कला का अबतक चुस्त नहीं है चोला।

रक्त-हीन जो कला पूजती केवल शब्द-चयन को,
कैसे बाँध सकेगी वह तूफाँ, आँधी, प्लावन को ?
उसपर मैं बहका-बहका-सा हूँ तन-मन से भारी,
कला-पारखी सच ही कहते कुछ-कुछ मुझे अनाड़ी।

टेढ़ी-मेढ़ी चाल नदी की, और राह में रोड़े,
बिगड़ गयी तस्वीर कहीं, तो पीठ गिनेगी कोड़े।
नयी लिखूँ तो सदी और अकबर से भी डरता हूँ,
मगर खैर, कुछ हँसी-हँसी में ही कोशिश करता हूँ।

१—राबर्ट सदी। २—अकबर इलाहाबादी, उर्दू के प्रसिद्ध कवि।

माना मैं कुछ नहीं, कला भी नाजों की पाली है,
सब कुछ सही, मगर, हिन्दी-भाषा तो बलवाली है।
अच्छा, मेरी कठिनाई की पूरी हुई कहानी,
अब देखिये, चला चोटी से उछल-कूदकर पानी।

उठता-गिरता शोर मचाता, पत्थर पर सिर धुनता,
अपने ही गर्जन की चारों ओर प्रतिध्वनि सुनता।
घबराता-सा, शिला-गोद से नीचे उछल उतरता,
फूल-फैलकर पल में घाटी की खाई को भरता।

हा-हा करता, धूम मचाता, बल से अकड़ उबलता,
गर्जमान, पागल-सा मुँह से रह-रह झाग उगलता।
चट्टानों के बीच साँप-सा टेढ़ी राह बनाता,
सरक-सरक चलता, पत्थर से जहाँ-तहाँ टकराता।

अभी ठहर कर यहाँ फूलता, उठता, ऊपर चढ़ता,
अभी वहाँ ढालू पर से हो नीचे दौड़ उतरता।
ताली दे आनन्द मचाता, गाता और बजाता,
गली हुई चाँदी को दिन की आभा में चमकाता।

इस पौधे का फूल चुराकर लहरों पर तैराता,
इसको एक थपेड़ा देता, उसको छेड़ चिढ़ाता।
इस घाटी से अंग बचाता, उस घाटी से सटता,
फटता यहाँ, वहाँ सकुचाता, डरता, सिकुड़-सिमटता।

यहाँ घनी झुरमुट में अपने को हर तरह छिपाता,
वहाँ निकल घासों पर उजली चादर-सी फैलाता।
कहीं बर्फ की चट्टानों में निज को चित्रित करता,
कहीं किनारों के फूलों का बिम्ब हृदय में भरता।

कंकड़ियों पर यहाँ दौड़ता, आगे पैर बढ़ाता,
वहाँ शाल-वन की छाया में ठहर जरा सुस्ताता।
झुकी डालियों के पत्तों को छूता हुआ लहर से,
सुनता कूजित गीत विहग का झुरमुट के भीतर से।

वन के लाखों जीव-जन्तुओं से परिचय दृढ़ करता,
सब की आँखें बचा भागता आगे उठता-गिरता।
लहरों की फौजें असंख्य ले घहराता-हहराता,
देख दूर से ही रुकावटों पर बकता-चिल्लाता।

लो, देखो, वह आ पहुँचा है गाता मस्त सुरों में,
कोलाहल करता खेतों, खलिहानों, गाँव-पुरों में।
चौड़ी छाती फुला अकड़ता, अल्हड़ धूम मचाता,
छाता चारों ओर एक जल-थल का समाँ रचाता।

जिधर उठाओ नजर, उधर है केवल पानी-पानी,
बाढ़ कहो तुम, मगर, यही है चढ़ती हुई जवानी।
कोलाहल है, आर्त्तनाद है, है यह त्रास समाया,
हटो, बचो, अबकी यह पानी काल-सरीखा आया।

और, काल-सा ही यह पानी चला जा रहा बढ़ता।
देहली, दीवारों, ऊँचे टीले, छप्पर पर चढ़ता।
हाँ, देखो, वह चला जा रहा लाखों को कलपाता,
खेत किसी का डुबो, किसीका छप्पर तोड़ बहाता।

बड़े-बड़े बाँधों को टक्कर मार, तोड़ कर बहता,
अपने ही बल के वेगों से व्याकुल उमग उमहता।
टोकों को अनसुनी किये-सा, रोकों से टकराता,
ताल ठोंक सब ओर जवानी के जौहर दिखलाता।

मीलों तक मिट्टी कगार की काट उदर निज भरता,
बड़-बड़े पेड़ों की जड़ पल में उत्पाटिन करता।
महाकाय जल-यानों को भँवरों में घेर नचाता,
बड़े-बड़े गजराजों को पत्तों की तरह बहाता।

गीली मिट्टी लेप बदन में, बना हुआ दीवाना,
छाता बन कर नाश और गाता अलमस्त तराना।
औढर दानी-सा नालों का घर बिन माँगे भरता,
और लुटेरे-सा किसान के हरे खजाने हरता।

टीलों पर चढ़ने को हठयोगी-सा धुनी रमाता,
और नीच-सा खाई में गिर जाने को अकुलाता।
गाँव, शहर, खलिहान, खेत को छूना, अलख जगाता,
चला जा रहा महापथिक-सा हँसता, रोता, गाता।

देखो, गिरि से दूर सिन्धु-तक, जल की एक लड़ी है,
कहूँ कहाँ तक! इस प्रवाह की महिमा बहुत बड़ी है।
बहुत हुआ, अब आज खत्म करता हूँ यहीं कहानी,
गरचे अब भी उसी वेग से बहा जा रहा पानी।

१९४५ ई०]
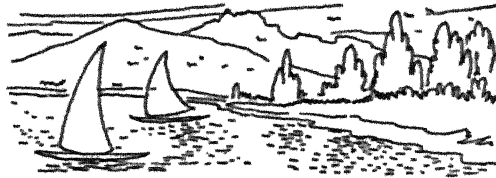
कवि का मित्र

(१)

आहट हुई ; हुई फिर "कोई है ?" की वही पुकार,
कुशल करें भगवान कि आया फिर वह मित्र उदार।
चरणों की आहट तक मैं हूँ खूब गया पहचान,
सुनकर जिसे काँपने लगते थर-थर मेरे प्रान।
मैं न डरूँगा पड़े अगर यमदूतों से भी काम;
मगर, दूर से ही करता हूँ श्रद्धा-सहित प्रणाम
उन्हें, नहीं आकर जो फिर लेते जाने का नाम।

(२)

मेरी कुर्सी खींच, बैठ कर बहुत पूछता हाल,
(कह दूँ, आहट सुनी तुम्हारी, और हुआ बेहाल ?)
उलट-पुलट कविता की कापी देने लगता राय,
कहाँ पंक्तियाँ शिथिल हुई हैं ? कहाँ हुई असहाय ?
देता है उपदेश बहुत, देता है नूतन ज्ञान,
मेरी गन्दी रहन-सहन पर भी देता है ध्यान।
सब कुछ देता, एक नहीं देता अपने से त्राण।

(३)

झपट छीन लेता है मेरे हाथों से अखबार,
कहता, 'क्या पढ़-पढ़ कर डालोगे अपने को मार ?'
फिर कहता, 'कुछ द्रव्य जुगा कर खड़ा करो कुछ काम,
पैसे भी कुछ मिलें और हो दुनिया में भी नाम।'
सब सिगरेट खत्म कर कहता, एक और दो यार,
बक्से खोल, दराज खोलता रह-रह विविध प्रकार।
एक नहीं खोलता कभी बाहर जाने का द्वार।

(४)

कभी-कभी आकर देने लगता है शुभ संवाद,
'रगड़ रहे हैं तुम्हें आजकल फलाँ-फलाँ नक्काद;
मैं सह सकता नहीं तुम्हारा ऐसा तीव्र विरोध,
अभी एक को डाँट दिया, आया ऐसा कुछ क्रोध।'
डिब्बा खोल, पान खा-खा कर करता है आराम,
तरह-तरह की बातें कहता ही रहता अविराम।
लेकिन, कभी नहीं कहता, 'अच्छा, अब चला, प्रणाम।'

(५)

यही नहीं, अनमोल समय की मुझे दिलाकर याद,
कहता, 'तुम गप्पों में करते बहुत वक्त बर्बाद।
जब देखो तब मित्र पड़े है डटकर आठो याम।
इस प्रकार कब तक चल सकता है लेखक का काम ?
आशा कितनी बड़ी लगा तुम से बैठा है देश!
और इधर तुम बकवासों में समय रहे कर शेष।
सिर्फ सुनाना ही है, सुनना स्वय नही उपदेश।

(६)

चाहे जितना सिर खुजलाऊँ, मुद्रा करूँ मलीन,
कलम पकड़, सिर थाम, कल्पना में हो जाऊँ लीन।
चाहे जितने करूँ नाट्य, पर कभी न डिगता वीर,
किसी तरह की मुद्रा से होता है नही अधीर।
कहता, 'हाँ, तुम लिखो; इधर में बैठा हूँ चुपचाप,'
मैं कहता, मन-ही-मन, बाकी अभी बहुत है पाप,
लिखूँ खाक, जब तक दिमाग पर चढ़े हुए हैं आप!

सपनों का धुआँ

"है कौन?" "मुसाफिर वही जो कि कल आया था,
या कल जो था मैं आज उसी की छाया हूँ।
जाते-जाते कल छूट गये कुछ स्वप्न यहीं,
खोजते रात में आज उन्हीं को आया हूँ।

जीते हैं मेरे स्वप्न? आपने देखा था?"
(बोले) "हाँ, छोड़ गये थे यहाँ आप ही दूब हरी?
अफसोस, मगर, कल शाम आपके जाते ही,
चर गयी उसे जड़-मूल-सहित मेरी बकरी।

"चन्दन भी था कुछ पड़ा हुआ घर के बाहर,
कल रात लगी थरथरी, उसे तब मँगवाया।
जी भर कर तापा धर कर उसे अँगीठी में,
जब धुआँ उठा, घर भर को बड़ा मजा आया।"

दूर ही रहो अय चाँद! आदमी बड़े-बड़े,
आगे-पीछे भी नहीं सोचने पायेंगे।
पीयूष तुम्हारे मरने का कारण होगा,
प्याले पर धर कर तुम्हें चाट ही जायेंगे।

१९४९ ई०]

समष्टिवादी से

तुम जो कहते हो, हम भी हैं चाहते वही,
हम दोनों की किस्मत है एक दहाने में,
है फर्क मगर, काशी में जब वर्षा होती,
हम नहीं तानते हैं छाते बरसाने में।

तुम कहते हो, आदमी नहीं यों मानेगा,
खूंटे से बाँधो इसे और रिरियाने दो,
सीधे मन से जो पाठ नहीं यह सीख सका,
लाठी से थोड़ी देर हमें सिखलाने दो।

हम कहते हैं, आदमी तभी सीधा होगा,
जब ऊँचाई पर पहुँच स्वयं वह जागेगा,
यों, सदी दो सदी तक खूंटे से बाँध रखो,
जंजीरें ढीली हुईं कि वह फिर भागेगा।

है आँख तुम्हारी निराकारता के ऊपर,
तुम देख रहे कल्पित समाज की छाया को,
हम को तो केवल व्यष्टि दिखायी पड़ती है,
मुट्ठी कैसे पकड़े समष्टि की माया को?

मढ़ कभी सकोगे चाम निखिल भूमंडल पर?
बेकार रात-दिन इतना स्वेद बहाते हो।
काँटे पथ में हैं अगर, व्यक्ति के पाँवों में,
तुम अलग-अलग जूते क्यों नहीं पिन्हाते हो?

१९४८ ई०]

कर्ण-कृष्ण-संवाद

वर्षों तक वन में घूम-घूम,
बाधा - विघ्नों को चूम - चूम,
सह धूप - घाम, पानी - पत्थर,
पांडव आये कुछ और निखर।
सौभाग्य न सब दिन सोता है,
देखें, आगे क्या होता है।

मैत्री की राह बताने को,
सबको सुमार्ग पर लाने को,
दुर्योधन को समझाने को,
भीषण विध्वंस बचाने को,
भगवान हस्तिनापुर आये,
पाँडव का संदेशा लाये।

दो न्याय अगर तो आधा दो,
पर, इसमें भी यदि बाधा हो,
तो दे दो केवल पाँच ग्राम,
रक्खो अपनी धरती तमाम।
हम वही खुशी से खायेंगे,
परिजन पर असि न उठायेंगे।

दुर्योधन वह भी दे न सका,
आशिष समाज की ले न सका,
उलटे, हरि को बाँधने चला,
जो था असाध्य, साधने चला।
जब नाश मनुज पर छाता है,
पहले विवेक मर जाता है।

हरि ने भीषण हुंकार किया,
अपना स्वरूप - विस्तार किया,
डगमग - डगमग दिग्गज डोले,
भगवान कुपित होकर बोले—
जंजीर बढ़ा कर साध मुझे,
हाँ - हाँ, दुर्योधन ! बाँध मुझे ।

यह देख, गगन मुझमें लय है,
यह देख, पवन मुझमें लय है,
मुझमें विलीन झंकार सकल,
मुझमें लय हैं संसार सकल ।
अमरत्व फूलता है मुझमें,
संहार झूलता है मुझमें ।

उदयाचल मेरा दीप्त भाल,
भूमंडल वक्षस्थल विशाल,
भुज परिधि - बन्ध को घेरे हैं,
मैनाक - मेरु पग मेरे हैं ।
दिपते जो ग्रह - नक्षत्र - निकर,
सब हैं मेरे मुख के अन्दर ।

दृग हों तो दृश्य अकाण्ड देख,
मुझमें सारा ब्रह्माण्ड देख,
चर-अचर जीव, जग क्षर-अक्षर,
नश्वर मनुष्य, सुरजाति अमर,
शत कोटि सूर्य, शत कोटि चन्द्र,
शत कोटि सरित, सर, सिन्धु मन्द्र;

शत कोटि विष्णु, ब्रह्मा, महेश,
शत कोटि जिष्णु, जलपति, धनेश,
शत कोटि रुद्र, शत कोटि काल,
शत कोटि दंडधर लोकपाल।
जंजीर बढ़ाकर साध इन्हें,
हाँ-हाँ, दुर्योधन! बाँध इन्हें।

भूलोक, अतल पाताल देख,
गत और अनागत काल देख,
यह देख, जगत का आदि-सृजन,
यह देख, महाभारत का रण;
मृतकों से पटी हुई भू है,
पहचान, कहाँ इसमें तू है।

अम्बर में कुन्तल-जाल देख,
पद के नीचे पाताल देख,
मुट्ठी में तीनों काल देख,
मेरा स्वरूप विकराल देख।
सब जन्म मुझी से पाते हैं,
फिर लौट मुझी में आते हैं।

जिह्वा से कढ़ती ज्वाल सघन,
साँसों में पाता जन्म पवन,
पड़ जाती मेरी दृष्टि जिधर,
हँसने लगती है सृष्टि उधर।
मैं जभी मूँदता हूँ लोचन,
छा जाता चारों ओर मरण।

बाँधने मुझे तो आया है,
जंजीर बड़ी क्या लाया है ?
यदि मुझे बाँधना चाहे मन,
पहले तो बाँध अनन्त गगन।
सूने को साध न सकता है,
वह मुझे बाँध कब सकता है ?

हित-वचन नहीं तूने माना,
मैत्री का मूल्य न पहचाना,
तो ले, मैं भी अब जाता हूँ,
अन्तिम संकल्प सुनाता हूँ।
याचना नहीं, अब रण होगा,
जीवन-जय या कि मरण होगा।

टकरायेंगे नक्षत्र-निकर,
बरसेगी भू पर वह्नि प्रखर,
फण शेषनाग का डोलेगा,
विकराल काल मुँह खोलेगा।
दुर्योधन! रण ऐसा होगा,
फिर कभी नहीं जैसा होगा।

भाई पर भाई टूटेंगे,
विष-बाण बूंद-से छूटेंगे,
वायस-शृगाल सुख लूटेंगे,
सौभाग्य मनुज के फूटेंगे।
आखिर तू भूशायी होगा,
हिंसा का पर, दायी होगा।

थी सभा सन्न, सब लोग डरे,
चुप थे या थे बेहोश पड़े।
केवल दो नर न अघाते थे,
धृतराष्ट्र-विदुर सुख पाते थे।
कर जोड़ खड़े प्रमुदित, निर्भय,
दोनों पुकारते थे जय-जय।

(२)

भगवान सभा को छोड़ चले,
करके रण-गर्जन घोर चले,
सामने कर्ण सकुचाया-सा,
आ मिला चकित, भरमाया-सा।
हरि बड़े प्रेम से कर धर कर,
ले चढ़े उसे अपने रथ पर।

रथ चला, परस्पर बात चली,
शम-दम की टेढ़ी घात चली।
शीतल हो हरि ने कहा," हाय,
अब शेष नहीं कोई उपाय।
हो विवश हमें धनु धरना है,
क्षत्रिय-समूह को मरना है।

मैंने कितना कुछ कहा नहीं?
विषव्यंग्य कहाँ तक सहा नहीं?
पर, दुर्योधन मतवाला है,
कुछ नहीं समझनेवाला है।
चाहिये उसे बस रण केवल,
सारी धरती कि मरण केवल।

हे वीर! तुम्हीं बोलो अकाम,
क्या वस्तु बड़ी थी पाँच ग्राम?
वह भी कौरव को भारी है,
मति गयी मूढ़ की मारी है।
दुर्योधन को बोधूँ कैसे?
इस रण को अवरोधूँ कैसे?

सोचो, क्या दृश्य विकट होगा,
रण में जब काल प्रकट होगा?
बाहर शोणित की तप्त धार,
भीतर विधवाओं की पुकार।
निरशन, विषण्ण बिललायेंगे,
बच्चे अनाथ चिल्लायेंगे।

चिन्ता है, मैं क्या और करूँ?
शान्ति को छिपा किस ओट धरूँ?
सब राह बन्द मेरे जाने,
हाँ, एक बात यदि तू माने,
तो शान्ति नहीं जल सकती है,
समराग्नि अभी टल सकती है।

पा तुझे धन्य है दुर्योधन,
तू एकमात्र उसका जीवन।
तेरे बल की है आस उसे,
तुझसे जय का विश्वास उसे।
तू संग न उसका छोड़ेगा,
वह क्यों रण से मुख मोड़ेगा?

क्या अघटनीय घटना कराल ?
तू पृथा-कुक्षि का प्रथम लाल,
बन सूत अनादर सहता है,
कौरव के दल में रहता है,
शर-चाप उठाये आठ प्रहर,
पांडव से लड़ने को तत्पर।

माँ का सनेह पाया न कभी,
सामने सत्य आया न कभी,
किस्मत के फेरे में पड़कर,
पा प्रेम बसा दुश्मन के घर।
निज बन्धु मानता है पर को,
कहता है शत्रु सहोदर को।

पर, कौन दोष इसमें तेरा ?
अब कहा मान इतना मेरा।
चल होकर संग अभी मेरे,
हैं जहाँ पाँच भ्राता तेरे।
बिछुड़े भाई मिल जायेंगे,
हम मिलकर मोद मनायेंगे।

कुन्ती का तू ही तनय ज्येष्ठ,
बल, बुद्धि, शील में परम श्रेष्ठ।
मस्तक पर मुकुट धरेंगे हम,
तेरा अभिषेक करेंगे हम।
आरती समोद उतारेंगे,
सब मिलकर पाँव पखारेंगे।

पद - त्राण भीम पहनायेगा,
धर्माधिप चँवर डुलायेगा।
पहरे पर पार्थ प्रवर होंगे,
सहदेव - नकुल अनुचर होंगे।
भोजन उत्तरा बनायेगी,
पांचाली पान खिलायेगी।

आहा! क्या दृश्य सुभग होगा?
आनन्द-चमत्कृत जग होगा।
सब लोग तुझे पहचानेंगे,
असली स्वरूप में जानेंगे।
खोयी मणि को जब पायेगी,
कुन्ती फूली न समायेगी।

रण अनायास रुक जायेगा,
कुरुराज स्वयं झुक जायेगा।
संसार बड़े सुख में होगा,
कोई न कहीं दुख में होगा।
सब गीत खुशी के गायेंगे,
तेरा सौभाग्य मनायेंगे।

कुरुराज्य समर्पण करता हूँ,
साम्राज्य समर्पण करता हूँ।
यश, मुकुट, मान, सिंहासन ले,
बस, एक भीख मुझको दे दे।
कौरव को तज रण रोक सखे,
भू का हर भावी शोक सखे।

सुन-सुनकर कर्ण अधीर हुआ,
क्षण एक तनिक गंभीर हुआ;
फिर कहा, बड़ी यह माया है,
जो कुछ आपने बताया है।
दिनमणि से सुनकर वही कथा,
मै भोग चुका हूँ ग्लानि - व्यथा।

जब ध्यान जन्म का धरता हूँ,
उन्मन यह सोचा करता हूँ,
कैसी होगी वह माँ कराल,
निज तन से जो शिशु को निकाल,
धाराओं में धर आती है,
अथवा जीवित दफनाती है?

सेवती मास दस तक जिसको,
पालती उदर में रख जिसको,
जीवन का अंश खिलाती है,
अन्तर का रुधिर पिलाती है;
आती फिर उसको फेंक कहीं,
नागिन होगी, वह नारि नहीं।

हे कृष्ण! आप चुप ही रहिये,
इसपर न अधिक कुछ भी कहिये।
सुनना न चाहते तनिक श्रवण,
जिस माँ ने मेरा किया जनन,
वह नहीं नारि कुलपाली थी,
सर्पिणी परम विकराली थी।

पत्थर - समान उसका हिय था,
सुत से समाज बढ़कर प्रिय था,
गोदी में आग लगा करके,
मेरा कुल - वंश छिपा करके,
दुश्मन का उसने काम किया,
माताओं को बदनाम किया।

माँ का पय भी न पिया मैंने,
उलटे, अभिशाप लिया मैंने।
वह तो यशस्विनी बनी रही,
सबकी भौं मुझपर तनी रही।
कन्या वह रही अपरिणीता,
जो कुछ बीता, मुझपर बीता।

मैं जाति - गोत्र से हीन, दीन,
राजाओं के सम्मुख मलीन,
जब रोज अनादर पाता था,
कह शूद्र पुकारा जाता था।
पत्थर की छाती फटी नहीं,
कुन्ती तब भी तो कटी नहीं।

मैं सूत - वंश में पलता था,
अपमान - अनल में जलता था,
सब देख रही थी दृश्य पृथा,
माँ की ममता, पर, हुई वृथा।
छिपकर भी तो सुधि ले न सकी,
छाया अंचल की दे न सकी।

पा पाँच तनय फूली-फूली,
दिन-रात बड़े सुख में भूली,
कुन्ती गौरव में चूर रही,
मुझ पतित पुत्र से दूर रही।
क्या हुआ कि अब अकुलाती है?
किस कारण मुझे बुलाती है?

क्या पाँच पुत्र हो जाने पर,
सुत के धन-धाम गँवाने पर,
या महानाश के छाने पर,
अथवा मन के घबराने पर,
नारियाँ सदय हो जाती हैं,
बिछुड़े को गले लगाती हैं?

कुन्ती जिस भय से भरी रही,
तज मुझे, दूर हट खड़ी रही,
वह पाप अभी भी है मुझमें,
वह शाप अभी भी है मुझमें।
क्या हुआ कि वह डर जायेगा?
कुन्ती को काट न खायेगा?

सहसा क्या हाल विचित्र हुआ?
मैं कैसे पुण्य-चरित्र हुआ?
कुन्ती का क्या चाहता हृदय,
मेरा सुख या पांडव की जय?
यह अभिनन्दन नूतन क्या है?
केशव! यह परिवर्त्तन क्या है?

मैं हुआ धनुर्धर जब नामी,
सब लोग हुए हित के कामी;
पर, ऐसा भी था एक समय,
जब यह समाज निष्ठुर निर्दय,
किंचित् न स्नेह दर्शाता था,
विषव्यंग्य सदा बरसाता था।

उस समय सुअंक लगा करके,
अंचल के तले छिपा करके,
चुम्बन से कौन मुझे भरकर,
ताड़ना - ताप लेती थी हर?
राधा को छोड़ भजूँ किसको?
जननी है वही, तजूँ किसको?

हे कृष्ण! जरा यह भी सुनिये,
सच है कि झूठ, मन में गुनिये।
धूलों में था मैं पड़ा हुआ,
किसका सनेह पा बड़ा हुआ?
किसने मुझको सम्मान दिया,
नृपता दे महिमावान किया?

अपना विकास अवरुद्ध देख,
सारे समाज को क्रुद्ध देख,
भीतर जब टूट चुका था मन,
आ गया अचानक दुर्योधन,
निश्छल, पवित्र अनुराग लिये,
मेरा समस्त सौभाग्य लिये।

कुन्ती ने केवल जन्म दिया,
राधा ने माँ का कर्म किया,
पर, कहते जिसे असल जीवन,
देने आया वह दुर्योधन।
वह नहीं भिन्न माता से है,
बढ़कर सोदर भ्राता से है।

राजा रंक से बना करके,
यश, मान, मुकुट पहना करके,
बाँहों पर मुझे उठा करके,
सामने जगत के ला करके,
करतब क्या-क्या न किया उसने ?
मुझको नव जन्म दिया उसने।

है ऋणी कर्ण का रोम-रोम,
जानते सत्य यह सूर्य-सोम,
तन, मन, धन दुर्योधन का है,
यह जीवन दुर्योधन का है।
सुरपुर से भी मुख मोड़ूँगा,
केशव! मैं उसे न छोड़ूँगा।

सच है, मेरी है आस उसे,
मुझपर अटूट विश्वास उसे,
हाँ, सच है मेरे ही बल पर,
ठाना है उसने महासमर।
पर, मैं कैसा पापी हूँगा,
दुर्योधन को धोखा दूँगा ?

रह साथ सदा खेला, खाया,
सौभाग्य - सुयश उससे पाया,
अब जब विपत्ति आने को है,
घनघोर प्रलय छाने को है,
तज उसे भाग यदि जाऊँगा,
कायर, कृतघ्न कहलाऊँगा।

मैं भी कुन्ती का एक तनय,
किसको होगा इसका प्रत्यय?
संसार मुझे धिक्कारेगा,
मन में वह यही विचारेगा,
फिर गया तुरत जब राज मिला,
यह कर्ण बड़ा पापी निकला।

मैं ही न सहूँगा विषम डंक,
अर्जुन को भी होगा कलंक,
सब लोग कहेंगे, डरकर ही,
अर्जुन ने अद्भुत नीति गही।
चल चाल कर्ण को फोड़ लिया।
सम्बन्ध अनोखा जोड़ लिया।

कोई न कहीं भी चूकेगा,
सारा जग मुझपर थूकेगा,
तप, त्याग, शील, जप, याग, दान,
मेरे होंगे मिट्टी - समान।
लोभी - लालची कहाऊँगा,
किसको, क्या मुख दिखलाऊँगा?

जो आज आप कह रहे आर्य,
कुन्ती के मुख से कृपाचार्य,
सुन वही हुए लज्जित होते,
हम क्यों रण को सज्जित होते ?
मिलता न कर्ण दुर्योधन को,
पाण्डव न कभी जाते वन को।

लेकिन, नौका तट छोड़ चली,
कुछ पता नहीं, किस ओर चली।
यह बीच नदी की धारा है,
सूझता न कूल-किनारा है।
ले लील भले यह धार मुझे,
लौटना नहीं स्वीकार मुझे।

धर्माधिराज का ज्येष्ठ बनूँ ?
भारत में सबसे श्रेष्ठ बनूँ ?
कुल की पोशाक पहन करके,
सिर उठा चलूँ कुछ तन करके ?
इस झूठ-मूठ में रस क्या है ?
केशव ! यह सुयश सुयश क्या है ?

सिर पर कुलीनता का टीका,
भीतर जीवन का रस फीका,
अपना न नाम जो ले सकते,
परिचय न तेज से दे सकते,
ऐसे भी कुछ नर होते हैं,
कुल को खाते औ' खोते हैं।

विक्रमी पुरुष लेकिन, सिर पर
चलता न छत्र पुरखों का धर,
अपना बल-तेज जगाता है,
सम्मान जगत से पाता है।
सब उसे देख ललचाते हैं,
कर विविध यत्न अपनाते हैं।

कुल-गोत्र नहीं साधन मेरा,
पुरुषार्थ एक बस धन मेरा,
कुल ने तो मुझको फेंक दिया,
मैंने हिम्मत से काम लिया।
अब वंश चकित भरमाया है,
खुद मुझे खोजने आया है।

लेकिन, मैं लौट चलूंगा क्या?
अपने प्रण से विचलूंगा क्या?
रण में कुरुपति का विजय-वरण,
या पार्थ-हाथ कर्ण का मरण।
हे कृष्ण! यही मति मेरी है,
तीसरी नहीं गति मेरी है।

मैत्री की बड़ी सुखद छाया,
शीतल हो जाती है काया,
धिक्कार-योग्य होगा वह नर,
जो पाकर भी ऐसा तरुवर,
हो अलग खड़ा कटवाता है,
खुद आप नहीं कट जाता है।

जिस नर की बाँह गही मैंने,
जिस तरु की छाँह गही मैंने,
उसपर न वार चलने दूँगा ;
कैसे कुठार चलने दूँगा ?
जीते जी उसे बचाऊँगा,
या आप स्वयं कट जाऊँगा।

मित्रता बड़ा अनमोल रतन,
कब इसे तोल सकता है धन ?
धरती की तो है क्या बिसात ?
आ जाय अगर वैकुंठ हाथ,
उसको भी न्योछावर कर दूँ,
कुरुपति के चरणों पर धर दूँ।

सिर लिये स्कन्ध पर चलता हूँ,
उस दिन के लिए मचलता हूँ,
यदि चले वज्र दुर्योधन पर,
ले लूँ बढ़कर अपने ऊपर।
कटवा दूँ उसके लिए गला,
चाहिये मुझे क्या और भला ?

सम्राट् बनेंगे धर्मराज,
या पायेगा कुरुराज ताज;
लड़ना भर मेरा काम रहा,
दुर्योधन का संग्राम रहा।
मुझको न कहीं कुछ पाना है,
केवल ऋण मात्र चुकाना है।

कुरुराज्य चाहता मैं कब हूँ ?
साम्राज्य चाहता मैं कब हूँ ?
क्या नहीं आपने भी जाना ?
मुझको न आज तक पहचाना ?
जीवन का मूल समझता हूँ,
धन को मैं धूल समझता हूँ।

धनराशि जोगना लक्ष्य नहीं,
साम्राज्य भोगना लक्ष्य नहीं,
भुजबल से कर संसार-विजय,
अगणित समृद्धियों का संचय,
दे दिया मित्र दुर्योधन को,
तृष्णा छू भी न सकी मन को।

वैभव-विलास की चाह नहीं,
अपनी कोई परवाह नहीं,
बस, यही चाहता हूँ केवल,
दान की देव-सरिता निर्मल,
करतल से झरती रहे सदा,
निर्धन को भरती रहे सदा।

तुच्छ है, राज्य क्या है केशव ?
पाता नर क्या कर प्राप्त विभव ?
चिन्ता प्रभूत, अत्यल्प हास,
कुछ चाकचिक्य, कुछ क्षण विलास।
पर, वह भी यहीं गँवाना है,
कुछ साथ नहीं ले जाना है।

मुझ-से मनुष्य जो होते हैं,
कंचन का भार न ढोते हैं।
पाते हैं धन बिखराने को,
लाते हैं रतन लुटाने को!
जग से न कभी कुछ लेते हैं,
दान ही हृदय का देते हैं।

प्रासादों के कनकाभ शिखर,
होते कबूतरों के ही घर,
महलों में गरुड़ न होता है,
कंचन पर कभी न सोता है।
बसता वह कहीं पहाड़ों में,
शैलों की फटी दरारों में।

होकर समृद्धि-सुख के अधीन,
मानव होता नित तपःक्षीण,
सत्ता, किरीट, मणिमय आसन
करते मनुष्य का तेज-हरण।
नर विभव-हेतु ललचाता है,
पर, वही मनुज को खाता है।

चाँदनी, पुष्प-छाया में पल,
नर भले बने सुमधुर, कोमल,
पर, अमृत क्लेश का पिये बिना,
आतप, अंधड़ में जिये बिना
वह पुरुष नहीं कहला सकता,
विघ्नों को नहीं हिला सकता।

उड़ते जो झंझावातों में,
पीते जो वारि प्रपातों में,
सारा आकाश अयन जिनका,
विषधर भुजंग भोजन जिनका,
वे ही फणिबन्ध छुड़ाते हैं,
धरती का हृदय जुड़ाते हैं।

मैं गरुड़ कृष्ण! मैं पक्षिराज,
सिर पर न चाहिये मुझे ताज।
दुर्योधन पर है विपद घोर,
सकता न किसी विध उसे छोड़।
रणखेत पाटना है मुझको,
अहिपाश काटना है मुझको।

संग्राम-सिन्धु लहराता है,
सामने प्रलय घहराता है,
रह-रहकर भुजा फड़कती है,
बिजली-सी नसें कड़कती हैं।
चाहता तुरत मैं कूद पड़ूँ,
जीतूँ कि समर में डूब मरूँ।

अब देर नहीं कीजै केशव!
अवसेर नहीं कीजै केशव!
धनु की डोरी तन जाने दें,
संग्राम तुरत ठन जाने दें।
ताण्डवी तेज लहरायेगा,
संसार ज्योति कुछ पायेगा।

पर, एक विनय है मधुसूदन!
मेरी यह जन्मकथा गोपन,
मत कभी युधिष्ठिर से कहिये,
जैसे हो, इसे दबा रहिये।
वे इसे जान यदि पायेंगे,
सिंहासन को ठुकरायेंगे।

साम्राज्य न कभी स्वयं लेंगे,
सारी संपत्ति मुझे देंगे,
मैं भी न उसे रख पाऊँगा,
दुर्योधन को दे जाऊँगा।
पाण्डव वंचित रह जायेंगे,
दुख से न छूट वे पायेंगे।

अच्छा, अब चला, प्रणाम आर्य!
हों सिद्ध समर के शीघ्र कार्य।
रण में ही अब दर्शन होगा,
शर से चरण-स्पर्शन होगा।
जय हो, दिनेश नभ में विहरें,
भूतल में दिव्य प्रकाश भरें।"

रथ से राधेय उतर आया,
हरि के मन में विस्मय छाया,
बोले कि वीर! शत बार धन्य,
तुझ-सा न मित्र कोई अनन्य।
तू कुरुपति का ही नहीं प्राण,
नरता का है भूषण महान।

कर्ण-कुन्ती-संवाद

आ गया काल विकराल शान्ति के क्षय का,
निर्दिष्ट लग्न धरती पर खंड-प्रलय का।
हो चुकी पूर्ण योजना नियति की सारी,
कल ही होगा आरम्भ समर अति भारी।

कल जैसे ही पहली मरीचि फूटेगी,
रण में शर पर चढ़ महा मृत्यु छूटेगी,
संहार मचेगा, तिमिर घोर छायेगा,
सारा समाज दृग्वंचित हो जायेगा।

जन-जन स्वजनों के लिए कुटिल यम होगा,
परिजन परिजन के हित कृतान्त-सम होगा!
कल से भाई भाई के प्राण हरेंगे,
नर ही नर के शोणित में स्नान करेंगे।

सुध-बुध खो बैठी हुई समर-चिन्तन में,
कुन्ती व्याकुल हो उठी सोच कुछ मन में।
हे राम! नहीं क्या यह संयोग हटेगा?
सचमुच ही, क्या कुन्ती का हृदय फटेगा?

एक ही गोद के लाल, कोख के भाई,
सत्य ही, लड़ेंगे हो दो ओर लड़ाई?
सत्य ही, कर्ण अनुजों के प्राण हरेगा?
अथवा अर्जुन के हाथों स्वयं मरेगा?

दो में जिसका उर फटे, फटूँगी मैं ही,
जिसकी भी गरदन कटे, कटूँगी मैं ही।
पार्थ को कर्ण या पार्थ कर्ण को मारे,
बरसेंगे किस पर मुझे छोड़ अंगारे?

चिन्ताकुल उलझी हुई व्यथा में मन से,
बाहर आयी कुन्ती कढ़ विदुर-भवन से।
सामने तपन को देख तनिक घबरा कर,
सितकेशी संभ्रममयी चली सकुचा कर।

उड़ती वितर्क - धागे पर चंग - सरीखी,
सुधियों की सहती चोट प्राण पर तीखी,
आशा - अभिलाषा - भरी, डरी, भरमायी,
कुन्ती ज्यों-त्यों जाह्नवी-तीर पर आयी।

दिनमणि पश्चिम की ओर क्षितिज के ऊपर,
थे घट उँड़ेलते खड़े कनक के भू पर।
लालिमा बहा अग-जग को नहलाते थे,
खुद भी लज्जा से लाल हुए जाते थे।

राधेय सान्ध्य पूजन में ध्यान लगाये,
था खड़ा विमल जल में युग बाहु उठाये।
तन में रवि का अप्रतिम तेज जगता था,
दीपित ललाट अपरार्क-सदृश लगता था।

मानों, युग-स्वर्णिम-शिखिर-मूल में आकर,
हो बैठ गया, सचमुच ही, सिमट विभाकर।
अथवा मस्तक पर अरुण देवता को ले,
हो खड़ा तीर पर गरुड़ पंख निज खोले।

या दो अर्चियाँ विशाल पुनीत अनल की,
हों सजा रही आरती विभा - मंडल की।
अथवा अगाध कंचन में कही नहा कर,
मैनाक शैल हो खड़ा बाहु फैला कर।

सुत की शोभा को देख मोद में फूली,
कुन्ती क्षण भर को व्यथा-वेदना भूली।
भर कर ममता-पय से निष्पलक नयन को,
वह खड़ी सींचती रही पुत्र के तन को।

आहट पाकर जब ध्यान कर्ण ने खोला,
कुन्ती को सम्मुख देख विनत हो बोला,
पद पर अन्तर का भक्ति-भाव धरता हूँ,
राधा का सुत मै देवि! नमन करता हूँ।

हैं आप कौन? किसलिए यहाँ आयी है?
मेरे निमित्त आदेश कौन लायी हैं?
यह कुरुक्षेत्र की भूमि, युद्ध का स्थल है,
अस्तमित हुआ चाहता विभामंडल है।

सूना औघट यह घाट महा भयकारी,
उस पर भी प्रवया आप अकेली नारी।
हैं कौन? देवि! कहिये, क्या काम करूँ मैं?
क्या भक्ति-भेंट चरणों पर आन धरूँ मैं?

सुन गिरा गूढ़ कुन्ती का धीरज छूटा,
भीतर का क्लेश अपार अश्रु बन फूटा।
विगलित हो उसने कहा काँपते स्वर से,
रे कर्ण! वेध मत मुझे निदारुण शर से।

राधा का सुत तू नहीं, तनय मेरा है,
जो धर्मराज का, वही वंश तेरा है।
तू नहीं सूत का पुत्र, राजवंशी है,
अर्जुन-समान कुरुकुल का ही अंशी है।

जिस तरह, तीन पुत्रों को मैंने पाया,
तू उसी तरह था प्रथम कुक्षि में आया।
पा तुझे धन्य थी हुई गोद यह मेरी,
मैं ही अभागिनी पृथा जननि हूँ तेरी।

पर, मैं कुमारिका थी जब तू आया था,
अनमोल लाल मैंने असमय पाया था।
अतएव, हाय, अपने दुधमुँहे तनय से,
भागना पड़ा मुझको समाज के भय से।

बेटा, धरती पर बड़ी दीन है नारी,
अबला होती, सचमुच, योषिता कुमारी।
है कठिन बन्द करना समाज के मुख को,
सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को।

उस पर भी बाल अबोध, काल बचपन का,
सूझा न शोध मुझको कुछ और पतन का।
मंजूषा में धर तुझे वज्र कर मन को,
धारा में आयी छोड़ हृदय के धन को।

संयोग, सूतपत्नी ने तुझको पाला,
उन दयामयी पर तनिक न मुझे कसाला।
ले चल, मैं उनके दोनों पाँव धरूँगी,
अग्रजा मान कर सादर अंक भरूँगी।

पर, एक बात सुन, जो कहने आयी हूँ,
आदेश नहीं, प्रार्थना साथ लायी हूँ।
कल कुरुक्षेत्र में जो संग्राम छिड़ेगा,
क्षत्रिय-समाज पर कल जो प्रलय घिरेगा;

उसमें न पाण्डवों के विरुद्ध हो लड़ तू,
मत उन्हें मार या उनके हाथों मर तू।
मेरे ही सुत मेरे सुत को ही मारें,
हो क्रुद्ध परस्पर ही प्रतिशोध उतारें!

यह विकट दृश्य मुझसे न सहा जायेगा,
अब और न मुझसे मूक रहा जायेगा।
जो छिपकर थी अबतक कुरेदती मन को,
बतला दूँगी वह व्यथा समग्र भुवन को।

भागी थी तुझको छोड़ कभी जिस भय से,
फिर कभी न हेरा तुझको जिस संशय से,
उस जड़ समाज के सिर पर चरण धरूँगी,
डर चुकी बहुत, अब और न अधिक डरूँगी।

बाजी तो मैं थी हार चुकी कब की ही,
लेकिन, विरंचि निकला कितना निर्मोही!
तुझ तक न आज तक दिया कभी भी आने,
यह गोपन जन्म-रहस्य तुझे बतलाने।

पर, पुत्र! सोच अन्यथा न तू कुछ मन में,
यह भी होता है कभी-कभी जीवन में,
अब दौड़ वत्स! गोदी में वापस आ तू,
आ गया निकट विध्वंस, न देर लगा तू।

जा भूल द्वेष के जहर, क्रोध के विष को,
रे कर्ण ! समर में अब मारेगा किसको ?
पाँचो पांडव हैं अनुज, बड़ा तू ही है,
अग्रज बन रक्षा-हेतु खड़ा तू ही है।

नेता बन कर में सूत्र समर का ले तू,
अनुजों पर छत्र विशाल बाहु का दे तू,
संग्राम जीत, कर प्राप्त विजय अति भारी,
जयमुकुट पहन फिर भोग संपदा सारी।

यह नहीं किसी भी छल का आयोजन है,
रे पुत्र ! सत्य ही मैंने किया कथन है।
विश्वास न हो तो शपथ कौन मैं खाऊँ ?
किसको प्रमाण के लिए यहाँ बुलवाऊँ ?

वह देख, पश्चिमी तट के पास गगन में,
देवता दीपते जो कनकाभ वसन में,
जिनके प्रताप की किरण अजय अद्भुत है,
तू उन्हीं अंशुधर का प्रकाशमय सुत है।

रुक पृथा पोंछने लगी अश्रु अंचल से,
इतने में आयी गिरा गगन-मंडल से,
"कुन्ती का सारा कथन सत्य कर जानो,
माँ की आज्ञा बेटा ! अवश्य तुम मानो।"

यह कह दिनेश झट उतर गये अम्बर से,
हो गये तिरोहित मिलकर किसी लहर से !
मानों, कुन्ती का भार भयानक पाकर,
वे चले गये दायित्व छोड़ घबरा कर।

डूबते सूर्य को नमन निवेदित करके
कुन्ती के पद की धूल शीश पर धरके।
राधेय बोलने लगा बड़े ही दुख से,
तुम मुझे पुत्र कहने आयी किस मुख से?

क्या तुम्हें कर्ण से काम? सूत है वह तो,
माता के तन का मल अपूत है वह तो।
तुम बड़े वंश की बेटी ठकुरानी हो,
अर्जुन की माता, कुरुकुल की रानी हो।

मैं नाम गोत्र से हीन, दीन, खोटा हूँ,
सारथीपुत्र हूँ, मनुज बड़ा छोटा हूँ।
ठकुरानी! क्या लेकर तुम मुझे करोगी?
मल को पवित्र गोदी में कहाँ धरोगी?

है कथा जन्म की ज्ञात, न बात बढ़ाओ,
मत छेड़-छेड़ मेरी पीड़ा उकसाओ।
हूँ खूब जानता, किसने मुझे जना था,
किसके प्राणों पर मैं दुर्भार बना था।

सह विविध यातना मनुज जन्म पाता है,
धरती पर शिशु भूखा-प्यासा आता है;
माँ सहज स्नेह से ही प्रेरित अकुला कर,
पय पान कराती उर से उसे लगा कर।

मुख चूम जन्म की क्लान्ति हरण करती है,
दृग से निहार अंग में अमृत भरती है।
पर, मुझे अंक में उठा न ले पायी तुम,
पय का पहला आहार न दे पायी तुम।

उलटे, मुझको असहाय छोड़ कर जल में,
तुम लौट गयी इज्जत के बड़े महल में।
मैं बचा अगर तो अपने आयुर्बल से,
रक्षा किसने की मेरी काल-कवल से?

क्या कोर-कसर तुमने कोई भी की थी?
जीवन के बदले साफ मृत्यु ही दी थी।
पर, तुमने जब पत्थर का किया कलेजा,
असली माता के पास भाग्य ने भेजा।

अब जब सब-कुछ हो चुका, शेष दो क्षण हैं,
आखिरी दाँव पर लगा हुआ जीवन है,
तब प्यार बाँध करके अंचल के पट में,
आयी हो निधि खोजती हुई मरघट में।

अपना खोया संसार न तुम पाओगी,
राधा माँ का अधिकार न तुम पाओगी।
छीनने स्वत्व उसका तो तुम आयीं हो,
पर, कभी बात यह भी मन में लायी हो?

उसको सेवा, तुमको सुकीर्त्ति प्यारी है,
तुम ठकुरानी हो, वह केवल नारी है।
तुमने तो तन से मुझे काढ़ कर फेंका,
उसने अनाथ को हृदय लगा कर सेंका।

उमड़ी न स्नेह की उज्ज्वल धार हृदय से,
तुम सूख गयी मुझको पाते ही भय से।
पर, राधा ने जिस दिन मुझको पाया था,
कहते हैं, उसको दूध उतर आया था।

तुमने जनकर भी नहीं पुत्र कर जाना,
उसने पाकर भी मुझे तनय निज माना।
अब तुम्हीं कहो, कैसे आत्मा को मारूँ?
माता कह उसके बदले तुम्हें पुकारूँ?

अर्जुन की जननी! मुझे न कोई दुख है,
ज्यों-त्यों मैंने भी ढूँढ़ लिया निज सुख है।
जब भी पीछे की ओर दृष्टि जाती है,
चिन्तन में भी यह बात नहीं आती है।

आचरण तुम्हारा उचित या कि अनुचित था,
या असमय मेरा जन्म न शील-विहित था।
पर एक बात है, जिसे सोच कर मन में,
मैं जलता ही आया समग्र जीवन में।

अज्ञातशीलकुलता का विघ्न न माना,
भुजबल को मैंने सदा भाग्य कर जाना।
बाधाओं के ऊपर चढ़ धूम मचा कर,
पाया सब-कुछ मैंने पौरुष को पाकर।

जन्मा लेकर अभिशाप, हुआ वरदानी,
आया बन कर कंगाल, कहाया दानी,
दे दिये मोल जो भी जीवन ने माँगे,
सिर नहीं झुकाया कभी किसी के आगे।

पर, हाय, हुआ ऐसा क्यों वाम विधाता?
मुझ वीर पुत्र को मिली भीरु क्यों माता?
जो जमकर पत्थर हुई जाति के भय से,
सम्बन्ध तोड़ भागी दुधमुँहे तनय से।

18

मर गयी नहीं वह स्वयं, मार सुत को ही,
जीना चाहा बन कठिन, क्रूर, निर्मोही।
क्या कहूँ देवि! मैं तो ठहरा अनचाहा,
पर तुमने माँ का खूब चरित्र निबाहा।

था कौन लोभ, थे क्या अरमान हृदय में,
देखा तुमने जिनका अवरोध तनय में?
शायद यह छोटी बात राजसुख पाओ,
वर किसी भूप को तुम रानी कहलाओ।

सम्मान मिले, यश बढ़े वधूमंडल में,
कहलाओ साध्वी, सती वाम भूतल में।
पाओ सुत भी बलवान, पवित्र, प्रतापी,
मुझ-सा अघजन्मा नही मलिन, परितापी।

सो धन्य हुई तुम देवि! सभी कुछ पाकर,
कुछ भी न गँवाया तुमने मुझे गँवा कर।
पर, अम्बर पर जिनका प्रदीप जलता है,
जिनके अधीन संसार निखिल चलता है।

उनकी पोथी में भी कुछ लेखा होगा,
कुछ कृत्य उन्होंने भी तो देखा होगा।
हम दोनों जब मरकर वापस जायेंगे,
वे सभी दृश्य फिर से सम्मुख आयेंगे।

जग की आँखों से अपना भेद छिपाकर,
नर वृथा तृप्त होता मन को समझाकर—
अब रहा न कोई विवर शेष जीवन में,
हम भलीभाँति रक्षित हैं पटावरण में।

पर, हँसते कहीं अदृश्य जगत के स्वामी,
देखते सभी कुछ तब भी अन्तर्यामी।
सबको सहेज कर नियति कहीं धरती है,
सब-कुछ अदृश्य पट पर अंकित करती है।

यदि इस पट पर का चित्र नहीं उज्ज्वल हो,
कालिमा लगी हो, उसमें कोई मल हो,
तो रह जाता क्या मूल्य हमारी जय का,
जग में संचित कलुषित समृद्धि-समुदय का?

पर, हाय, न तुममें भाव धर्म के जागे,
तुम देख नहीं पायी जीवन के आगे।
देखा न दीन, कातर बेटे के मुख को,
देखा केवल अपने क्षण-भंगुर सुख को।

विधि का पहला वरदान मिला जब तुमको,
गोदी में नन्हाँ दान मिला जब तुमको,
क्यों नहीं वीर माता बन आगे आयी,
सबके समक्ष निर्भय होकर चिल्लायी?

सुन लो, समाज के प्रमुख धर्म-ध्वज-धारी,
सुतवती हो गयी मैं अनव्याही नारी।
अब चाहो तो रहने दो मुझे भवन में,
या जातिच्युत कर मुझे भेज दो वन में।

पर, मैं न प्राण की इस मणि को छोड़ूँगी,
मातृत्व-धर्म से मुख न कभी मोड़ूँगी।
यह बड़े दिव्य उन्मुक्त प्रेम का फल है,
जैसा भी हो, बेटा माँ का संबल है।

सोचो, जग होकर कुपित दंड क्या देता ?
कुत्सा, कलंक के सिवा और क्या लेता ?
उड़ जाती रज-सी ग्लानि वायु में खुल कर,
तुम हो जाती परिपूत अनल में घुल कर।

शायद, समाज टूटता वज्र बन तुम पर,
शायद, घिरते दुख के कराल घन तुम पर।
शायद, वियुक्त होना पड़ता परिजन से,
शायद, चल देना पड़ता तुम्हें भवन से।

पर, सह विपत्ति की मार अड़ी रहती तुम,
जग के समक्ष निर्भीक खड़ी रहती तुम,
पी सुधा जहर को देख नही घबराती,
था किया प्रेम तो बढ़ कर मोल चुकाती।

भोगती राजसुख रह कर नही महल में,
पालती खड़ी हो मुझे कहीं तरु-तल में।
लूटती जगत में देवि! कीर्त्ति तुम भारी,
सत्य ही, कहाती सती सुचरिता नारी।

मैं बड़े गर्व से चलता शीश उठाये,
मन को समेट कर मन में नही चुराये।
पाता न वस्तु क्या कर्ण पुरुष अवतारी,
यदि उसे मिली होती शुचि गोद तुम्हारी ?

पर, अब सब कुछ हो चुका, व्यर्थ रोना है,
गत पर विलाप करना जीवन खोना है।
जो छूट चुका, कैसे उसको पाऊँगा ?
लौटूँगा कितनी दूर ? कहाँ जाऊँगा ?

छीना था जो सौभाग्य निदारुण होकर,
देने आयी हो उसे आज तुम रोकर।
गंगा का जल हो चुका परन्तु, गरल है,
लेना-देना उसका अब नहीं सरल है।

खोला न गूढ़ जो भेद कभी जीवन में,
क्यों उसे खोलती हो अब चौथेपन में?
आवरण पड़ा ही सब कुछ पर रहने दो,
बाकी परिभव भी मुझको ही सहने दो।

पय से वंचित, गोदी से निष्कासित कर,
परिवार, गोत्र, कुल सबसे निर्वासित कर,
फेंका तुमने मुझ भाग्यहीन को जैसे,
रहने दो त्यक्त, विषण्ण आज भी वैसे।

है वृथा यत्न हे देवि! मुझे पाने का,
मैं नहीं वंश में फिर वापस जाने का।
दी बिता आयु सारी कुलहीन कहा कर,
क्या पाऊँगा अब उसे आज अपना कर?

यद्यपि जीवन की कथा कलंकमयी है,
मेरे समीप लेकिन, वह नहीं नयी है।
जो कुछ तुमने है कहा बड़े ही दुख से,
सुन उसे चुका हूँ मैं केशव के मुख से।

जानें सहसा तुम सबने क्या पाया है,
जो मुझ पर इतना प्रेम उमड़ आया है?
अबतक न स्नेह से कभी किसी ने हेरा,
सौभाग्य किन्तु, जग पड़ा अचानक मेरा।

मैं खूब समझता हूँ कि नीति यह क्या है,
असमय में जन्मी हुई प्रीति यह क्या है।
जोड़ने नहीं बिछुड़े वियुक्त कुलजन से,
फोड़ने मुझे आयी हो दुर्योधन से।

सिर पर आकर जब हुआ उपस्थित रण है,
हिल उठा सोच परिणाम तुम्हारा मन है।
अंक में न तुम मुझको भरने आयी हो,
कुरुपति को कुछ दुर्बल करने आयी हो।

अन्यथा, स्नेह की वेगमयी यह धारा,
तट को मरोड़, झकझोर तोड़ कर कारा,
भुज बढ़ा खींचने मुझे न क्यों आयी थी ?
पहले क्यों यह वरदान नहीं लायी थी ?

केशव पर चिन्ता डाल अभय हो रहना,
इस पार्थ भाग्यशाली का भी क्या कहना !
ले गये माँग कर जनक कवच-कुंडल को,
जननी कुंठित करने आयी रिपु-बल को।

लेकिन, यह होगा नहीं, देवि ! तुम जाओ,
जैसे भी हो, सुत का सौभाग्य मनाओ।
दें छोड़ भले ही कभी कृष्ण अर्जुन को,
मैं नहीं छोड़नेवाला दुर्योधन को।

कुरुपति का मेरे रोम-रोम पर ऋण है,
आसान न होना उससे कभी उऋण है।
छल किया अगर तो क्या जग में यश लूँगा ?
प्राण ही नहीं, तो उसे और क्या दूँगा ?

हो चुका धर्म के ऊपर न्योछावर हूँ,
मैं चढ़ा हुआ नैवेद्य देवता पर हूँ।
अर्पित प्रसून के लिए न यों ललचाओ,
पूजा की वेदी पर मत हाथ बढ़ाओ।

राधेय मौन हो रहा व्यथा निज कहके,
आँखों से झरने लगे अश्रु बह-बहके।
कुन्ती के मुख में वृथा जीभ हिलती थी,
कहने को कोई बात नहीं मिलती थी।

अम्बर पर मोती-गुँथे चिकुर फैला कर,
अंजन उँड़ेल सारे जग को नहला कर,
साड़ी में टाँके हुए अनन्त सितारे,
थी घूम रही तिमिरांचल निशा पसारे।

थी दिशा स्तब्ध, नीरव समस्त अग-जग था,
कुंजों में अब बोलता न कोई खग था,
झिल्ली अपना स्वर कभी-कभी भरती थी,
जल में जब-तब मछली छप-छप करती थी।

इस सन्नाटे में दो जन सरित-किनारे,
थे खड़े शिलावत् मूक भाग्य के मारे।
था सिसक रहा राधेय सोच यह मन में,
क्यों उबल पड़ा असमय विष कुटिल वचन में ?

क्या कहे और, यह सोच नहीं पाती थी,
कुन्ती कुत्सा से दीन मरी जाती थी।
आखिर, समेट निज मन को कहा पृथा ने,
आयी न वेदि पर का मैं फूल उठाने।

पर के प्रसून को नही, नही परधन को,
थी खोज रही मैं तो अपने ही तन को।
पर, समझ गयी, वह मुझको नही मिलेगा,
बिछुड़ी डाली पर कुसुम न आन खिलेगा।

तब जाती हूँ, क्या और सकूँगी कर मैं?
दूँगी आगे क्या भला और उत्तर मैं?
जो किया दोष जीवन भर दारुण रहकर,
मेटूँगी क्षण में उसे बात क्या कहकर?

बेटा! सचमुच ही, बड़ी पापिनी हूँ मैं।
मानवी-रूप में विकट साँपिनी हूँ मैं।
मुझ-सी प्रचंड अघमयी, कुटिल, हत्यारी,
धरती पर होगी कौन दूसरी नारी?

लज्जित होकर तू वृथा वत्स! रोता है,
निर्घोष सत्य का कब कोमल होता है?
धिक्कार नही तो मैं क्या और सुनूँगी?
काँटे बोये थे, कैसे कुसुम चुनूँगी?

अभिलाष लिये तो बहुत बड़ी आयी थी,
पर, आस नहीं अपने बल की लायी थी।
था एक भरोसा यही कि तू दानी है,
अपनी अमोघ करुणा का अभिमानी है।

थी विदित वत्स! तेरी यह कीर्त्ति निराली,
लौटता न कोई कभी द्वार से खाली।
पर, मैं अभागिनी ही अंचल फैला कर,
जा रही रिक्त बेटे से भीख न पाकर।

फिर भी तू जीता रहे, न अपयश जाने,
संसार किसी दिन तुझे पुत्र! पहचाने।
अब आ, क्षण भर मैं तुझे अंक में भर लूँ,
आखिरी बार तेरा आलिंगन कर लूँ।

ममता जमकर हो गयी शिला जो मन में,
जो क्षीर फूट कर सूख गया था तन में,
वह लहर रहा फिर उर में आज उमड़ कर,
बह रहा हृदय के कूल-किनारे भर कर।

कुरुकुल की रानी नहीं, कुमारी नारी—
वह दीन, हीन, असहाय, ग्लानि की मारी!
सिर उठा आज प्राणों में झाँक रही है,
तुझ पर ममता के चुम्बन आँक रही है।

इस आत्म-दाह-पीड़िता विषण्ण कली को,
मुझमें भुज खोले हुए दग्ध रमणी को,
छाती से सुत को लगा तनिक रोने दे,
जीवन में पहली बार धन्य होने दे।

माँ ने बढ़कर जैसे ही कंठ लगाया,
हो उठी कंटकित पुलक कर्ण की काया।
संजीवन-सी छू गयी चीज कुछ तन में,
बह चला स्निग्ध प्रस्रवण कहीं से मन में।

पहली वर्षा में मही भींगती जैसे,
भींगता रहा कुछ काल कर्ण भी वैसे।
फिर कंठ छोड़ बोला चरणों पर आकर,
मैं धन्य हुआ बिछुड़ी गोद को पाकर।

पर, हाय, स्वत्व मेरा न समय पर लायी,
माता, सचमुच, तुम बड़ी देर कर आयी।
अतएव, न्यास अंचल का ले न सकूँगा,
पर, तुम्हें रिक्त जाने भी दे न सकूँगा।

की पूर्ण सभी की सभी तरह अभिलाषा,
जाने दूँ कैसे लेकर तुम्हें निराशा?
लेकिन, पड़ता हूँ पाँव, जननि! हठ त्यागो,
बन कर कठोर मुझसे मुझको मत माँगो।

केवल निमित्त संगर का दुर्योधन है,
सच पूछो तो यह कर्ण-पार्थ का रण है।
छीनो सुयोग मत मुझे अंक में लेकर,
यश, मुकुट, मान, कुल, जाति, प्रतिष्ठा देकर।

विष तरह-तरह का हँसकर पीता आया,
बस, एक ध्येय के हित मैं जीता आया।
कर विजित पार्थ को कभी कीर्त्ति पाऊँगा,
अप्रतिम वीर वसुधा पर कहलाऊँगा।

आ गयी घड़ी वह प्रण पूरा करने की,
रण में खुलकर मारने और मरने की।
इस समय नहीं मुझमें शैथिल्य भरो तुम,
जीवन-व्रत से मत मुझको विमुख करो तुम।

अर्जुन से लड़ना छोड़ कीर्त्ति क्या लूँगा?
क्या स्वयं आप अपने को उत्तर दूँगा?
मेरा चरित्र फिर कौन समझ पायेगा?
सारा जीवन ही उलट-पलट जायेगा।

तुम दान-दान रट रही, किन्तु क्या, माता,
पुत्र ही रहेगा सदा जगत में दाता?
दुनिया तो उससे सदा सभी कुछ लेगी,
पर, क्या माता भी उसे नहीं कुछ देगी?

मैं एक कर्ण अतएव, माँग लेता हूँ,
बदले में तुमको चार कर्ण देता हूँ।
छोड़ूँगा मैं तो कभी नहीं अर्जुन को,
तोड़ूँगा कैसे स्वयं पुरातन प्रण को?

पर, अन्य पाण्डवों पर मैं कृपा करूँगा,
पाकर भी उनका जीवन नहीं हरूँगा।
अब जाओ हर्षित-हृदय सोच यह मन में,
पालूँगा जो कुछ कहा, उसे मैं रण में।

कुन्ती बोली, रे हठी, दिया क्या तू ने?
निज को लेकर ले नहीं लिया क्या तू ने?
बनने आयी थी छह पुत्रों की माता,
रह गया वाम का पर, वाम ही विधाता।

पाकर न एक को और एक को खोकर,
मैं चली चार पुत्रों की माता होकर।
कह उठा कर्ण, छह और चार को भूलो,
माता, यह निश्चय मान मोद में फूलो।

जीते जो भी यह समर झेल दुख भारी,
लेकिन होगी माँ! अन्तिम विजय तुम्हारी।
रण में कट मर कर जो भी हानि सहेंगे,
पाँच के पाँच ही पांडव किन्तु रहेंगे।

कुरुपति न जीत कर निकला अगर समर से,
या मिली वीरगति मुझे पार्थ के कर से,
तुम इसी तरह गोदी की धनी रहोगी,
पुत्रिणी पाँच पुत्रों की बनी रहोगी।

पर, कहीं काल का कोप पार्थ पर बीता,
वह मरा और दुर्योधन ने रण जीता,
मैं एक खेल फिर जग को दिखलाऊँगा,
जय छोड़ तुम्हारे पास चला आऊँगा।

जग में जो भी निर्दलित, प्रताड़ित जन हैं,
जो भी निहीन हैं, निन्दित हैं, निर्धन हैं,
यह कर्ण उन्हीं का सखा, बन्धु, सहचर है,
विधि के विरुद्ध ही उसका रहा समर है।

सच है कि पांडवों को न राज्य का सुख है,
पर, केशव जिनके साथ, उन्हें क्या दुख है?
उनसे बढ़ कर मैं क्या उपकार करूँगा?
है कौन त्रास, केवल मैं जिसे हरूँगा?

हाँ, अगर पांडवों की न चली इस रण में,
वे हुए हतप्रभ किसी तरह जीवन में,
राधेय न कुरुपति का सह-जेता होगा,
वह पुनः निःस्व दलितों का नेता होगा।

है अभी उदय का लग्न, दृश्य सुन्दर है,
सब ओर पांडु-पुत्रों की कीर्त्ति प्रखर है।
अनुकूल ज्योति की घड़ी न मेरी होगी,
मैं आऊँगा जब रात अँधेरी होगी।

यश, मान, प्रतिष्ठा, मुकुट नहीं लेने को,
आऊँगा कुल को अभय दान देने को।
परिभव, प्रदाह, भ्रम, भय हरने आऊँगा,
दुख में अनुजों को भुज भरने आऊँगा।

भीषण विपत्ति में उन्हें जननि! अपना कर,
बाँटने दुःख आऊँगा हृदय लगा कर।
तम में नवीन आभा भरने आऊँगा,
किस्मत को फिर ताज़ा करने आऊँगा।

पर, नहीं, कृष्ण के कर की छाँह जहाँ है,
रक्षिका स्वयं अच्युत की बाँह जहाँ है,
उस भाग्यवान का भाग्य क्षार क्यों होगा?
सामने किसी दिन अन्धकार क्यों होगा?

मैं देख रहा हूँ कुरुक्षेत्र के रण को,
नाचते हुए मनुजों पर महा मरण को,
शोणित से सारी मही क्लिन्न, लथपथ है,
जा रहा किन्तु, निर्बाध पार्थ का रथ है।

हैं काट रहे हरि आप तिमिर की कारा,
अर्जुन के हित बह रही उलट कर धारा।
शत पाश व्यर्थ रिपु का दल फैलाता है,
वह जाल तोड़ हर बार निकल जाता है।

मैं देख रहा हूँ जननि! कि कल क्या होगा,
इस महा समर का अन्तिम फल क्या होगा?
लेकिन, तब भी मन तनिक न घबराता है,
उत्साह और दुगुना बढ़ता जाता है।

बज चुका काल का पटह, भयानक क्षण है,
दे रहा निमत्रण सबको महामरण है।
छाती के पूरे पुरुष प्रलय झेलेंगे,
झंझा की उलझी लटे खीच खेलेंगे।

कुछ भी न बचेगा शेष अन्त में जाकर,
विजयी होगा संतुष्ट तत्त्व क्या पाकर?
कौरव विलीन जिस पथ पर हो जायेंगे,
पांडव क्या उससे भिन्न राह पायेंगे?

है एक पन्थ कोई जीते या हारे,
खुद मरे याकि बढकर दुश्मन को मारे।
एक ही देश दोनों को जाना होगा,
बचने का कोई नही बहाना होगा।

निस्सार द्रोह की क्रिया, व्यर्थ यह रण है,
खोखला हमारा और पार्थ का प्रण है।
फिर भी, जानें किस लिए, न हम रुकते हैं?
चाहता जिधर को काल, उधर झुकते हैं।

जीवन-सरिता की बड़ी अनोखी गति है,
कुछ समझ नही पाती मानव की मति है।
बहती प्रचंडता से सबको अपना कर,
सहसा खो जाती महा सिधु को पाकर।

फिर लहर, धार, बुद्बुद की नही निशानी,
सबकी रह जाती केवल एक कहानी।
सब मिल हो जाते विलय एक ही जल मे,
मूर्त्तियाँ पिघल मिल जातीं धातु तरल में।

सो, इसी पुण्य-भू कुरुक्षेत्र में कल से,
लहरें हो एकाकार मिलेगी जल से।
मूर्त्तियाँ खूब आपस में टकरायेंगी,
तारल्य-बीच फिर गलकर खो जायेंगी।

आपस में हों हम खरे या कि हों खोटे,
पर, काल बली के लिए सभी हैं छोटे।
छोटे होकर कल से सब साथ मरेंगे,
शत्रुता, न जानें, कहाँ समेट धरेंगे?

लेकिन, चिंता यह वृथा, बात जाने दो,
जैसा भी हो, कल का प्रभात आने दो।
दीखती किसी भी तरफ न उजियाली है,
सत्य ही, आज की रात बड़ी काली है।

चंद्रमा-सूर्य तम में जब छिप जाते हैं,
किरणों के अन्वेषी जब अकुलाते हैं,
तब धूमकेतु, बस, इसी तरह आता है,
रौशनी जरा मरघट में फैलाता है।

हो रहा मौन राधेय चरण को छूकर,
दो विन्दु अश्रु के गिरे दृगों से चूकर।
बेटे का मस्तक सूँघ, बड़े ही दुख से,
कुन्ती लौटी कुछ कहे बिना ही मुख से।

कर्ण-भीष्म-संवाद*

गिरि का उदग्र गौरवाधार
गिर जाय श्रृंग ज्यों महाकार,
अथवा सूना कर आसमान
ज्यों गिरे टूट रवि भासमान,
कौरव-दल का कर तेज हरण
ज्यों गिरे भीष्म आलोकवरण।

कुरुकुल का दीपित ताज गिरा,
थक कर बूढ़ा जब बाज गिरा,
भूलुठित पितामह को विलोक,
छा गया समर में महा शोक,
कुरुपति ही धैर्य न खोता था,
अर्जुन का मन भी रोता था।

रो-धो कर तेज नया दमका,
दूसरा सूर्य सिर पर चमका,
कौरवी तेज दुर्जेय उठा,
रण करने को राधेय उठा,
सबके रक्षक गुरु आर्य हुए,
सेनानायक आचार्य हुए।

---

* कथा है कि महाभारत युद्ध के आरम्भ होने के पूर्व, दुर्योधन ने भीष्म से यह जानना चाहा कि दोनों पक्षों में कौन-कौन वीर ऐसे हैं जो रथी या महारथी समझे जा सकते हैं। इस प्रसंग में, सब के नाम लेते हुए भीष्म ने यह कह दिया कि कर्ण अर्धरथी है, क्योंकि यह जितना बकता है, उतना काम नहीं करता। इस पर कर्ण ने कहा कि तब हम दोनों एक साथ नहीं लड़ेंगे; या तो आप लड़ लीजिये या मैं लड़ लूँ। निश्चित हुआ कि पहले भीष्म लड़ें। जब तक भीष्म लड़ते रहे, कर्ण ने युद्ध में प्रवेश नहीं किया। युद्ध करने को वह तब उठा, जब पितामह शर-शय्या पर गिर गये।

राधेय किन्तु जिनके कारण
था अब तक किये मौन धारण,
उनकी शुभ आशिष पाने को,
अपना सद्धर्म निभाने को,
वह शर-शय्या की ओर चला,
पग-पग हो विनय-विभोर चला।

छू भीष्मदेव के चरण युगल,
बोला वाणी राधेय सरल,
हे तात! आपका प्रोत्साहन
पा सका नहीं जो लांछित जन,
यह वही सामने आया है,
उपहार अश्रु का लाया है।

आज्ञा हो तो अब धनुष धरूँ,
रण में चलकर कुछ काम करूँ,
देखूँ, है कौन प्रलय उतरा,
जिससे डगमग हो रही धरा;
कुरुपति को विजय दिलाऊँ मैं,
या स्वयं वीर-गति पाऊँ मैं।

अनुचर के दोष क्षमा करिये,
मस्तक पर वरद पाणि धरिये,
आखिरी मिलन की वेला है,
मन लगता बड़ा अकेला है।
मद-मोह त्यागने आया हूँ,
पद-धूलि माँगने आया हूँ।

भीष्म ने खोल निज सजल नयन,
देखे कर्ण के आर्द्र लोचन,
बढ़ खींच पास में ला करके,
छाती से उसे लगा करके,
बोले—"क्या तत्त्व विशेष बचा!
बेटा, आँसू ही शेष बचा।

मैं रहा रोकता ही क्षण-क्षण,
पर, हाय, हठी यह दुर्योधन,
अंकुश विवेक का सह न सका,
मेरे कहने में रह न सका,
क्रोधान्ध, भ्रान्त, मद में विभोर,
ले ही आया संग्राम घोर।

अब कहो, आज क्या होता है?
किसका समाज यह रोता है?
किसका गौरव? किसका सिंगार?
जल रहा पंक्ति के आर-पार?
किसका वन-बाग उजड़ता है?
यह कौन मारता-मरता है?

फूटता द्रोह-दव का पावक,
बन जाता सकल समाज नरक,
सबका वैभव, सबका सुहाग,
जाती डकार यह कुटिल आग,
जब बन्धु विरोधी होते हैं,
सारे कुलवासी रोते हैं।

इसलिए, पुत्र! अब भी रुक कर,
मन में सोचो, यह महासमर
किस ओर तुम्हें ले जायेगा?
फल अलभ कौन दे पायेगा?
मानवता ही मिट जायेगी,
फिर विजय सिद्धि क्या लायेगी?

ओ मेरे प्रतिद्वन्द्वी मानी!
निश्छल, पवित्र, गुणमय, ज्ञानी!
मेरे मुख से सुन परुष वचन,
तुम वृथा मलिन करते थे मन,
मैं नहीं निरा अवशंसी था,
मन ही मन बड़ा प्रशंसी था।

सो भी इसलिए कि दुर्योधन,
पा सदा तुम्हीं से आश्वासन,
मुझको न मानकर चलता था,
पग-पग पर रूठ मचलता था;
अन्यथा पुत्र! तुमसे बढ़कर,
मैं किसे मानता वीर प्रवर?

पार्थोपम रथी धनुर्धारी,
केशव-समान रणभट भारी,
धर्मज्ञ, धीर, पावन-चरित्र,
दीनों, दलितों के विहित मित्र।
अर्जुन को मिले कृष्ण जैसे,
तुम मिले कौरवों को वैसे।

पर, हाय, वीरता का संबल,
रह जायेगा धनु ही केवल?
या शान्ति-हेतु शीतल, शुचि श्रम
भी कभी करेंगे वीर परम?
ज्वाला भी कभी बुझायेंगे?
या लड़कर ही मर जायेंगे?

चल सके सुयोधन पर यदि वश,
बेटा! लो जग में नया सुयश,
लड़ने से बढ़ यह काम करो,
आज ही बन्द संग्राम करो।
तुम इसे रोक यदि पाओगे,
जन के त्राता कहलाओगे।

जा कहो वीर दुर्योधन से,
कर दूर द्वेष-विष को मन से,
वह मिले पाण्डवों से जाकर,
मरने दे मुझे शान्ति पाकर;
मेरा अन्तिम वलिदान रहे,
सुख से सारी सन्तान रहे।"

"हे पुरुषसिंह!" कर्ण ने कहा,
"अब और पंथ क्या शेष रहा?
संकटापन्न जीवन-समान
है बीच सिन्धु में महायान,
इस पार शान्ति, उस पार विजय,
अब क्या हो भला नया निश्चय?

ज़य मिले बिना विश्राम नहीं,
इस समय सन्धि का नाम नहीं,
आशिष दीजिये विजय कर रण,
फिर देख सकूँ ये भव्य चरण;
जलयान सिन्धु से तार सकूँ,
सबको मैं पार उतार सकूँ।

कलतक था पथ शान्ति का सुगम,
पर, हुआ आज वह अति दुर्गम,
अब उसे देख ललचाना क्या?
पीछे को पाँव हटाना क्या?
जय को कर लक्ष्य चलेंगे हम,
अरि-दल का गर्व दलेंगे हम।

हे महाभाग, कुछ दिन जीकर,
देखिये और यह महासमर,
मुझको भी प्रलय मचाना है,
कुछ खेल नया दिखलाना है;
इस दम तो मुख मोड़िये नहीं,
मेरी हिम्मत तोड़िये नहीं।

करने दीजिये स्वव्रत पालन,
अपने महान प्रतिभट से रण,
अर्जुन का शीश उड़ाना है,
कुरुपति का हृदय जुड़ाना है,
करने को पिता! अमर मुझको,
है बुला रहा संगर मुझको।"

गांगेय निराशा में भर कर,
बोले—"तब हे नरवीर प्रवर!
जो भला लगे वह काम करो,
जाओ, रण में लड़ नाम करो,
भगवान शमित विष तूर्ण करें,
अपनी इच्छाएँ पूर्ण करें।"

भीष्म का चरण-वन्दन करके,
ऊपर सूर्य को नमन करके,
देवता वज्र-धनु-धारी-सा,
केसरी अभय मगचारी-सा,
राधेय समर की ओर चला,
करता गर्जन घनघोर चला,

पाकर प्रसन्न अलोक नया,
कौरव-सेना का शोक गया,
आशा की नवल तरंग उठी,
जन-जन में नयी उमंग उठी,
मानों, बाणों का छोड़ शयन,
आ गये स्वयं गंगानन्दन।

सेना समग्र हुंकार उठी,
'जय-जय राधेय!' पुकार उठी,
उल्लास मुक्त हो छहर उठा,
रण-जलधि घोष में घहर उठा,
बज उठी समर-भेरी भीषण,
हो गया शुरू संग्राम गहन।

सागर-सा गर्जित, क्षुभित घोर,
विंकराल दण्डधर-सा कठोर,
अरिदल पर कुपित कर्ण टूटा,
धनु पर चढ़ महामरण छूटा,
ऐसी पहली ही आग चली,
पाण्डव की सेना भाग चली।

झंझा की घोर झकोर चली,
डालों को तोड़-मरोड़ चली,
पेड़ों की जड़ टूटने लगी,
हिम्मत सबकी छूटने लगी,
ऐसा प्रचंड तूफान उठा,
पर्वत का भी हिल प्राण उठा।

प्लावन का पा दुर्जय प्रहार
जिस तरह काँपती है कगार,
या चक्रवात में यथा कीर्ण
उड़ने लगते पत्ते विशीर्ण,
त्यों उठा काँप थर-थर अरिदल,
मच गयी बड़ी भीषण हलचल।

सब रथी व्यग्र बिललाते थे,
कोलाहल रोक न पाते थे,
सेना को यों बेहाल देख,
सामने उपस्थित काल देख,
गरजे अधीर हो मधुसूदन,
बोले पार्थ से निगूढ़ वचन।

"दे अचिर सैन्य को अभयदान,
अर्जुन ! अर्जुन ! हो सावधान।
तू नही जानता है यह क्या,
करता न शत्रु पर कर्ण दया ?
दाहक प्रचंड इसका बल है,
यह मनुज नहीं, कालानल है।

बड़वानल, यम या कालपवन,
करते जब कभी कोप भीषण,
सारा सर्वस्व न लेते हैं,
उच्छिष्ट छोड़ कुछ देते हैं।
पर, इसे क्रोध जब आता है,
कुछ भी न शेष रह पाता है।

बाणों का अप्रतिहत प्रहार,
अप्रतिम तेज, पौरुष अपार,
त्यों गर्जन पर गर्जन निर्भय,
आ गया स्वयं सामने प्रलय,
तू इसे रोक भी पायेगा ?
या खड़ा मूक रह जायेगा ?

यह महामत्त मानव-कुंजर,
कैसे अशंक हो रहा विचर,
कर को जिस ओर बढाता है,
पथ उधर स्वयं बन जाता है,
तू नही शरासन तानेगा,
अंकुश किसका यह मानेगा ?

अर्जुन ! विलंब पातक होगा,
शैथिल्य प्राण - घातक होगा,
उठ, जाग वीर ! मूढ़ता छोड़,
धर धनुष - बाण अपना कठोर।
तू नहीं जोश में आयेगा,
आज ही समर चुक जायेगा।"

केशव का सिंह दहाड़ उठा,
मानों, चिग्घार पहाड़ उठा,
बाणों की फिर लग गयी झड़ी,
भागती फौज हो गयी खड़ी।
जूझने लगे कौन्तेय - कर्ण,
ज्यों लड़ें परस्पर दो सुपर्ण।

एक ही वृन्त के दो कुड्मल, एक ही कुक्षि के दो कुमार,
एक ही वंश के दो भूषण, विभ्राट वीर पर्वताकार,
बेधने परस्पर लगे सहज-सोदर शरीर में प्रखर बाण,
दोनों की किंशुक देह हुई, दोनों के पावक हुए प्राण।
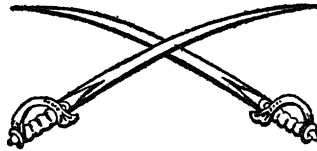
विकास

द्वापर की कथा बड़ी दारुण,
लेकिन, कलि ने क्या दान दिया ?
नर के वध की प्रक्रिया बढ़ी,
कुछ और उसे आसान किया।
पर, हाँ, जो युद्ध स्वर्गमुख था,
वह आज निन्द्य-सा लगता है।
बस, इसी मन्दता से विकास का
भाव मनुज में जगता है।

धीमी कितनी गति है? विकास
कितना अदृश्य हो चलता है?
इस महावृक्ष में एक पत्र
सदियों के बाद निकलता है।
थे जहाँ सहस्रों वर्ष पूर्व,
लगता है वहीं खड़े हैं हम,
है वृथा गर्व, उन गुफावासियों से
कुछ बहुत बड़े हैं हम।

अनगढ़ पत्थर से लड़ो, लड़ो
किटकिटा नखों से, दाँतों से,
या लड़ो ऋक्ष के रोमगुच्छ-पूरित
वज्रीकृत हाथों से,
या चढ़ विमान पर नर्म मुट्ठियों से
गोलों की वृष्टि करो,
आ जाय लक्ष्य में जो कोई,
निष्ठुर हो सबके प्राण हरो।

ये तो साधन के भेद, किन्तु,
भावों में तत्त्व नया क्या है?
क्या खुली प्रेम की आँख अधिक?
भीतर कुछ बढ़ी दया क्या है?
झर गयी पूँछ, रोमान्त झरे,
पशुता का झरना बाकी है;
बाहर-बाहर तन सँवर चुका,
मन अभी सँवरना बाकी है।

देवत्व अल्प, पशुता अथोर,
तमतोम प्रचुर, परिमित आभा,
द्वापर के मन पर भी प्रसरित
थी यही आज वाली द्वाभा।
बस, इसी तरह, तब भी ऊपर
उठने को नर अकुलाता था,
पर, पद-पद पर वासना-जाल में
उलझ-उलझ रह जाता था।

औ' जिस प्रकार हम आज बेल-
बूटों के बीच खचित करके,
देते हैं रण को रम्य रूप
विप्लवी उमंगों में भरके,
कहते, अनीतियों के विरुद्ध
जो युद्ध जगत में होता है,
वह नहीं गरल का कोष, अमृत का
बड़ा सलोना सोता है

बस, इसी तरह, कहता होगा
द्वाभा - शासित द्वापर का नर,
निष्ठुरताएँ हों भले, किन्तु,
है महामोक्ष का द्वार समर।
सत्य ही, समुन्नति के पथ पर
चल रहा चतुर मानव प्रबुद्ध,
कहता है क्रान्ति उसे जिसको
पहले कहता था धर्मयुद्ध।

साधन और साध्य

है वृथा धर्म का किसी समय
करना विग्रह के साथ ग्रथन,
करुणा से कढ़ता धर्म विमल,
है मलिन पुत्र हिंसा का रण।
जीवन के परम ध्येय (सुख) को
सारा समाज अपनाता है,
देखना यही है, कौन वहाँ
तक किस प्रकार से जाता है।

है धर्म पहुँचना नहीं; धर्म तो
जीवन भर चलने में है,
फैला कर पथ पर स्निग्ध ज्योति
दीपक - समान जलने में है।
यदि कहें विजय, तो विजय प्राप्त
हो जाती परतापी को भी,
सत्य ही, पुत्र, दारा, धन, जन
मिल जाते हैं पापी को भी।

इसलिए, ध्येय में नहीं, धर्म तो
सदा निहित साधन में है,
वह नहीं किसी भी प्रधन-कर्म,
हिंसा, विग्रह या रण में है।
तब भी जो नर चाहते, धर्म
समझे मनुष्य संहारों को,
गूँथना चाहते वे फूलों के
साथ तप्त अंगारों को।

हो जिसे धर्म से प्रेम, कभी
वह कुत्सित कर्म करेगा क्या ?
बर्बर, कराल, दंष्ट्री बन कर
मारेगा और मरेगा क्या ?
पर, हाय, मनुज के भाग्य अभी
तक भी खोटे के खोटे हैं,
हम बढ़े बहुत बाहर, भीतर
लेकिन, छोटे के छोटे हैं।

संग्राम धर्मगुण का विशेष्य
किस तरह भला हो सकता है ?
कैसे मनुष्य अंगारों से
अपना प्रदाह धो सकता है ?
सर्पिणी - उदर से जो निकला,
पीयूष नहीं दे पायेगा,
निश्छल होकर संग्राम धर्म का
साथ न कभी निभायेगा।

मानेगा यह दंष्ट्री कराल
विषधर भुजंग किसका यंत्रण ?
पल-पल असि को कर धर्मसिक्त
नर कभी जीत पाया है रण ?
जो जहर हमें बरबस उभार
संग्राम - भूमि में लाता है,
सत्पथ से कर विचलित अधर्म
की ओर वही ले जाता है।

साधन को भूल सिद्धि पर जब
टकटकी हमारी लगती है,
फिर विजय छोड़ भावना और
कोई न हृदय में जगती है।
तब जो भी आते विघ्न-रूप,
हों धर्म, शील या सदाचार,
एक ही सदृश हम करते हैं
सबके सिर पर पाद-प्रहार।

उतनी भी पीड़ा हमें नहीं
होती है इन्हें कुचलने में,
जितनी होती है रोज कंकड़ों
के ऊपर हो चलने में।
सत्य ही, ऊर्ध्व-लोचन कैसे
नीचे मिट्टी का ज्ञान करे?
जब बड़ा लक्ष्य हो खींच रहा,
छोटी बातों का ध्यान करे?

चलता हो अन्ध ऊर्ध्वलोचन,
जानता नहीं, क्या करता है;
नीचे पथ में है कौन, पाँव
जिसके मस्तक पर धरता है।
काटता शत्रु को वह लेकिन,
साथ ही, धर्म कट जाता है,
फाड़ता विपक्षी को, अन्तर
मानवता का फट जाता है।

वासना - वह्नि से जो निकला,
कैसे हो वह संयुग कोमल ?
देखने हमें देगा वह क्यों,
करुणा का पन्थ सुगम शीतल ?
जब लोभ सिद्धि का आँखों पर
माँड़ी बन कर छा जाता है,
तब वह मनुष्य से बड़े - बड़े
दुश्चित्य कृत्य करवाता है।

फिर क्या विस्मय, कौरव - पांडव
भी नहीं धर्म के साथ रहे ?
जो रंग युद्ध का है, उससे
उनके भी अलग न हाथ रहे।
दोनों ने कालिख छुयी, शीश
पर जय का तिलक लगाने को,
सत्पथ से दोनों डिगे, दौड़
कर विजय-विन्दु तक जाने को।

पाण्डवों को प्राणदान

गरजा अशंक हो कर्ण, शल्य!
देखो कि आज क्या करता हूँ,
कौन्तेय-कृष्ण, दोनों को ही
जीवित किस तरह पकड़ता हूँ।
बस, आज शाम तक यहीं सुयोधन
का जय-तिलक सजा करके,
लौटेंगे हम दुन्दुभि अवश्य
जय की रण-बीच बजा करके।

इतने में, कुटिल नियति-प्रेरित
पड़ गये सामने धर्मराज,
टूटा कृतान्त-सा कर्ण, कोक
पर पड़े टूट जिस तरह बाज।
लेकिन, दोनों का विषम युद्ध
क्षण भर भी नहीं ठहर पाया,
सह सकी न गहरी चोट युधिष्ठिर
की मुनि-कल्प मृदुल काया।

भागे वे रण को छोड़, कर्ण ने
झपट दौड़ कर गहा ग्रीव;
कौतुक से बोला, "महाराज!
तुम तो निकले कोमल अतीव।
हाँ, भीरु नहीं, कोमल कहकर
ही जान बचाये देता हूँ,
आगे की खातिर एक युक्ति
भी सरल बताये दता हूँ।

हैं विप्र, आप, सेविये धर्म
तरु-तले कहीं निर्जन वन में,
क्या काम साधुओं का, कहिये,
इस महाघोर, घातक रण में?
मत कभी क्षात्रता के धोखे
रण का प्रदाह झेला करिये,
जाइये, नहीं फिर कभी गरुड़
की झपटों से खेला करिये।"

भागे विपन्न हो समर छोड़
ग्लानि में निमज्जित धर्मराज,
सोचते, "कहेगा क्या मन में
जानें, यह शूरों का समाज।
प्राण ही हरण करके रहने
क्यों नहीं हमारा मान दिया?
आमरण ग्लानि सहने को ही
पापी ने जीवन-दान दिया।"

समझे न हाय! कौन्तेय, कर्ण ने
छोड़ दिये किस लिए प्राण,
गरदन पर आकर लौट गयी
सहसा क्यों विजयी की कृपाण?
लेकिन, अदृश्य ने लिखा, कर्ण ने
वचन धर्म का पाल दिया,
खड्ग का छीन कर ग्रास, उसे
माँ के अंचल में डाल दिया।

कितना पवित्र यह शील! कर्ण
जब तक भी रहा खड़ा रण में,
चेतनामयी माँ की प्रतिमा
घूमती रही तब तक मन में।
सहदेव, युधिष्ठिर, नकुल, भीम को
बार-बार बस में लाकर,
कर दिया मुक्त हँस कर उसने
भीतर से कुछ इंगित पाकर।

देखता रहा सब शल्य, किन्तु,
जब इसी तरह भागे पवितन,
बोला होकर वह चकित कर्ण की
ओर देख यह परुष वचन,
"रे सूतपुत्र! किस लिए विकट
यह कालपृष्ठ धनु धरता है?
मारना नहीं है तो फिर क्यों
वीरों को घेर पकड़ता है?

संग्राम विजय तू इसी तरह
संध्या तक आज करेगा क्या?
मारेगा अरियों को कि उन्हें
दे जीवन स्वयं मरेगा क्या?
रण का विचित्र यह खेल
मुझे तो समझ नहीं कुछ पड़ता है,
कायर! अवश्य कर याद पार्थ की
तू मन ही मन डरता है।"

हँस कर बोला राधेय, "शल्य !
पार्थ की भीति उसको होगी,
क्षयमाण, क्षणिक, भंगुर शरीर
पर मृषा प्रीति जिसको होगी।
इस चार दिनों के जीवन को
मैं तो कुछ नहीं समझता हूँ,
करता हूँ वही सदा जिसको
भीतर से सही समझता हूँ।

पर, ग्रास छीन अतिशय बुभुक्षु
अपने इन बाणों के मुख से,
होकर प्रसन्न हँस देता हूँ
चंचल किस अंतर के सुख से;
वह कथा नहीं अन्तःपुर की
बाहर मुख से कहने की है,
यह व्यथा धर्म के वर-समान
सुख-सहित मौन सहने की है।

सब आँख मूँद कर लड़ते हैं
जय इसी लोक में पाने को,
पर, कर्ण जूझता है कोई
ऊँचा सद्धर्म निभाने को।
सबके समेत पंकिल सर में
मेरे भी चरण पड़ेंगे क्या ?
ये लोभ मृत्तिकामय जग के
आत्मा का तेज हरेंगे क्या ?

यह देह टूटनेवाली है, इस
मिट्टी का कब तक प्रमाण?
मृत्तिका छोड़ ऊपर नभ में
भी तो ले जाना है विमान।
कुछ जुटा रहा सामान खमंडल
में सोपान बनाने को,
ये चार फूल फेंके मैंने
ऊपर की राह सजाने को।

ये चार फूल हैं मोल किन्हीं
कातर नयनों के पानी के,
ये चार फूल प्रच्छन्न दान
हैं किसी महाबल दानी के।
ये चार फूल, मेरा अदृष्ट था
हुआ कभी जिनका कामी,
ये चार फूल पाकर प्रसन्न
हँसते होंगे अन्तर्यामी।

समझोगे नहीं शल्य! इसको,
यह करतब नादानों का है,
यह खेल जीत से बड़े किसी
मकसद के दीवानों का है।
जानते स्वाद इसका वे ही
जो सुरा स्वप्न की पीते हैं,
दुनिया में रहकर भी दुनिया
से अलग खड़े जो जीते हैं।"

मनुष्य और सर्प

चल रहा महाभारत का रण,
जल रहा धरित्री का सुहाग,
फट कुरुक्षेत्र में खेल रही
नर के भीतर की कुटिल आग।
बाजियों-गजों की लोथों मे
गिर रहे मनुज के छिन्न अंग,
बह रहा चतुष्पद और द्विपद
का रुधिर मिश्र हो एक संग।

गत्वर, गैरेय, सुघर भूधर-से
लिये रक्त-रजित शरीर,
थे जूझ रहे कौन्तेय-कर्ण
क्षण-क्षण करते गर्जन गभीर।
दोनों रणकुशल धनुर्धर नर,
दोनों समबल, दोनों समर्थ,
दोनों पर दोनों की अमोघ
थी विशिख-वृष्टि हो रही व्यर्थ।

इतने में शर के लिए कर्ण ने
देखा ज्यों अपना निषंग,
तरकस में से फुंकार उठा
कोई प्रचड विषधर भुजग।
कहता कि "कर्ण! मै अश्वसेन
विश्रुत भुजगों का स्वामी हूँ,
जन्म से पार्थ का शत्रु परम,
तेरा बहुविध हितकामी हूँ।

बस, एक बार कर कृपा धनुष पर
चढ़ शरव्य तक जाने दे,
इस महाशत्रु को अभी तुरत
स्यन्दन में मुझे सुलाने दे।
कर वमन गरल जीवन भर का
संचित प्रतिशोध उतारूँगा,
तू मुझे सहारा दे, बढ़कर
मैं अभी पार्थ को मारूँगा।"

राधेय जरा हँसकर बोला,
"रे कुटिल! बात क्या कहता है?
जय का समस्त साधन नर का
अपनी बाँहों में रहता है।
उस पर भी साँपों से मिलकर
मैं मनुज मनुज से युद्ध करूँ?
जीवन भर जो निष्ठा पाली
उससे आचरण विरुद्ध करूँ?

तेरी सहायता से जय तो मैं
अनायास पा जाऊँगा,
आनेवाली मानवता को
लेकिन, क्या मुख दिखलाऊँगा?
संसार कहेगा जीवन का
सब सुकृत कर्ण ने क्षार किया,
प्रतिभट के वध के लिए सर्प का
पापी ने साहाय्य लिया।

रे अश्वसेन! तेरे अनेक
वंशज हैं छिपे नरों में भी,
सीमित वन में ही नहीं, बहुत
बसते पुर-ग्राम-घरों में भी।
ये नर-भुजंग मानवता का
पथ कठिन बहुत कर देते हैं,
प्रतिबल के वध के लिए नीच
साहाय्य सर्प का लेते हैं।

ऐसा न हो कि इन साँपों में
मेरा भी उज्ज्वल नाम चढ़े,
पाकर मेरा आदर्श और
कुछ नरता का यह पाप बढ़े।
अर्जुन है मेरा शत्रु, किन्तु,
वह सर्प नहीं, नर ही तो है,
संघर्ष सनातन नहीं, शत्रुता
इस जीवन भर ही तो है।

अगला जीवन किसलिए भला
तब हो द्वेषान्ध बिगाड़ूँ मैं!
साँपों की जाकर शरण
सर्प बन क्यों मनुष्य को मारूँ मैं?
जा भाग, मनुज का सहज शत्रु
मित्रता न मेरी पा सकता,
मैं किसी हेतु भी यह कलंक
अपने पर नहीं लगा सकता।"

नेता

नेता ! नेता ! नेता !
क्या चाहिए तुझे रे मूरख !
सखा ? बन्धु ? सहचर ? अनुरागी ?
या जो तुझको नचा - नचा मारे
वह हृदय - विजेता ?
नेता ! नेता ! नेता !

मरे हुओं की याद भले कर,
किस्मत से फरियाद भले कर,
मगर, राम या कृष्ण लौट कर
फिर न तुझे मिलनेवाले हैं।
टूट चुकी है कड़ी;
एक तू ही उसको पहने बैठा है।
पूजा के ये फूल फेंक दे,
अब देवता नहीं होते हैं।
बीत चुके हैं सतयुग - द्वापर,
बीत चुका है त्रेता।
नेता ! नेता ! नेता !

नेता का अब नाम नहीं ले,
अन्धेपन से काम नहीं ले,
हवा देश की बदल गयी है;
चाँद और सूरज, ये भी अब
छिपकर नोट जमा करते हैं।
और जानता नहीं अभागे,

मन्दिर का देवता चोर-बाजारी में पकड़ा जाता है?
फूल इसे पहनायेगा तू?
अपना हाथ घिनायेगा तू?

उठ मन्दिर के दरवाजे से,
जोर लगा खेतों में अपने;
नेता नहीं, भुजा करती है
सत्य सदा जीवन के सपने।
पूजे अगर खेत के ढेले
तो सचमुच, कुछ पा जायेगा,
भीख याकि वरदान माँगता
पड़ा रहा तो पछतायेगा।
इन ढेलों को तोड़,
भाग्य इनसे तेरा जगनेवाला है।
नेताओं का मोह मूढ़!
केवल तुझको ठगनेवाला है।
लगा जोर अपने भविष्य का बन तू आप प्रणेता।
नेता! नेता! नेता!

१९५२ ई०]
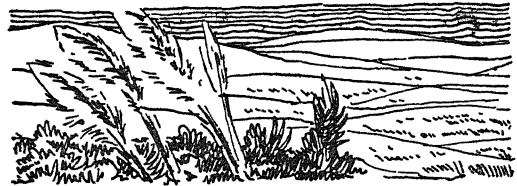
भारत का यह रेशमी नगर

हो गया एक नेता मैं भी ? तो बंधु, सुनो,
मैं भारत के रेशमी नगर में रहता हूँ,
जनता तो चट्टानों का बोझ सहा करती,
मैं चाँदनियों का बोझ किसी विध सहता हूँ।

दिल्ली फूलों में बसी, ओस-कण से भींगी,
दिल्ली सुहाग है, सुषमा है, रंगीनी है,
प्रेमिका-कंठ में पड़ी मालती की माला,
दिल्ली सपनों की सेज मधुर रस-भीनी है।

बस, जिधर उठाओ दृष्टि, उधर रेशम केवल,
रेशम पर से क्षण भर को आँख न हटती है,
सच कहा एक भाई ने, दिल्ली में तन से
रेशम से रुखड़ी चीज न कोई सटती है।

आखिर हो भी क्यों नहीं ? कि दिल्ली के भीतर
जानें, युग से कितनी सिद्धियाँ समायी हैं !
औ' सबका पहुँचा काल तभी से जब उनकी
आँखें रेशम पर बहुत अधिक ललचायी हैं।

रेशम के कोमल तार, क्लान्तियों के धागे,
हैं बँधे उन्हीं से अंग यहाँ आजादी के,
दिल्लीवाले गा रहे बैठ निश्चिंत, मगन
रेशमी महल में गीत खुरदुरी खादी के।

वेतनभोगिनी, विलासमयी यह देवपुरी,
ऊँघती कल्पनाओं से जिसका नाता है,
जिसको इतनी चिंता का भी अवकाश नहीं
खाते हैं जो वह अन्न कौन उपजाता है।

उद्यानों का यह नगर, कहीं भी जा देखो,
इसमें कुम्हार का चाक न कोई चलता है,
मजदूर मिलें, पर, मिलता कहीं किसान नहीं,
फूलते फल, पर, मक्का कहीं न फलता है।

क्या ताना है मोहक वितान मायापुर का!
बस, फूल-फूल, रेशम-रेशम फैलाया है;
लगता है, कोई स्वर्ग खमंडल से उड़कर
मदिरा में माता हुआ भूमि पर आया है।

ये, जो फूलों के चीरों में चमचमा रहीं,
मधुमुखी इंद्रजाया की सहचरियाँ होंगी,
ये, जो यौवन की धूम मचाये फिरती हैं,
भूतल पर भटकी हुई इंद्रपरियाँ होंगी।

उभरे गुलाब से घट कर कोई फूल नहीं,
नीचे कोई सौंदर्य न कसी जवानी से,
दिल्ली की सुषमाओं का कौन बखान करे?
कम नहीं कड़ी कोई भी स्वप्न-कहानी से।

गंदगी, गरीबी, मैलेपन को दूर रखो,
शुद्धोदन के पहरेवाले चिल्लाते हैं;
है कपिलवस्तु पर फूलों का शृंगार पड़ा,
रथ-समारूढ़ सिद्धार्थ घूमने जाते हैं।

सिद्धार्थ देख रम्यता रोज ही फिर आते,
मन में कुत्सा का भाव नहीं, पर, जगती है;
समझाये उनको कौन, नहीं भारत वैसा
दिल्ली के दर्पण में जैसा वह लगता है?

भारत धूलों से भरा, आँसुओं से गीला,
भारत अब भी व्याकुल विपत्ति के घेरे में।
दिल्ली में तो है खूब ज्योति की चहल-पहल,
पर, भटक रहा है सारा देश अँधेरे में।

रेशमी कलम से भाग्य-लेख लिखनेवालो,
तुम भी अभाव से कभी ग्रस्त हो रोये हो?
बीमार किसी बच्चे की दवा जुटाने में
तुम भी क्या घर भर पेट बाँधकर सोये हो?

असहाय किसानों की किस्मत को खेतों में
क्या अनायास जल में बह जाते देखा है?
'क्या खायेंगे?' यह सोच निराशा से पागल
बेचारों को नीरव रह जाते देखा है?

देखा है ग्रामों की अनेक रंभाओं को,
जिनकी आभा पर धूल अभी तक छायी है?
रेशमी देह पर जिन अभागिनों की अब तक,
रेशम क्या? साड़ी सही नहीं चढ़ पायी है।

पर, तुम नगरों के लाल, अमीरी के पुतले,
क्यों व्यथा भाग्यहीनों की मन में लाओगे?
जलता हो सारा देश, किंतु, होकर अधीर
तुम दौड़-दौड़ कर क्यों यह आग बुझाओगे?

चिंता हो भी क्यों तुम्हें ? गाँव के जलने से
दिल्ली में तो रोटियाँ नहीं कम होती हैं।
धुलता न अश्रु-बूँदों से आँखों का काजल,
गालों पर की धूलियाँ नहीं नम होती हैं।

जलते हैं तो ये गाँव देश के जला करें,
आराम नई दिल्ली अपना कब छोड़ेगी ?
या रक्खेगी मरघट में भी रेशमी महल,
या आँधी की खाकर चपेट सब छोड़ेगी।

चल रहे ग्राम-कुंजों में पछिया के झकोर,
दिल्ली, लेकिन, ले रही लहर पुरवाई में।
है विकल देश सारा अभाव के तापों से;
दिल्ली सुख से सोयी है नरम रजाई में।

क्या कुटिल व्यंग्य ! दीनता वेदना से अधीर
आशा से जिनका नाम रात-दिन जपती है,
दिल्ली के वे देवता रोज कहते जाते,
'कुछ और धरो धीरज, किस्मत अब छपती है।'

किस्मतें रोज छप रहीं, मगर, जलधार कहाँ ?
प्यासी हरियाली सूख रही है खेतों में;
निर्धन का धन पी रहे लोभ के प्रेत छिपे,
पानी विलीन होता जाता है रेतों में।

हिल रहा देश कुत्सा के जिन आघातों से,
वे नाद तुम्हें ही नहीं सुनायी पड़ते हैं ?
निर्माणों के प्रहरियो ! तुम्हें ही चोरों के
काले चेहरे क्या नहीं दिखायी पड़ते हैं ?

तो होश करो, दिल्ली के देवो, होश करो,
सब दिन तो यह मोहिनी न चलनेवाली है;
होती जाती हैं गर्म दिशाओं की साँसें,
मिट्टी फिर कोई आग उगलनेवाली है।

हो रहीं खड़ी सेनाएँ फिर काली-काली
मेघों-से उभरे हुए नये गजराजों की,
फिर नये गरुड़ उड़ने को पाँखें तोल रहे,
फिर झपट झेलनी होगी नूतन बाजों की।

वृद्धता भले बँध रहे रेशमी धागों से,
साबित इनको, पर, नहीं जवानी छोड़ेगी;
जिसके आगे झुक गये सिद्धियों के स्वामी,
उस जादू को कुछ नयी आँधियाँ तोड़ेंगी।

ऐसा टूटेगा मोह, एक दिन के भीतर
इस राग-रंग की पूरी बर्बादी होगी,
जब तक न देश के घर-घर में रेशम होगा,
तब तक दिल्ली के भी तन पर खादी होगी।

१९५४ ई०]

नील कुसुम

"है यहाँ तिमिर, आगे भी ऐसा ही तम है,
तुम नील कुसुम के लिए कहाँ तक जाओगे?
जो गया, आज तक नही कभी वह लौट सका,
नादान मर्द! क्यों अपनी जान गँवाओगे?

प्रेमिका? अरे, उन शोख बुतों का क्या कहना!
वे तो यों ही उन्माद जगाया करती हैं;
पुतली से लेती बाँध प्राण की डोर प्रथम,
पीछे चुम्बन पर कैद लगाया करती हैं।

इनमें से किसने कहा, चाँद से कम लूँगी?
पर, चाँद तोड़ कर कौन मही पर लाया है?
किसके मन की कल्पना गोद मे बैठ सकी?
किसका जहाज फिर देश लौट कर आया है?"

ओ नीतिकार! तुम झूठ नही कहते होगे,
बेकार मगर, पगलों को ज्ञान सिखाना है;
मरने का होगा खौफ, मौत की छाती में
जिसको अपनी जिन्दगी ढूँढ़ने जाना है?

औ' सुना कहाँ तुमने कि जिन्दगी कहते हैं,
सपनों ने देखा जिसे, उसे पा जाने को?
इच्छाओं की मूर्त्तियाँ घूमती जो मन मे,
उनको उतार मिट्टी पर गले लगाने को?

जिन्दगी, आह! वह एक झलक रंगीनी की,
नंगी उँगली जिसको न कभी छू पाती है,
हम जभी हाँफते हुए चोटियों पर चढ़ते,
वह खोल पंख चोटियाँ छोड़ उड़ जाती है।

रंगीनी की वह एक झलक, जिसके पीछे
है मची हुई आपा-आपी मस्तानों में,
वह एक दीप जिसके पीछे हैं डूब रहीं
दीवानों की किश्तियाँ कठिन तूफानों में।

डूबती हुई किश्तियाँ! और यह किलकारी!
ओ नीतिकार! क्या मौत इसी को कहते हैं?
है यही खौफ, जिससे डरकर जीनेवाले
पानी से अपना पाँव समेटे रहते हैं?

जिन्दगी गोद में उठा-उठा हलराती है
आशाओं की भीषिका झेलनेवालों को;
औ' बड़े शौक से मौत पिलाती है जीवन
अपनी छाती से लिपट खेलनेवालों को।

तुम लाशें गिनते रहे खोजनेवालों की,
लेकिन, उनकी असलियत नहीं पहचान सके;
मुरदों में केवल यही जिन्दगीवाले थे
जो फूल उतारे बिना लौट कर आ न सके।

हो जहाँ कहीं भी नील कुसुम की फुलवारी,
मैं एक फूल तो किसी तरह ले जाऊँगा,
जूड़े में जब तक भेंट नहीं यह बाँध सकूं,
किस तरह प्राण की मणि को गले लगाऊँगा?

१९५० ई०]

चाँद और कवि

रात यों कहने लगा मुझ से गगन का चाँद,
आदमी भी क्या अनोखा जीव होता है!
उलझनें अपनी बनाकर आप ही फँसता,
और फिर बेचैन हो जगता न सोता है।

जानता है तू कि मैं कितना पुराना हूँ?
मैं चुका हूँ देख मनु को जनमते-मरते;
और लाखों बार तुझ-से पागलों को भी
चाँदनी में बैठ स्वप्नों पर सही करते।

आदमी का स्वप्न? है वह बुलबुला जल का,
आज बनता और कल फिर फूट जाता है;
किन्तु, तो भी धन्य; ठहरा आदमी ही तो!
बुलबुलों से खेलता, कविता बनाता है।

मैं न बोला, किन्तु, मेरी रागिनी बोली,
चाँद! फिर से देख, मुझको जानता है तू?
स्वप्न मेरे बुलबुले हैं? है यही पानी?
आग को भी क्या नही पहचानता है तू?

मैं न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
आग में उसको गला लोहा बनाती हूँ;
और उस पर नींव रखती हूँ नये घर की,
इस तरह, दीवार फौलादी उठाती हूँ।

मनु नहीं, मनु-पुत्र है यह सामने, जिसकी
कल्पना की जीभ में भी धार होती है;
बाण ही होते विचारों के नहीं केवल,
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।

स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर कर दे,
"रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं ये;
रोकिये, जैसे बने, इन स्वप्नवालों को,
स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं ये।"

१९४६ ई०]
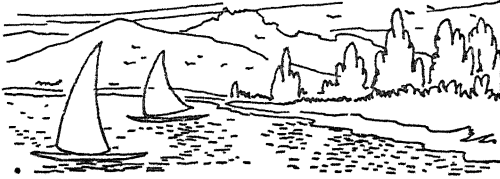
दर्पण

जा रही देवता से मिलने ?
तो इतनी कृपा किये जाओ।
अपनी फूलों की डाली में
दर्पण यह एक लिये जाओ।

आरती, फूल, फल से प्रसन्न
जैसे हों, पहले कर लेना;
जब हाल धरित्री का पूछें,
सम्मुख दर्पण यह धर देना।

बिम्बित है इसमें पुरुष पुरातन
के मानस का घोर भँवर;
है नाच रही पृथ्वी इसमें,
है नाच रहा इसमें अम्बर।

यह स्वयं दिखायेगा उनको
छाया मिट्टी की चाहों की,
अम्बर की घोर विकलता की,
धरती के आकुल दाहों की।

ढहती मीनारों की छाया,
गिरती दीवारों की छाया,
बेमौत हवा के झोंके में
मरती झंकारों की छाया।

छाया छाया-ब्रह्माणी की
जो गीतों का शव ढोती हैं,
भुज में वीणा की लाश लिये
आतप से बचकर सोती है।

झाँकी उस भीत पवन की जो
तूफानों से है डरा हुआ;
उस जीर्ण खमंडल की जिसमें
आतंक-रोर है भरा हुआ।

हिलती वसुन्धरा की झाँकी,
बुझती परम्परा की झाँकी;
अपने में सिमटी हुई, पलित
विद्या अनुर्वरा की झाँकी।

झाँकी उस नयी परिधि की जो
है दीख रही कुछ थोड़ी-सी;
क्षितिजों के पास पड़ी पतली,
चमचम सोने की डोरी-सी।

छिलके उठते जा रहे, नया
अंकुर मुख दिखलाने को है;
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा,
आकाश नया आने को है।

१६४६ ई०]

व्याल-विजय

झूमे जहर चरण के नीचे, मैं उमंग में गाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(१)

यह बाँसुरी बजी माया के मुकुलित आकुंचन में,
यह बाँसुरी बजी अविनाशी के संवेश गहन में;
अस्तित्वों के अनस्तित्व में, महाशान्ति के तल में,
यह बाँसुरी बजी शून्यासन की समाधि निश्चल में।
कंपहीन तेरे समुद्र में जीवन-लहर उठाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(२)

अक्षय-वट पर बजी बाँसुरी, गगन मगन लहराया,
दल पर विधि को लिये जलधि में नाभि-कमल उग आया।
जन्मी नव चेतना, सिहरने लगे तत्त्व चलदल-से,
स्वर का ले अवलम्ब भूमि निकली प्लावन के जल से।
अपने आर्द्र वसन की वसुधा को फिर याद दिलाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(३)

फूली सृष्टि नाद-बन्धन पर, अब तक फूल रही है,
बंसी के स्वर के धागे में धरती झूल रही है।
आदि छोर पर जो स्वर फूँका, पहुँचा अन्त तलक है,
तार-तार में गूँज गीत की, कण-कण बीच झलक है।
आलापों पर उठा जगत को भर-भर पैंग झुलाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(४)

जगमग ओस-विन्दु गुँथ जाते साँसों के तारों में,
गीत बदल जाते अनजाने मोती के हारों में।
जब-जब उठता नाद, मेघ मंडलाकार घिरते हैं,
आस-पास बंसी के गीले इन्द्रधनुष तिरते हैं।
बाँधूं मेघ कहाँ बंसी पर? सुरधनु कहाँ सजाऊँ?
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(५)

इस बंसी के मधुर नाद पर माया डोल चुकी है,
पटावरण कर दूर भेद अन्तर का खोल चुकी है।
झूम चुकी है प्रकृति चाँदनी में मादक गानों पर,
नचा चुका हूँ महानर्तकी को इसकी तानों पर।
विषवर्षी पर अमृतवर्षिणी का जादू दिखलाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(६)

उड़े नाद के जो कण ऊपर, वे बन गये सितारे,
जो नीचे रह गये, कहीं हैं फूल, कहीं अंगारे।
भींगे अधर कभी बंसी के शीतल गंगाजल से,
कभी प्राण तक झुलस उठे हैं इसके हालाहल से।
शीतलता पीकर प्रदाह से कैसे हृदय चुराऊँ?
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(७)

यह बाँसुरी बजी, मधु के सोते फूटे मधुवन में,
यह बाँसुरी बजी, हरियाली दौड़ गयी कानन में।

यह बाँसुरी बजी, प्रत्यागत हुए विहंग गगन से,
यह बाँसुरी बजी, सट कर विधु चलने लगा भुवन से।
अमृत-सरोवर में धो-धो तेरा भी जहर बहाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(८)

यह बाँसुरी बजी पनघट पर कालिन्दी के तट में,
यह बाँसुरी बजी मुरदों के आसन पर मरघट में।
बजी निशा के बीच आलुलायित केशों के तम में,
बजी सूर्य के साथ यही बाँसुरी रक्त-कर्दम में।
कालियदह में मिले हुए विष को पीयूष बनाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(९)

फूँक-फूँक विष-लपट, उगल जितना हो जहर हृदय में,
यह बंसी निर्गरल, बजेगी सदा शान्ति की लय में।
पहचाने किस तरह भला तू निज विष का मतवाला?
मैं हूँ साँपों की पीठों पर कुसुम लादनेवाला।
विषदह से चल निकल, फूल से तेरा अंग सजाऊँ।
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(१०)

ओ शंका के व्याल! देख मत मेरे श्याम वदन को,
चक्षुःश्रवा! श्रवण कर बंसी के भीतर के स्वन को।
जिसने दिया तुझे विष, उसने मुझको गान दिया है,
ईर्ष्या तुझे उसीने मुझको भी अभिमान दिया है।
इस आशिष के लिए भाग्य पर क्यों न अधिक इतराऊँ?
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(११)

विषधारी ! मत डोल कि मेरा आसन बहुत कड़ा है,
कृष्ण आज लघुता में भी साँपों से बहुत बड़ा है।
आया हूँ बाँसुरी-बीच उद्धार लिये जनगण का,
फण पर तेरे खड़ा हुआ हूँ भार लिये त्रिभुवन का।
बढ़ा, बढ़ा नासिका, रन्ध्र में मुक्ति-सूत्र पहनाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

१९४९ ई०]

स्वप्न और सत्य

तबीयत चाहती है, बात कुछ तुमको सुनाऊँ,
मगर, तुम कौन हो जो पंक्ति मेरी पढ़ रहे हो?

कला के पारखी हो? चाँदनी के चाहनेवाले?
हवा की साँस में जो दर्द है उसको समझते हो?
बितायी है कभी क्या पूर्णिमा की रात खेतों में
खड़ी हरियालियों को देखते, बोले बिना कुछ भी?

पहाड़ों को कभी क्या देखकर यह भाव जागा है,
तुम्हारी और उनकी रूह आपस में सहेली हैं?

सितारों की सभा में बैठते हो? घूमते हो क्या
उषा के जावकों में और संध्या के जुही-वन में?
जवानी की लटों को देख मन करवट बदलता है?
भरे-उभरे बदन से क्या घनों की याद आती है?

रखा है याद सौ में एक कोई गीत वह चुनकर
कि जिस मे रूपसी कोई सरोवर में नहाती हो,
पलों के दो दलों पर, बाहु-मूलों पर, कपोलों पर
झलकते हों फुहारे शुभ्र जल के मोतियों-जैसे,
कमल-दल पर सुबह मे जिस तरह शबनम चमकती है?

बुलाते है इशारों से कभी वे स्वप्न तुमको भी
हमारे हाथ से दो इंच जो आगे बने रहते?
न छू सकते जिन्हें हम औ' न जिनको छोड़ ही सकते,
यही दो इंच की दूरी हजारों कोस बन जाती।
मगर बेचैनियों से रोशनी कैसी उमड़ती है?

तुम्हें भी रात के सुनसान में आकाश पर दिखते
किसी की माँग के मोती, किसी के हाथ का दर्पण?
किसी के मुक्त कुंतल-जाल लहराते हुए घन-से
कि जिनमें से चमेली के हजारों फूल झरते हैं?

अहा! क्या बात? ये आकाशवाली सूरतें भोली,
कि जिनके नाम से आहट नयी महसूस होती है;
हृदय में सुगबुगा उठती जुही के फूल-सी कविता,
लहू में रेंगने लगते हजारों साँप सोने के।

सुकेशी, उर्वशी, रंभा, मृणाली, मेनका, शीला,
न किसके नाम में वैकुंठ सिमटा झिलमिलाता है?
न किसके नाम से ही प्राण जगकर बैठ जाते हैं,
समझकर, यह किसी संगीत की पहली कड़ी होगी?

जरा लो नाम, फिर दोनों दृगों को मूँदकर सूँघो,
तुम्हारे घ्राण में संपूर्ण दिव की गंध आयेगी।

प्रणय की चिर-किशोरी मूर्त्तियों को काम ही क्या है?
सदा किलकारियाँ भरना, मचलते, खेलते रहना
कभी मंदार के नीचे, कभी मंदाकिनी-तट पर।
न इनकी आयु बढ़ती है, न इनका रूप घटता है,
बुढ़ापा क्या? जवानी ही कभी ढीली नहीं होती।

किसी की कुक्षि की कोंपल? नहीं, ये कल्पनाएँ हैं।
निकलती है जवानी की उमगों से परी उस दिन
मनुज का मन भरे मधुमास में जिस रोज होता है।

टँगे हैं कल्पना की खूँटियों पर चित्र वे, जिनमें
अछूते रंग में हिलडुल मनुज की प्यास जलती है।

कुहासे में, धुएँ में रंग के तूफान पर चढ़कर
हवा पर दौड़ना भी खूब है आगे अगर कोई
परी संकेत करती हो कि मन का देवता उगकर
बुलाता हो तिमिर में फिर बुलाकर डूब जाता हो।

बड़ा आनंद है रंगीनियों के बीच चलने में।
बुरा क्या है, कभी यदि मेनका के साथ बादल पर
टहलते-घूमते तुम बेखबर नीचे फिसल जाओ?
अरे, ये मेघ हैं, सड़कें नहीं कंक्रीट-पत्थर की,
गिरो भी तो नहीं तन में तनिक भी चोट लगती है।

बुरा क्या है, किसी दिन घूमते-फिरते भटक जाओ,
गली सूझे नहीं कोई सितारों से निकलने की?
मजे में रात भर घूमो कभी दायें, कभी बायें,
उमड़ती बाढ़ में ज्यों गाँव की डोंगी निकलती है
घरों के पास से होकर, बचाकर पेड़-पौधों को;
कि जैसे पर्वतों की गोद में नदियाँ बहा करतीं;
कि जैसे टापुओं के बीच से जलयान चलते हैं,
कि जैसे रेंगते हैं साँप नीचे फूल के वन में,
कि जैसे नाव 'वेनिस' में गृहों के बीच फिरती है।
सितारों की जमीं पर ओस की अच्छी नमी होगी,
धुमैली गंध बादल की भरेगी ताजगी मन में।
मजे में रात भर घूमो, मगर, जब भोर होता हो,
क्षितिज के पास कंचन के सरोवर में उतर जाओ,
मिटा लो क्लांति, रँग लो प्राण को सौरभ भरे जल से,
उषा को बाँधकर भुज में उतरते-तैरते जाओ,
क्षितिज के पास से पृथ्वी नहीं दो हाथ भर भी है।

अहा ! पृथ्वी !
धुओं का जाल ऊपर रह गया उन भावनाओं-सा
उमड़ती हैं घटा-सी जो, नहीं पर, हाथ में आतीं,
तुम्हारे पाँव के नीचे हुई आवाज कुछ ठक-सी ?
लगा ऐसा कि जैसे नींद से तुम जाग बैठे हो ?
हुआ अनुमान कुछ ऐसा कि जैसे आँख के ऊपर
हरी ऐनक पड़ी थी जो कहीं वह गिर गयी खुलकर ?
अभी तो भोर की भी धूप आँखों में कड़कती है।

यही है जिंदगी जिसकी गगन में कामना फैली,
मगर, जो खुद खड़ी चट्टान से लोहे बजाती है।
छिटक चिनगारियाँ उड़तीं, वही इसके सितारे हैं,
धुमैली गंध जो ऊपर, यहाँ खुशबू पसीने की।

गगन में घूमनेवालो ! जिसे तुम खोजते फिरते
नहीं वह पूर्णता है शून्य का कीटाणु बनने में।
बढ़ाओ कल्पना का जाल, तब भी व्योम बाकी है,
लगाओ तर्क के सोपान, तब भी प्रश्न रहते हैं।
मृषा ऊहा, वृथा संधान, मन का स्वेद यह झूठा,
अमरता खोजते हो तुम, मगर, मरते चले जाते।
इधर तुम खींचते अपनी लकीरें वायुमण्डल में,
उधर आकर निरंतर शून्य उनको एक कर जाता।

इसीसे तो समझता हूँ कि वे अच्छे रहे हमसे
नहीं जिनकी लकीरें वायुमण्डल पर, मही पर हैं।
जिन्होंने पर्वतों को काटकर मैदान कर डाला,
नदी संकेत पर जिनके सिमटकर गति बदलती है।
सुबह से शाम तक खट कर पुरुष जो लौटते घर को,

अभी भी वीरता-साहस लिये, गौरव भरे मन में;
प्रिया से भी नहीं कहते कि मेरी देह दुखती है।

बड़ी कविता कि जो इस भूमि को सुन्दर बनाती है,
बड़ा वह ज्ञान जिससे व्यर्थ की चिंता नहीं होती।
बड़ा वह आदमी जो जिंदगी भर काम करता है,
बड़ी वह रूह जो रोये बिना तन से निकलती है।

१९५२ ई०]

भावी पीढ़ी से *

हम तुम में साकार नहीं तो छिपे हुए हैं।
तुम भी लेकर नाव हमारे उष्ण रुधिर में
घूम रहे इच्छाओं की दुनिया टटोलते,
ले जाने को उसे, तत्त्व जो अविनश्वर है,
जा सकता है जो कुम्हलाये बिना वहाँ तक
जहाँ पहुँच तट छोड़ तुम्हें ऊपर आना है।

ये कुछ भींगे कमल और ये गीली कलियाँ?
ऐसी ही थीं, हम सब की ईजाद नहीं हैं।
जो हम को दे गये, उन्होंने भी पाया था,
अपने पूर्व-पुरुष के हाथों से ऐसा ही।
जीत वही जो मनु के चरणों में लोटी थी;
हार वही जिसके नीचे वह काँप उठा था।
रहे धूल में पड़ा कि गंगा में नहलाओ,
आदम का बेटा आदम का ही बेटा है।

नयी बात क्या कहें? नया हमने क्या सीखा?
उलट-पुलट कर शब्द खेल जितने दिखलायें;
किन्तु, बात है यही कि जल ठंढा होता है,
और आग पर चढ़ा उसे जितना खौलाओ,
किन्तु, आग उस पानी से भी बुझ जाती है।

जिज्ञासा का धुआँ उठा जो मनु के सिर से,
सब के माथे से वह उठता ही आया है,
घटी-बढ़ी, पर, नहीं तनिक नीलिमा गगन की,
और न बरसा समाधान कोई अम्बर से।

श्रम है केवल सार, काम करना अच्छा है,
चिन्ता है दुख-भार, सोचना पागलपन है।
पियो सोम या चाय, नाम मे जो अन्तर हो,
मगर, स्वाद का हाल वही खट्टा-मीठा है।

१९५१ ई०]

पावस-गीत

अम्बर के गृह गान रे, घन-पाहुन आये।

इन्द्रधनुष मेचक-रुचि-हारी,
पीत वर्ण दामिनि-द्युति न्यारी,
प्रिय की छवि पहचान रे, नीलम घन छाये।

वृष्टि-विकल घन का गुरु गर्जन,
बूँद-बूँद में स्वप्न-विसर्जन,
वारिद सुकवि समान रे, बरसे कल पाये।

तृण, तरु, लता, कुसुम पर सोयी,
बजने लगी सजल सुधि कोई,
सुन-सुन आकुल प्राण रे, लोचन भर आये।

१९४७ ई०]

चन्द्राह्वान

जागो हे अविनाशी !
जागो किरणपुरुष ! कुमुदासन ! विधु-मंडल के वासी !
जागो हे अविनाशी !

रत्न-जड़ित-पथ-चारी, जागो,
उडु-वन-वीथि-विहारी, जागो,
जागो रसिक विराग-लोक के, मधुवन के संन्यासी !
जागो हे अविनाशी !

जागो शिल्पि अजर अम्बर के !
गायक महाकाल के घर के !
दिव के अमृतकंठ कवि, जागो, स्निग्ध-प्रकाश-प्रकाशी ।
जागो हे अविनाशी !

विभा-सलिल का मीन करो हे !
निज में मुझको लीन करो हे !
विधु-मंडल में आज डूब जाने का मैं अभिलाषी !
जागो हे अविनाशी !

१९४६ ई०]

ये गान बहुत रोये

तुम बसे नहीं इनमें आकर,
ये गान बहुत रोये।

बिजली बन घन में रोज हँसा करते हो,
फूलों में बन कर गन्ध बसा करते हो,
नीलिमा नहीं सारा तन ढँक पाती है,
तारा-पथ में पग-ज्योति झलक जाती है।
हर तरफ चमकता यह जो रूप तुम्हारा,
रह-रह उठता जगमगा जगत जो सारा,
इनको समेट मन में लाकर
ये गान बहुत रोये।

जिस पथ पर से रथ कभी निकल जाता है,
कहते हैं, उस पर दीपक बल जाता है।
मैं देख रहा अपनी ऊँचाई पर से,
तुम किसी रोज तो गुजरे नहीं इधर से।
अँधियाले में स्वर वृथा टेरते फिरते,
कोने-कोने में तुम्हें हेरते फिरते।
पर, कहीं नहीं तुमको पाकर
ये गान बहुत रोये।

कब तक बरसेगी ज्योति बार कर मुझको?
निकलेगा रथ किस रोज पार कर मुझको?
किस रोज लिये प्रज्वलित बाण आओगे,
खींचते हृदय पर रेख निकल जाओगे?
किस रोज तुम्हारी आग शीश पर लूँगा,
बाणों के आगे प्राण खोल धर दूँगा?
यह सोच विरह में अकुला कर
ये गान बहुत रोये।

१९५३ ई०]

नर्तकी

तुम्हें भी शूल चुभते हैं?
बरसते हैं तुम्हारे अंग पर भी बाण आँखों के
असूया में बुझे, विद्वेष के तीखे जहरवाले?
उन्हीं के सामने हो नाचती जिनकी निगाहों में
नहीं तुम और कुछ, केवल सुयश की भिक्षुणी भर हो?

सुधा से तृप्त कर सब को स्वयं जब लौटती घर को,
तुम्हारे भी हृदय के कूप से आवाज उठती है?
"लगा लायी नया फिर एक धब्बा आज भी तन में,
मरण के हाथ फिर थोड़ी अमरता बेच आयी है।"

हृदय का देवता कहता, न बाहर धूप में घूमो।
नगर के लोग कहते हैं, प्रशंसा की भिखारिन है।
मगर, तब भी नहीं तुम क्यों हृदय के गेह में रुकती?
अतल गहराइयों को छोड़ क्यों बाहर निकलती हो,
जहाँ ईर्ष्या, असूया, द्वेष, सब भाले लिये फिरते,
जहाँ पर फूल की सारी परख रंगीनियों तक है?
न कोई मूल तक जाता, न कोई गन्ध लेता है।
सतह के फेन के गाहक; कलाएँ मौज हैं इनकी।
कभी जब काम से थक कर महल से ये निकलते हैं,
हमारी ओर भी कुछ घूमते-फिरते चले आते,
नशीली कामनाओं के तिमिर में खोजते शीतल,
फुहारें चाँदनी की और झीना जाल शबनम का।

इन्हें है याद इतना ही कि जब सागर उबलता है
अतल को छोड़ कर आती भुवन में वारुणी केवल।

नहीं यह जानते हैं, कल्पनाएँ जब मथी जातीं,
निकलती है जहर की आग भी, पीयूष का जल भी।

हमारी वारुणी में स्नान करने को बहुत व्याकुल,
बहुत व्याकुल हमारी उर्वशी का रूप पीने को।
नही पर, भूल कर भी खोलते पीयूष के घट को,
जहर को देखकर तो दूर से ही भाग जाते हैं।

कला आनन्द की स्रोतस्विनी, इस स्रोत के पीछे
बहुत-से फूल होंगे, दूब होगी, चाँदनी होगी।
बिचारे सोचते हैं, जो हमें आनन्द देती है,
भला क्यों भींगती होगी स्वयं वह स्वेद के जल से?
यती-सी काटती होगी कभी क्यों रात वह जग कर
अगोचर की विभा को बाँध कर गोचर बनाने में?

अगमता से उलझने की उसे क्या बेबसी जिसकी
प्रभा कटि में, नयन में, और ग्रीवा में निवसती है?
रिझाने की अदाओं में बड़ी क्या बात है ऐसी,
जिसे हम सिद्धि की लौ, योग की कोमल विभा समझें?
तपस्या-साधना की नाचने में क्या जरूरत है?

जलो जितना, नहीं, पर, योगियों का मान पाओगी।
तपो, लेकिन, नहीं कोई कहेगा तापसी तुम को।
जहर पीकर अमृत से विश्व का तन सींचती जाओ,
नहीं संसार, पर, इसको तुम्हारा दान मानेगा।
सभी को तृप्ति दो, पर, कौन इतनी बात सोचेगा,
कि तुम सब को खिला करके बिना आहार सोती हो?

कला की सेविके! यह साधना ही है अभागों की,
न माया ही जिन्हें मिलती, न जिनको राम मिलते हैं।

कुसुम को देख कर हम सोचते, सौरभ कहाँ इसका ?
अगर सौरभ मिला तो प्रश्न यह हैरान करता है,
जहाँ से गन्ध यह उठती, कहाँ पर वह कुसुम होगा ?

न तो हम गन्ध से मिल कर पवन में वास कर पाते,
न फूलों से लिपट कर भूमि पर विश्राम करते हैं।
न मिलता रूप वह निर्देहता की ज्योति हो जिसमें,
न मिलता स्वप्न वह जो देह धर कर पास आ जाये।
बनाना चाहते जो सेतु वह बन ही नहीं पाता,
इसी संघर्ष में जीवन-समर हम हार जाते हैं।

लगा जब बाँटने धाता सुखों का भोग जीवों को,
रचे दो सोम उसने, एक नभ में, दूसरा जल में।
चतुर थे लोग जो वे तो गगन के चाँद पर दौड़े,
मगर, हम बिक गये बेमोल उसकी एक छाया पर,
कि यह छाया गगन के चाँद से बढ़कर मनोहर थी।

तभी से बिम्ब के पीछे हमारी दौड़ जारी है।
जगत के रूप सारे पाँव के पीछे रहे जाते।
निकलते जा रहे उस ओर को हम तीर की लय से
जहाँ आकाश से पृथ्वी मिली मालूम होती है।

हमारा व्यय ? हवा के खेत में कुछ स्वप्न बो देना।
हमारी आय ? अम्बर में हजारों फूल खिलते हैं।

बहुत हैं चाहते, रक्खें चरण चट्टान पर लेकिन,
शिलाएँ भी हमारी बर्फ का निर्माण बन जातीं,
पदों की उष्णता का स्पर्श पाते ही पिघलती हैं।

न जानें आस की नौका कहाँ, किस द्वीप में छोड़ी ?
खड़े हम कूल पर अब तक उसी की राह तकते हैं।

असूया देखकर हम को भला क्यों आग होती है?
हमारे पास क्या है? साधना थोड़ी, फकीरी है।
जिसे भी चाह हो इसकी, मुकुट अपना जला डाले,
उठा ले फूल वह जो स्वच्छ दर्पण में चमकता है।
गले से तोड़ कर फेंके प्रतापी हार सोने का।
निकाले राह कोई डूब कर उसको पकड़ने की
सलिल की आरसी में चंद्रमा जो झिलमिलाता है।

जहाँ तक सत्य की पूजा, वहीं तक धर्म गेही का,
कला में स्वप्न जब भरते, शुरू संन्यास होता है।

१९५३ ई०]

कवि की मृत्यु

जब गीतकार मर गया, चाँद रोने आया,
चाँदनी मचलने लगी कफन बन जाने को।
मलयानिल ने शव को कंधों पर उठा लिया,
वन ने भेजे चंदन-श्रीखंड जलाने को।

सूरज बोला, यह बड़ी रौशनीवाला था,
मैं भी न जिसे भर सका कभी उजियाली से;
रँग दिया आदमी के भीतर की दुनिया को
इस गायक ने अपने गीतों की लाली से।

बोला बूढ़ा आकाश, ध्यान जब यह धरता,
मुझमें यौवन का नया वेग जग जाता था।
इसके चिन्तन में डुबकी एक लगाते ही,
तन कौन कहे, मन भी मेरा रँग जाता था।

देवों ने कहा, बड़ा सुख था इसके मन की
गहराई में डूबने और उतराने में।
माया बोली, मैं कई बार थी भूल गयी
अपने को गोपन भेद इसे बतलाने में।

योगी था, बोला सत्य, भागता मैं फिरता,
यह जाल बढ़ाये हुए दौड़ता चलता था।
जब-जब लेता यह पकड़ और हँसने लगता,
धोखा देकर मैं अपना रूप बदलता था।

मर्दों को आयीं याद बाँकपन की बातें,
बोले, जो हो, आदमी बड़ा अलबेला था।
जिसके आगे तूफान अदब से झुकते हैं,
उसको भी इसने अहंकार से झेला था।

नारियाँ बिलखने लगीं, बाँसुरी के भीतर
जादू था, कोई अदा बड़ी मतवाली थी,
गर्जन में भी थी नमी, आग से भरे हुए
गीतों में भी कुछ चीज रुलानेवाली थी।

वे बड़ी-बड़ी आँखें आँसू से भरी हुई,
पानी में जैसे कमल डूब उतराता हो।
वह मस्ती में झूमते हुए उसका आना,
मानों, अपना ही तनय झूमता आता हो।

चिन्तन में डूबा हुआ, सरल, भोला-भाला
बालक था, कोई पुरुष दिव्य अवतारी था।
तुम तो कहते हो मर्द, मगर, मन के भीतर
यह कलावन्त हमसे भी बढ़ कर नारी था।

चुपचाप जिन्दगी भर इसने जो जुल्म सहे,
उतना नारी भी कहाँ मौन हो सहती है?
आँखों के आँसू मन के भेद जता जाते,
कुछ सोच-समझ जिह्वा चाहे चुप रहती है।

पर, इसे नहीं रोने का भी अवकाश मिला,
सारा जीवन कट गया आग सुलगाने में।
आखिर, वह भी सो गया जिन्दगी ने जिसको,
था लगा रखा सोतों को छेड़ जगाने में।

बेबसी बड़ी उन बेचारों की क्या कहिये!
चुपचाप जिन्हें जीवन भर जलना होता है।
ऊपर-नीचे द्वेषों के कुन्त तने होते,
बचकर उनको बेदाग निकलना होता है।

जाओ, कवि, जाओ, मिला तुम्हें जो कुछ हमसे,
दानी को उसके सिवा नहीं कुछ मिलता है।
चुन-चुन कर हम तोड़ते वही टहनी केवल
जिस पर कोई अपरूप कुसुम आ खिलता है।

विष के प्याले का मोल और क्या हो सकता?
प्रेमी तो केवल मधुर प्रीत ही देता है।
कवि को चाहे संसार भेंट दे जो, लेकिन,
बदले में वह निष्कपट गीत ही देता है।

आवरण गिरा, जगती की सीमा शेष हुई,
अब पहुँच नहीं तुम तक इन हाहाकारों की।
नीचे की महफिल उजड़ गयी, ऊपर कल से
कुछ और चमक उट्ठेगी सभा सितारों की।

१९५२ ई०]
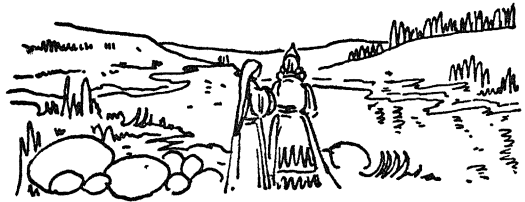
तुम क्यों लिखते हो ?

तुम क्यों लिखते हो? क्या अपने अंतरतम को
औरों के अंतरतम के साथ मिलाने को?
अथवा शब्दों की तह पर तह पोशाक पहन
जग की आँखों से अपना रूप छिपाने को?

यदि छिपा चाहते हो दुनिया की आँखों से,
तब तो मेरे भाई! तुमने यह बुरा किया।
है किसे फिक्र ही यहाँ, कौन क्या लाया है?
तुमने ही क्यों अपने को अद्‌भुत मान लिया?

कहनेवाले, जानें, क्या-क्या कहते आये,
सुननेवालों ने मगर, कहो, क्या पाया है?
मथ रहीं मनुज को जो अनन्त जिज्ञासाएँ,
उत्तर क्या उनका कभी जगत में आया है?

अच्छा, बोलो, आदमी एक मैं भी ठहरा,
अम्बर से मेरे लिए चीज क्या लाये हो?
मिट्टी पर हूँ मैं खड़ा, जरा नीचे देखो,
ऊपर क्या है जिस पर टकटकी लगाये हो?

तारों में है संकेत? चाँदनी में छाया?
बस, यही बात हो गयी सदा दुहराने की?
सनसनी, फेन, बुदबुद, सब कुछ सोपान बना,
अच्छी निकली यह राह सत्य तक जाने की।

दावा करते हैं शब्द जिसे छू लेने का,
क्या कभी उसे तुमने देखा या जाना है?

तुतले कंपन उठते हैं जिस गहराई से,
अपने भीतर क्या कभी उसे पहचाना है?

जो कुछ खुलता सामने, समस्या है केवल,
असली निदान पर जड़े वज्र के ताले हैं;
उत्तर, शायद, हो छिपा मूकता के भीतर,
हम तो प्रश्नों का रूप सजानेवाले हैं।

तब क्यों रचते हो वृथा स्वांग, मानों, सारा
आकाश और पाताल तुम्हारे कर में हो?
मानों, मनुष्य नीचे हो तुमसे बहुत दूर
मानों, कोई देवता तुम्हारे स्वर में हो।

मिहिका रचते हो? रचो; किन्तु, क्या फल इसका?
खुलने की जोखिम से वह तुम्हें बचाती है?
लेकिन, मनुष्य की द्वाभा और सघन होती,
धरती की किस्मत और भरमती जाती है।

धो डालो फूलों का पराग गालों पर से,
आनन पर से यह आनन अपर हटाओ तो;
कितने पानी में हो, इसको जग भी देखे,
तुम पल भर को केवल मनुष्य बन आओ तो।

सच्चाई की पहचान कि पानी साफ रहे,
जो भी चाहे, ले परख जलाशय के तल को;
गहराई का वे भेद छिपाते है केवल,
जो जान-बूझ गदला करते अपने जल को।

१९५० ई०]

जीवन

पत्थरों में भी कहीं कुछ सुगबुगी है?
दूब यह चट्टान पर कैसे उगी है?
ध्वंस पर जैसे मरण की दृष्टि है,
सृजन में त्यों ही लगी यह सृष्टि है।

एक कण भी है सजल आशा जहाँ,
एक अंकुर सिर उठाता है वहाँ।
मृत्यु का तन आग है, अंगार है;
जिन्दगी हरियालियों की धार है।

क्षार में दो बूँद आँसू डाल कर,
और उसमें बीज कोई पाल कर,
चूम कर मृत को जिलाती जिन्दगी।
फूल मरघट में खिलाती जिन्दगी।

निर्झरी बन फूटती पाताल से,
कोंपलें बन नग्न, रूखी डाल से।
खोज लेती है सुधा पाषाण में,
जिन्दगी रुकती नहीं चट्टान में।

बाल भर अवकाश होना चाहिए,
कुछ खुला आकाश होना चाहिए,
बीज की फिर शक्ति रुकती है कहाँ?
भाव की अभिव्यक्ति रुकती है कहाँ?

१९५४ ई०]

आनन्दातिरेक

आनन्द का अतिरेक यह।

हो मृत्यु की धारा अगर तो मुक्त बहने दो मुझे;
हो जिन्दगी की छाँह तो निस्पन्द रहने दो मुझे।

कुछ और पाना व्यर्थ है,
अन्यत्र जाना व्यर्थ है।

माँगा बहुत तुम से, नहीं कुछ और माँगूँगा;
अब इस महामधु-पूर्ण निद्रा से न जागूँगा।

नीद है वह जागरण जब फूल खिलते हों;
चेतना के सिन्धु में निश्चेत प्राणों को;
ऊर्मियों में फूटते-से गान मिलते हों।

मीठा बहुत उल्लास यह, मादक बहुत अविवेक यह,
निस्सीम नभ, सागर अगम आनन्द का अतिरेक यह।

१९५४ ई०]
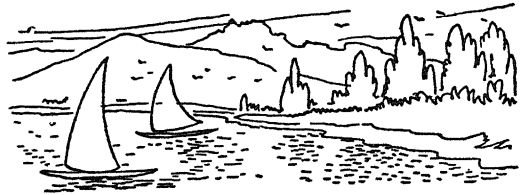
जनतन्त्र का जन्म

[२६ जनवरी १९५० ई०]

सदियों की ठंढी-बुझी राख सुगबुगा उठी,
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है;
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

जनता? हाँ, मिट्टी की अबोध मूरतें वही,
जाड़े-पाले की कसक सदा सहनेवाली,
जब अंग-अंग में लगे साँप हों चूस रहे,
तब भी न कभी मुँह खोल दर्द कहनेवाली।

जनता? हाँ, लंबी-बड़ी जीभ की वही कसम,
"जनता, सचमुच ही, बड़ी वेदना सहती है।"
"सो ठीक, मगर, आखिर, इस पर जनमत क्या है?"
"है प्रश्न गूढ़; जनता इसपर क्या कहती है?"

मानों, जनता हो फूल जिसे एहसास नहीं,
जब चाहो तभी उतार सजा लो दोनों में;
अथवा कोई दुधमुँही जिसे बहलाने के
जन्तर-मन्तर सीमित हों चार खिलौनों में।

लेकिन, होता भूडोल, बवंडर उठते हैं,
जनता जब कोपाकुल हो भृकुटि चढ़ाती है;
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

हुंकारों से महलों की नीव उखड़ जाती,
साँसो के बल से ताज हवा मे उड़ता है;
जनता को रोके राह, समय मे ताव कहाँ?
वह जिधर चाहती, काल उधर ही मुड़ता है।

अब्दों, शताब्दियों, सहस्राब्द का अन्धकार
बीता; गवाक्ष अम्बर के दहके जाते है;
यह और नही कोई, जनता के स्वप्न अजय
चीरते तिमिर का वक्ष उमड़ते आते है।

सबसे विराट जनतंत्र जगत का आ पहुँचा,
तैंतीस कोटि-हित सिहासन तैयार करो;
अभिषेक आज राजा का नही, प्रजा का है,
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो।

आरती लिये तू किसे ढूँढता है मूरख,
मन्दिरों, राजप्रासादों मे, तहखानों मे?
देवता कही सडकों पर गिट्टी तोड रहे,
देवता मिलेगे खेतों मे, खलिहानों मे।

फावड़े और हल राजदंड बनने को है,
धूसरता सोने से शृगार सजाती है;
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिहासन खाली करो कि जनता आती है।

१९५० ई०]

नींव का हाहाकार

काँपती है वज्र की दीवार।
नींव में से आ रहा है क्षीण हाहाकार।

जानते हो, कौन नीचे दब गया है?
दर्द की आवाज पहले भी सुनी थी?
याकि यह दुष्काण्ड बिलकुल ही नया है?

वस्त्र जब नूतन बदलते हो किसी दिन,
खून के छींटे पड़े भी देखते हो?
रात को सूनी, सुनहरी कोठरी में
मौन कुछ मुर्दे खड़े भी देखते हो?

रोटियों पर कौर लेते ही कहीं से
अश्रु की भी बूँद क्या चूती कभी है?
बाग में जब घूमते हो शाम को तब
सनसनाती चीज भी छूती कभी है?

जानते हो, यह अनोखा राज़ क्या है?
वज्र की दीवार यह क्यों काँपती है?
और गूँगी ईंट की आवाज क्या है?

तोड़ दो इसको, महल को पस्त औ' बर्बाद कर दो।
नींव की ईंटें हटाओ।
दब गये हैं जो, अभी तक जी रहे हैं।
जीवितों को इस महल के बोझ से आजाद कर दो।

तोड़ना है पुण्य जो तोडो खुशी से।
जोड़ने का मोह जी का काल होगा।
अनसुनी करते रहे इस वेदना को,
एक दिन ऐसा अचानक हाल होगा:—

वज्र की दीवार यह फट जायगी।
लपलपाती आग या सात्विक प्रलय का रूप धर कर
नीव की आवाज बाहर आयगी।

वज्र की दीवार जब भी टूटती है,
नीव की यह वेदना विकराल बन कर छूटती है।
दौड़ता है दर्द की तलवार बन कर
पत्थरों के पेट से नरसिह ले अवतार।
काँपती है वज्र की दीवार।

१९५३ ई०]
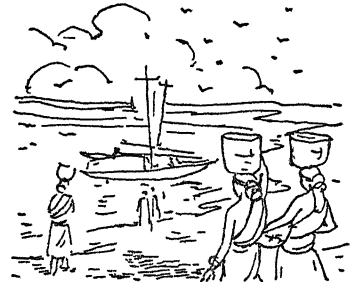
शबनम की जंजीर

रचना तो पूरी हुई, जान भी है इसमें ?
पूछूं जो कोई बात, मूर्त्ति बतलायेगी ?
लग जाय आग यदि किसी रोज देवालय में,
चौंकेगी या यह खड़ी-खड़ी जल जायेगी ?

ढाँचे में तो सब ठीक-ठीक उतरा, लेकिन,
बेजान बुतों के कारीगर, कुछ होश करो ;
जब तक पत्थर के भीतर साँस नहीं चलती,
सौगन्ध इसी की तुम्हें, न तुम संतोष करो।

भर सको अगर तो प्रतिमा में चेतना भरो,
यदि नहीं, निमंत्रण दो जीवन के दानी को।
विभ्राट, महाबल जहाँ थके-से दीख रहे,
आगे आने दो वहाँ क्षीणबल प्राणी को।

तैरता हवा में जो, वह क्या भारी होगा ?
सपनों के तो सारथी क्षीणबल होते हैं ;
संसार पुष्प से अपने को भूषित करता,
ये गन्धभार अपनी आत्मा में ढोते हैं।

सपनों का वह साथी, यान जिसका कोमल,
आँखों से ओझल हृदय-हृदय में चलता है ;
जिसके छूते ही मन की पलक उघर जाती,
विश्वास भ्रान्ति को भेद दीप-सा बलता है।

सपनों का वह सारथी, रात की छाया में,
आते जिसकी श्रुति में संवाद सितारों से,
सरिताएँ जिससे अपना हाल कहा करतीं,
बातें करता जो फूलों और पहाड़ों से।

पपड़ियाँ तोड़ फूटते जिन्दगी के सोते,
रथ के चक्के की लीक जहाँ भी पड़ती है।
प्रतिमा सजीव होकर चलने-फिरने लगती,
मिट्टी की छाती में चेतना उमड़ती है।

छेनी-टाँकी क्या करें? जिन्दगी की साँसें
लोहे पर धरकर नहीं बनायी जाती हैं;
धाराएँ जो मानव को उद्वेलित करतीं,
यंत्रों के बल से नहीं बहायी जाती हैं।

विज्ञान काम कर चुका; हाथ उसका रोको;
आगे आने दो गुणी! कला कल्याणी को।
जो भार नहीं विभ्राट, महाबल उठा सके,
दो उसे उठाने किसी क्षीणबल प्राणी को।

मानव-मन को बेधते फूल के दल केवल,
आदमी नहीं कटता बरछों से, तीरों से;
लोहे की कड़ियों की साजिश बेकार हुई,
बाँधो मनुष्य को शबनम की जंजीरों से।

१९५० ई०]

भूदान

कौन टोकता है शंका से? चुप रह, चुप, अपलापी!
क्रिया-हीन चिन्तन के अनुचर, केवल ज्ञान-प्रलापी!
नहीं देखता, ज्योति जगत् में नूतन उभर रही है?
गाँधी की चोटी से गंगा आगे उतर रही है।
अंधकार फट गया, विनोबा में धर कर आकार
घूम-घूम वेदना देश की घर-घर रही पुकार।

ओ सिकता में चंचु गाड़ कर सुख से सोनेवालो!
चिन्ताएँ सब डाल भाग्य पर निर्भय होनेवालो!
पहुँच गई है घड़ी, फैसला अब करना ही होगा,
दो में एक राह पर पगले! पग धरना ही होगा।
गाँधी की लो शरण, बदल डालो मिलकर संसार।
या फिर रहो कल्कि के हाथों कटने को तैयार।

अपने को ही नहीं देख, टुक, ध्यान इधर भी देना,
भूमि-हीन कृषकों की कितनी बड़ी खड़ी है सेना।
बाँध तोड़ जिस रोज फौज खुलकर हल्ला बोलेगी,
तुम दोगे क्या चीज? वही जो चाहेगी, सो लेगी।
कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट।
मच जायेगा प्रलय, कहीं वामन हो पड़ा विराट।

पहचानो, यह कौन द्वार पर अधनंगा आया है,
किस कारण अधिकार स्वयं बन भिखमंगा आया है?
समझ सको यदि मर्म, बुलाये विना दौड़ कर आओ,
जो समझो तुम अंश अपर का उसे स्वयं दे जाओ।
स्वत्व छीन कर क्रान्ति छोड़ती कठिनाई से प्राण।
बड़ी कृपा उसकी, भारत में माँग रही वह दान।

१९५२ ई०]

किसको नमन करूँ मैं ?

तुझको या तेरे नदीश, गिरि, वन को नमन करूँ मैं?
मेरे प्यारे देश! देह या मन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

भू के मानचित्र पर अंकित त्रिभुज, यही क्या तू है?
नर के नभश्चरण की दृढ़ कल्पना नहीं क्या तू है?
भेदों का ज्ञाता, निगूढ़ताओं का चिर ज्ञानी है;
मेरे प्यारे देश! नहीं तू पत्थर है, पानी है।
जड़ताओं में छिपे किसी चेतन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

तू वह, नर ने जिसे बहुत ऊँचा चढ़कर पाया था;
तू वह, जो संदेश भूमि को अम्बर से आया था।
तू वह, जिसका ध्यान आज भी मन सुरभित करता है;
थकी हुई आत्मा में उड़ने की उमंग भरता है।
गन्ध-निकेतन इस अदृश्य उपवन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

वहाँ नहीं तू जहाँ जनों से ही मनुजों को भय है;
सब को सब से त्रास सदा सब पर सब का संशय है।
जहाँ स्नेह के सहज स्रोत से हटे हुए जनगण हैं,
झंडों या नारों के नीचे बँटे हुए जनगण हैं।
कैसे इस कुत्सित, विभक्त जीवन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

तू तो है वह लोक जहाँ उन्मुक्त मनुज का मन है;
समरसता को लिये प्रवाहित शीत-स्निग्ध जीवन है।
जहाँ पहुँच मानते नहीं नर-नारी दिग्बन्धन को;
आत्म-रूप देखते प्रेम में भरकर निखिल भुवन को।
कहीं खोज इस रुचिर स्वप्न पावन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

भारत नहीं स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है,
एक देश का नहीं, शील यह भूमंडल भर का है।
जहाँ कहीं एकता अखंडित, जहाँ प्रेम का स्वर है;
देश-देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित भास्वर है।
निखिल विश्व को जन्मभूमि-वन्दन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

खंडित है यह मही शैल से, सरिता से, सागर से;
पर, जब भी दो हाथ निकल मिलते आ द्वीपान्तर से;
तब खाई को पाट शून्य में महा मोद मचता है;
दो द्वीपों के बीच सेतु यह भारत ही रचता है।
मंगलमय इस महासेतु-बन्धन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

दो हृदयों के तार जहाँ भी जो जन जोड़ रहे हैं,
मित्र-भाव की ओर विश्व की गति को मोड़ रहे हैं।
घोल रहे हैं जो जीवन-सरिता में प्रेम-रसायन,
खोल रहे हैं देश-देश के बीच मुँदे वातायन।
आत्मबन्धु कह कर ऐसे जन-जन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

उठे जहाँ भी घोष शान्ति का, भारत, स्वर तेरा है,
धर्मदीप हो जिसके भी कर मे वह नर तेरा है।
तेरा है वह वीर, सत्य पर जो अड़ने जाता है,
किसी न्याय के लिए प्राण अर्पित करने जाता है।
मानवता के इस ललाट-चन्दन को नमन करूँ मै।
किसको नमन करूँ मै भारत! किसको नमन करूँ में?

१९६३ ई०]

लोहे के पेड़ हरे होंगे

लोहे के पेड़ हरे होंगे, तू गान प्रेम का गाता चल,
नम होगी यह मिट्टी जरूर, आँसू के कण बरसाता चल।

सिसकियों और चीत्कारों से, जितना भी हो आकाश भरा,
कंकालों का हो ढेर, खप्परों से चाहे हो पटी धरा।
आशा के स्वर का भार, पवन को लेकिन, लेना ही होगा,
जीवित सपनों के लिए मार्ग मुर्दों को देना ही होगा।
रंगों के सातो घट उँड़ेल, यह अँधियाली रँग जायेगी,
ऊषा को सत्य बनाने को जावक नभ पर छितराता चल।

आदर्शों से आदर्श भिड़े, प्रज्ञा प्रज्ञा पर टूट रही,
प्रतिमा प्रतिमा से लड़ती है, धरती की किस्मत फूट रही।
आवर्त्तों का है विषम जाल, निरुपाय बुद्धि चकराती है,
विज्ञान-यान पर चढ़ी हुई सभ्यता डूबने जाती है।
जब-जब मस्तिष्क जयी होता, संसार ज्ञान से जलता है,
शीतलता की है राह हृदय, तू यह संवाद सुनाता चल।

सूरज है जग का बुझा-बुझा, चन्द्रमा मलिन-सा लगता है,
सबकी कोशिश बेकार हुई, आलोक न इनका जगता है।
इन मलिन ग्रहों के प्राणों में कोई नवीन आभा भर दे,
जादूगर! अपने दर्पण पर घिसकर इनको ताजा कर दे।
दीपक के जलते प्राण, दिवाली तभी सुहावन होती है,
रौशनी जगत को देने को अपनी अस्थियाँ जलाता चल।

क्या उन्हें देख विस्मित होना, जो हैं अलमस्त बहारों में,
फूलों को जो हैं गूँथ रहे सोने-चाँदी के तारों में ?
मानवता का तू विप्र, गन्ध-छाया का आदि पुजारी है,
वेदना-पुत्र ! तू तो केवल जलने भर का अधिकारी है।
ले बड़ी खुशी से उठा, सरोवर में जो हँसता चाँद मिले,
दर्पण में रचकर फूल, मगर, उसका भी मोल चुकाता चल।

काया की कितनी धूम-धाम ? दो रोज चमक बुझ जाती है;
छाया पीती पीयूष, मृत्यु के ऊपर ध्वजा उड़ाती है।
लेने दे जग को उसे, ताल पर जो कलहंस मचलता है,
तेरा मराल जल के दर्पण में नीचे-नीचे चलता है।
कनकाभ धूल झर जायेगी, ये रंग कभी उड़ जायेंगे,
सौरभ है केवल सार, उसे तू सबके लिए जुगाता चल।

क्या अपनी उनसे होड़, अमरता की जिनको पहचान नहीं,
छाया से परिचय नहीं, गन्ध के जग का जिनको ज्ञान नहीं ?
जो चतुर चाँद का रस निचोड़ प्यालों में ढाला करते हैं,
भट्ठियाँ चढ़ाकर फूलों से जो इत्र निकाला करते हैं।
ये भी जागेंगे कभी, मगर, आधी मनुष्यतावालों पर,
जैसे मुसकाता आया है, वैसे अब भी मुसकाता चल।

सभ्यता-श्रंग पर क्षत कराल, यह अर्ध-मानवों का बल है,
हम रोकर भरते उसे, हमारी आँखों में गंगाजल है।
शूली पर चढ़ा मसीहा को वे फूले नहीं समाते हैं,
हम शव को जीवित करने को छायापुर में ले जाते हैं।
भींगी चाँदनियों में जीता, जो कठिन धूप में मरता है,
उजियाली से पीड़ित नर के मन में गोधूलि बसाता चल।

यह देख नयी लीला उनकी, फिर उनने बड़ा कमाल किया,
गाँधी के लोहू से सारे भारत-सागर को लाल किया।
जी उठे राम, जी उठे कृष्ण, भारत की मिट्टी रोती है,
क्या हुआ कि प्यारे गाँधी की यह लाश न जिन्दा होती है?
तलवार मारती जिन्हें, बाँसुरी उन्हें नया जीवन देती,
जीवनी-शक्ति के अभिमानी! यह भी कमाल दिखलाता चल।

धरती के भाग हरे होंगे, भारती अमृत बरसायेगी,
दिन की कराल दाहकता पर चाँदनी सुशीतल छायेगी।
ज्वालामुखियों के कंठों में कलकंठी का आसन होगा,
जलदों से लदा गगन होगा, फूलों से भरा भुवन होगा।
बेजान, यंत्र-विरचित, गूँगी, मूर्तियाँ एक दिन बोलेंगी,
मुँह खोल-खोल सबके भीतर शिल्पी! तू जीभ बिठाता चल।

१९५१ ई०]
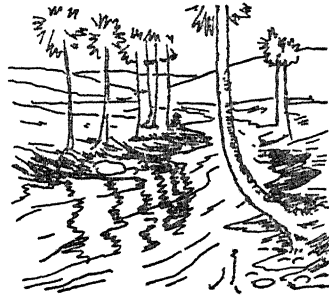
हिमालय का संदेश

[चिन्ताव्यंजक संगीत]

कवि

तर्क से तर्कों का रण छिड़ा, विचारों से लड़ रहे विचार,
ज्ञान के कोलाहल के बीच डूबता जाता है संसार।

और सबका उलटा परिणाम, बुद्धि का जितना बढ़ता जोर,
आदमी के भीतर की शिरा हुई जाती कुछ और कठोर।

ज्ञान के मरु में चलता हुआ आदमी खोता जाता है,
हृदय के सर का शीतल वारि और कम होता जाता है।

बुद्धि तृष्णा की दासी हुई, मृत्यु का सेवक है विज्ञान,
चेतता तब भी नहीं मनुष्य, विश्व का क्या होगा भगवान।

[बाँसुरी का आशाव्यंजक संगीत]

पहला स्वर

तेज करो मत धार चंचु की, विष की बात न बोलो,
बाज, पंख से बँधी कटीली तलवारों को खोलो।

बरसाओ मत आग नयन से, शीतलता छाने दो,
ऊपर उड़ते हुए हंस को भू पर अब आने दो।

बीत चली गर्मी, पावस के आने की वारी है,
शान्तिदूत के स्वागत की घर-घर में तैयारी है।

[दूरागत समवेत गान]

दाह भू का हरो, पन्थ शीतल करो,
विश्व का सर भरो वारि की धार से;
ओस का जाल दो, चाँदनी डाल दो,
आदमी का हृदय सींच दो प्यार से।
शान्ति के हंस को, धर्म-अवतंस को,
अंक में लो, इसे प्रेम दो, मान दो;
हो जहाँ भी जहर, क्षीर की दो लहर,
बाण की नोंक पर फूल को तान दो।

दूसरा स्वर

[विद्रूप हँसी के साथ]

शान्ति ?
कहीं दूध के बिना तरसती मानव की संतान,
कहीं क्षीर के मटके खाली करते जाते श्वान।
कहीं वसन रेशम के सस्ते, महँगी कहीं लँगोटी,
कोई घी से नहा रहा, मिलती न किसी को रोटी।
इस समाज की एक दवा है आग और उत्क्रान्ति।
शान्ति !!

तीसरा स्वर

हिंसा नहीं, हिंसा नहीं।
नर में छिपी जो आग है, उसको न उत्तेजित करो,
जितना बने, संसार में माधुर्य, शीतलता भरो।

है क्या उचित नर को चलाना लाठियों के जोर से?
सकता कभी हो व्यक्ति का मन तृप्त नीति कठोर से?

बदला जगत् का ध्येय, साधन भी बदलना चाहिए,
तजकर घृणा, नर को प्रणय-पथ पर निकलना चाहिए।

बदलो मनुज को यों कि वह अपनी कमी पहचान ले,
तुम चाहते जो कुछ, मनुज उसको हृदय से मान ले।

जंजीर कसते हो जहाँ, वह आदमी की देह है,
बसता जहाँ मन, वह बहुत भीतर हृदय का गेह है।

मन तक पहुँचने को नहीं यह लौहमय रथ चाहिए,
इसके लिए तो गंध-स्यन्दन, फूल का पथ चाहिए।

करके दलन नर में जगाओ बन्धु, प्रतिहिंसा नहीं।
हिंसा नहीं, हिंसा नहीं।

चौथा स्वर

वृथा है यह पावन उपदेश।
हिंसा नर की मलिन वृत्ति है, किसको यह अविदित है?
नर के विमल शील की महिमा किस पर नहीं विदित है?

किन्तु, शिला को भेद नहीं पाती जब प्रेम-पुकार,
खुलता नहीं द्वार अन्तर का, विनय मानती हार।

तब मनुष्य की भुजा पराजय वाणी की हरती है;
तोड़ लौह-अर्गला द्वार का उन्मोचन करती है।

हिंसा है तब तक जब तक नर में पशुत्व है शेष।
व्यर्थ है यह पावन उपदेश।

कई स्वर

[समवेत गान]

भूख लगी है, रोटी दो।
मन में नहीं प्रदीप हमारे, तन में दाहक आग,
हम न जानते हिंसा-प्रतिहिंसा का यह खटराग।

जिनका उदर पूर्ण हो वे सोचें चाहे जो बात,
हम भूखों को सिर्फ चाहिए एक वसन, दो भात।
भूख लगी है, रोटी दो।

पाँचवाँ स्वर

[सोचने की मुद्रा में]

"भूख लगी है, रोटी दो।"
कितनी कड़ी, मगर, कितनी सच्ची है यह आवाज!
रोक सकेगा इसे कहाँ तक कोई शाही ताज!
"भूख लगी है, रोटी दो।"
सच है, अगर लोग भूखे हैं, भूख मिटानी ही होगी,
चाहे मिले जहाँ लेकिन, रोटी तो लानी ही होगी।
"भूख लगी है, रोटी दो।"
सच तो है, रोटियाँ नहीं तो क्या ये कविता खायेंगे?
थाली में धरकर विराट कवियों के गीत चबायेंगे?

छठाँ स्वर

इन घेरों को दूर करो।
मन के चारों ओर लकीरें, नहीं सोचने भी दोगे?
रोटी देकर क्या चिन्तन का भी अधिकार छीन लोगे?

अजब मुसीबत ! पहले तो रोटी को जन बिललाता है,
और रोटियाँ मिलीं अगर तो मन कैदी हो जाता है।

मन के ऊपर पड़े शिलामय प्राचीरों को चूर करो।
इन घेरों को दूर करो।

सातवाँ स्वर

चिन्तक, यह तेरा भ्रम है।
नहीं खींचते हम रेखाएँ, केवल राह बताते हैं,
बहके हुए विचारों को हम ठीक विन्दु पर लाते हैं।

चिन्ता सच्ची वही जो कि जनजीवन में बल भरती है,
नर की बिखरी हुई शक्ति को भू पर केन्द्रित करती है।

मिलती कौन वस्तु जनमन को इधर-उधर भटकाने से ?
पेट भरेगा कभी मनुज का गीत स्वप्न का गाने से ?

इस असंख्य भूखी जनता से तेरी कला बड़ी है क्या ?
जिस विलास का तू प्रेमी है, उसकी आज घड़ी है क्या ?

पाप-पुण्य की कड़ी, कल्पना नरक-स्वर्ग की टूट चुकी,
देख, मनुज के नये भाग्य की किरण गगन पर फूट चुकी।

इस मनुष्य का धर्म स्वेद है, ईश्वर अविश्रान्त श्रम है,
समझ नहीं पाता इसको तो चिन्तक, यह तेरा भ्रम है।

आठवाँ स्वर

समझता हूँ, लेकिन क्या करूँ ?
नीचे खिलते फूल और ऊपर जगमग तारे हैं,
मिट्टी और गगन मुझको तो दोनों ही प्यारे हैं।

मृत्ति न हो तो मूल पुष्प का किसमें करे निवास?
खिले कहाँ पर सुमन, नहीं ऊपर हो यदि आकाश?

किन्तु, गरज उठतीं विपत्तियाँ जिस दिन जनजीवन की,
कौन जानता व्यथा हाय, उस दिन चिन्तक के मन की?

आँख फेर ले इस विपत्ति से, ऐसा कौन कठोर?
तन से बँधे कला, पर, कैसे मन से नाता तोड़?

गगन भूमि में कैसे केवल किसी एक को वरूँ?
समझता हूँ, लेकिन क्या करूँ?

कई स्वर

[समवेत]

रोटी और अभय भी दो।
तन को दो आहार अन्न का, मन को चिन्तन का अधिकार,
तन-मन दोनों बढ़ें अगर तो चमक उठे, सचमुच, संसार।
बाधामुक्त करो मानस को, शंकारहित हृदय भी दो।
रोटी और अभय भी दो।

[करुण वाद्य-संगीत]

कवि

विचारों की आँधी विकराल।
उठा रही मानस-समुद्र में चटुल ऊर्मि उत्ताल।
हिला रही लाकर झकोर में विश्व-विटप की डाल।
टकरा रहे सपक्ष क्रुद्ध आदर्शों से आदर्श,
चढ़ता ज्यों-ज्यों समय, और बढ़ता जाता संघर्ष।

उड़ती हैं प्रत्येक दिशा में चिनगारियाँ कराल।
विचारों की आँधी विकराल।

[भीषण वाद्य-संगीत। धमाके से युद्ध के देवता के कूदने की आवाज और उसका अट्टहास।]

युद्ध-देवता

झन झन झन झन झन झनन झनन
झन झन झन झन झन झनन झनन।

है बड़ा जोर आदर्शों का, हलचल है खूब विचारों की,
चल रही रोज ही खोज शान्ति के नये-नये आधारों की।
पर, देखें, शान्ति महीतल पर किस ओर क्षितिज से आती है,
मेरी कराल दंष्ट्राओं से पृथ्वी कैसे बच पाती है?
मेरी फुंकारों की ज्वाला, देखें, करता है कौन शमन!
झन झन झन झन झन झनन झनन।

मैं संग्रामों का देव मही को मरघट करने आया हूँ,
नर के मन को विद्वेष, घृणा, तृष्णा से भरने आया हूँ।
कहता हूँ, संचय करो, लूट भी, चोरी भी अर्जन ही है,
जैसे भी पाओ विभव, आत्मसुख का समस्त सर्जन ही है।
अपने विकास के लिए किये जाओ समस्त भू का शोषण।
झन झन झन झन झन झनन झनन।

मेरी शिक्षा का सार, एक अपनेपन का सत्कार करो,
जो धर्म, जाति, कुल हो अपना, तुम केवल उससे प्यार करो।
सबसे अच्छा विश्वास जिसे तुमने पुरखों से पाया है,
सबसे अच्छा है धर्म वही जिसको तुमने अपनाया है।
खुलकर विधर्मियों पर करते जाओ हालाहल का वर्षण।
झन झन झन झन झन झनन झनन।

तुम जिसे मानते आये हो, उद्देश सभी से अच्छा है,
जन्मे हो जहाँ, जगत् भर में वह देश सभी से अच्छा है।
तुम सर्वश्रेष्ठ हो जाति, सदा यह हठ पवित्र करते जाओ,
इस अहंकार के पालन में मारते और मरते जाओ।
जो नहीं मानता हो तुमको, ठानो उस अभिमानी से रण।
झन झन झन झन झन झनन झनन।

मेरा संकल्प, महावसुधा को एक नहीं होने दूँगा,
मैं विश्वदेवता का भू पर अभिषेक नहीं होने दूँगा।
रेखाएँ खींच महीतल के सौ खंड युक्ति से काटे हैं,
देशों में अलग-अलग झण्डे मैंने न व्यर्थ ही बाँटे हैं।
इन झंडों के नीचे पृथ्वी भोगती रहे अंगच्छेदन।
झन झन झन झन झन झनन झनन।

है कहाँ विश्व-मानव? जो हैं केवल स्वदेश के प्राणी हैं,
मानवता नहीं, मातृभू की महिमा के सब अभिमानी हैं।
जब तक ये झंडे फहर रहे, अभिमान नहीं यह सोता है,
देखें तो, तब तक विश्व-मनुज का जन्म कहाँ से होता है?
मैं राष्ट्रवाद का सखा, कौन तोड़ेगा मेरा सम्मोहन?
झन झन झन झन झन झनन झनन।

[अट्टहास करता है। पृथ्वी के कराहने की आवाज।]

कवि

यह प्रदाह! यह रोर भयानक! यह वेदना अशेष!
तू भी होगा सखा युद्ध का मेरे प्यारे देश?

तृष्णा की पंकिल तरंग में तू भी खो जायेगा?
या तेरा शुभ कलश कमल-सा ऊपर लहरायेगा?

पड़कर इस भीषण झकोर में धीरज पाल सकेगा ?
वसुधा को विष के विवर्त से वीर ! निकाल सकेगा ?

या तू भी चलते-चलते, आखिर, होकर लाचार ?
वही राह पकड़ेगा, जिस पर विनश रहा संसार ?

शंकाएँ हैं बहुत, मगर, तब भी यह बात सही है,
दुनिया तेरी ओर किसी आशा से ताक रही है।

चन्दन के रथ पर चढ़ कर आनेवाला यह देश,
सब कहते हैं, लाया है कोई नवीन संदेश।

मूक न रह, टुक बोल, हिमालय !
लोचन के पट खोल, हिमालय !
अबकी बार जगत पायेगा
मंत्र कौन अनमोल हिमालय !

जिस युग का विज्ञान वह्नि हो, विद्या धन की दासी हो,
जिसका शिल्प मृत्यु-पूजक, सभ्यता रुधिर की प्यासी हो।

उस युग का कल्याण कहाँ है ?
दुख से उसका त्राण कहाँ है ?
मूँदे जिसने नयन धर्म से
फिर उसका उत्थान कहाँ है ?

भागी जाती ज्योति, ज्ञान करता किसकी रखवाली है ?
सब कुछ पाकर भी मनुष्य क्यों इतना खाली-खाली है ?

यह रहस्य बतलायेगा क्या ?
शंका-तिमिर हटायेगा क्या ?
उलट गया जो दीप उसे
सीधा करके दिखलायेगा क्या ?

योगेश्वर! क्यों मची हुई इतनी अशान्ति भारी है?
ले जाने को कहाँ जगत् को युग की तैयारी है?

[पहाड़ के फटने की आवाज]

हिमालय

(१)

लिये अन्तर में व्यथा अथाह।
हम भी तो दिन-रात यही सोचा करते हैं मौन,
पृथ्वी पर अवतरित हुआ आलोक नया यह कौन?
पाकर जिसे बढ़ी जाती है और अधिक उद्भ्रान्ति,
अन्धकार के साथ दूर भागी जाती है शान्ति।
चढ़ता ज्यों-ज्यों समय और बढ़ता है हाहाकार।
बड़ी विपद में आन फँसा है, सचमुच ही, संसार।

(२)

दिशाओं में किरणों की धूम, धौंकता किरणों से आकाश,
गगन के रंध्र-रंध्र में बसा नये युग का प्रज्वलित प्रकाश।

जहाँ थी पहले थोड़ी छाँह, कुंज वे फूलों के भी गये,
कहीं पर भी द्वाभा का लेश नहीं छोड़ेंगे पंडित नये।

रहस्यों में करते विश्लेष चली दुनिया ऐसे मग से,
महीतल से रूठी गोधूलि, चाँदनी विदा हुई जग से।

धूप का ऐसा तना वितान, अँधेरा कठिनाई में फँसा,
भागने को न मिली जब राह, आदमी के भीतर जा बसा।

सघन जब हो उठता है तिमिर, दृष्टि कुछ देख न पाती है,
ज्योति भी होकर सीमातीत अन्धता ही उपजाती है।

एक काली होती अन्धता, ज्योति से जो पलती है दूर,
एक उजली होती जो सदा ज्ञान से ही रहती है चूर।

आज जो लगी हुई है आग, ज्ञान के घर से आयी है,
जगत् की आँखों पर रौशनी, अन्धता बनकर छायी है।

(३)

कभी सोचा भी है, तुम क्या हो?
बल के अहंकार में भूले, भरे नित्य रहते हो,
सुनता हूँ, अपने को अपना ईश्वर भी कहते हो।

करते हो बन दास यंत्र-चक्रों की नित्य गुलामी,
किन्तु, प्रकृति का कहते हो अपने को जेता-स्वामी।

नगरों को निर्मल रखने का ऐसा ढंग निकाला,
नदियों को कलुषित, समुद्र तक को दूषित कर डाला।

जीवन-जन्तु को नशा, स्वच्छ कर डाला विपिन गहन को,
सब निचोड़ निस्तैल किये जा रहे मही के तन को।

लक्ष-लक्ष वर्षों के संचित खनिज लूट क्रम-क्रम से,
किये जा रहे रिक्त हृदय वसुधा का तुम निर्मम-से।

धरती का अन्तर खँगालना ही अब बड़ी प्रगति है,
हरियालियाँ जला कर ही अब करता जग उन्नति है।

यह संतुलन-विनाश प्रकृति का वृथा नहीं जायेगा,
आज दुखी है मनुज और कल निश्चय पछतायेगा।

करते नहीं प्रहार प्रकृति पर, गढ़ते क्लेश नया हो।
कभी सोचा भी है, तुम क्या हो?

युगों में अद्भुत रूप तुम्हारा!
भू पर तुम-सा विज्ञ मूढ़ पहले न कभी आया था,
वसुधा पर अन्धा प्रकाश यह कभी नहीं छाया था।

नहीं वंशधर तुम अतीत के, नूतन योनि अपर हो,
जो न कभी पहले जन्मा था, वह बौद्धिक बर्बर हो।

ज्ञान तुम्हारा अन्धकार है, किरण तुम्हारी तम है,
धर्म तुम्हारा ध्वंस, पूज्य देवता तुम्हारा यम है।

छाने तुमने अमित लोक, पर, मन को कभी न छाना,
अगणित आविष्कार किये, पर, अपना मर्म न जाना।

दृश्य-दृश्य रटते-रटते कुछ ऐसे दृश्य हुए तुम,
आत्मदेवता के मन्दिर में भी अस्पृश्य हुए तुम।

छूट गयी भाषा अदृश्य की अकथ कथा कहने की,
बकते-बकते भूल गये तुम महिमा चुप रहने की।

सतत-चारियो! कभी-कभी रुक जाने में भी सुख है,
अहंकार को भूल कहीं झुक जाने में भी सुख है।

देख लिया, नीचे पृथ्वी, ऊपर अनन्त अम्बर है,
अब तो मानचित्र में खोजो, कहाँ तुम्हारा घर है।

जान चुके, कर दौड़-धूप कुछ और न जान सकोगे,
अब आगे का भेद ठहर कर ही पहचान सकोगे।

बिना रुके मिलता न शान्ति का शीतल कूल-किनारा।
युगों में अद्भुत रूप तुम्हारा।

(५)

कहें/ भी तो उससे क्या बात?
अभी भूख से ही जो प्राणी तड़प रहा दिन-रात,
रोटी की चिन्ता में कटते जिसके सायं-प्रात।

दहक रहे भीषण क्षुधाग्नि से जिसके प्राण अभागे,
निर्दय है, दर्शन परोसता है जो उसके आगे।

रोटी दो, मत उसे गीत दो, जिसको भूख लगी है,
भूखों में दर्शन उभारना छल है, दगा, ठगी है।

रोटी और वसन, ये जीवन के सोपान प्रथम हैं,
नवयुग के चिन्तको! तुम्हें इसमें भी कोई भ्रम है?

व्यष्टि-समष्टि-विवाद व्यर्थ है, झगड़ा मनमाना है,
है समष्टि ही हार, व्यक्ति तो मोती का दाना है।
बूँदें जब गिरतीं समुद्र में, व्यथा कौन पाती हैं?
सागर से मिलकर अगाध सागर ही बन जाती हैं।

आते सारे भाव व्यक्तियों के समाज से छन कर,
पुनः लौट जाते समष्टि में ही वे गायन बन कर।

जैसे मेघ धरा से उठ कर अम्बर पर घिरता है,
और वारि बन फिर वसुधा के ही तन पर गिरता है।

जहाँ व्यष्टि स्वाधीन अधिक है, नाश वहाँ छायेगा,
अनुशासन के बिना व्यक्ति कुछ प्राप्त न कर पायेगा।

झुक समष्टि के सम्मुख जिस दिन व्यष्टि दान देती है,
तभी व्यक्ति के भीतर करुणा-विनय जन्म लेती है।

भरो विश्व-सर में करुणा के कमल सहज अवदात।
कहें भी तो उससे क्या बात?

(६)

वृथा मत लो भारत का नाम।
मानचित्र में जो मिलता है, नहीं देश भारत है,
भू पर नहीं, मनों में ही, बस, कहीं शेष भारत है।

भारत एक स्वप्न, भू को ऊपर ले जानेवाला,
भारत एक विचार, स्वर्ग को भू पर लानेवाला।

भारत एक भाव, जिसको पाकर मनुष्य जगता है,
भारत एक जलज, जिस पर जल का न दाग लगता है।

भारत है संज्ञा विराग की, उज्ज्वल आत्म-उदय की,
भारत है आभा मनुष्य की सबसे बड़ी विजय की।

भारत है भावना दाह जग-जीवन का हरने की,
भारत है कल्पना मनुज को राग-मुक्त करने की।

जहाँ कहीं एकता अखण्डित, जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश-देश में खड़ा वहाँ भारत जीवित, भास्वर है।

भारत वहाँ, जहाँ जीवनसाधना नहीं है भ्रम में,
धाराओं को समाधान है मिला हुआ संगम में।

जहाँ त्याग माधुर्यपूर्ण हो, जहाँ भोग निष्काम,
समरस हो कामना, वहीं भारत को करो प्रणाम।
वृथा मत लो भारत का नाम।

(७)

साधना इस व्रत की भारी।
पग-पग पर हिंसा की ज्वाला, चारों ओर गरल है।
मन को बाँध शान्ति का पालन करना नहीं सरल है।

आरती की वर्त्ति बलती ही नहीं है।
कौन है दोषी? हमारा पाप क्या है?

फूँकता हूँ बाँसुरी आभा जगाने के लिए,
भग्न मन्दिर को स्वरों से जगमगाने के लिए;
पर, न जानें, प्राण में क्या चीज जलती है,
रागिनी मुँह से धुआँ बन कर निकलती है।

प्रेम से मुझ पर पिता ने हाथ फेरा;
और बोले, पीर यह पहचानता हूँ।
तुम जहाँ बैठे हुए अकुला रहे हो,
उस मरुस्थल के जहर को जानता हूँ।

पर, धरो धीरज, निराशा फट रही है।
मूर्त्तियों में प्राण भरते जा रहे हैं।
अन्त है खग्रास का, तम से निकल कर,
पिंड ज्योतिर्मय उभरते आ रहे हैं।

अंकुरित होने लगे हैं स्वप्न मेरे,
सिक्त सरसाने लगी हैं क्यारियाँ।
पपड़ियों को तोड़ लहराने लगी हैं
शस्य की नन्हीं नुकीली धारियाँ।

मृत्ति को तोड़ो, मही में बीज डालो,
भाग्य का आषाढ़ है, बरसात है यह।
अभ्युदय के मेघ छाये जा रहे हैं।
तुम समझते हो कि काली रात है यह?

स्वप्न को आकार देने की घड़ी है,
चिन्तना को छोड़ कर कुछ श्रम करो।
बुद्धि के खर व्यूह से बाहर निकल कर,
खेत में उद्यम करो, उद्यम करो।

ज्ञान की आराधना दिन का शयन है,
क्लेश से निस्तार केवल कर्म से है।
दर्शनों से सिद्धियाँ किसको मिली हैं?
जीव का उद्धार केवल धर्म से है।

लिख सको तो उँगलियों से खोद कर,
एक छोटा काव्य भूतल पर लिखो।
बुद्धि के बल पर जिसे पहले लिखा था,
आज उसको बाहु के बल पर लिखो।

पत्तियाँ इस काव्य की लहरायँगी,
विकलताएँ प्राण की मिट जायँगी।

एक द्रुम जिसके लगाये लग सके,
काव्य के जग का सहज नायक वही है।
प्रेरणा जिसके जगाये जग सके,
देश का सबसे बड़ा गायक वही है।

भग्न मन्दिर बन रहा है, स्वेद का जल दो,
रश्मियाँ अपनी निचोड़ो, ज्योति उज्ज्वल दो।